चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला १०

स्कन्दपुराणान्तर्गतं

नेपालमाहात्म्यम्

सपरिशिष्ट'पार्वती'हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

पण्डित श्री केदारनाथ शर्मा

प्राक्कथनम्

पण्डितराजः श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविडः

संसारमें नेपाल ही बस, एक ऐसा देश है;
शुचि भव्य कृतियोंसे मनोहर सौम्य जिसका वेश है।
विप्ररक्षा, धेनुरक्षाकी यहाँ सुन्दर प्रथा,
उद्गान की जाती सुयशकी देशदेशोंमें कथा॥



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला
१०

स्कन्दपुराणान्तर्गतं

नेपालमाहात्म्यम्

सपरिशिष्ट-'पार्वती' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः
पण्डित श्री केदारनाथ शर्मा

प्राक्कथन-प्रदाता
शास्त्ररत्नाकर-पद्मभूषण-
पण्डितराज श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविडः



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी
१९७६

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी.

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३३

मूल्य : १३-००

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १३८, वाराणसी-२२१००१
(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन । ६३१४५

CHAUKHAMBA AMARABHARATI GRANTHAMALA
10

NEPĀLAMĀHĀTMYAM

(OF SKANDAPURĀṆAM)

WITH

'Parvati' Hindi Commentary and Index

BY

Pt. SRĪ KEDĀRANĀTHA SHARMĀ

FOREWORD BY

Shastraratnakara-Padmabhushana

PANDITARĀJA RĀJESHWARA SHĀSTRĪ DRĀVIDA

Chaukhamba Amarabharati Prakashan

Varanasi–221001

1976

Oriental Publishers & Book - Sellers

Post Box No. 138

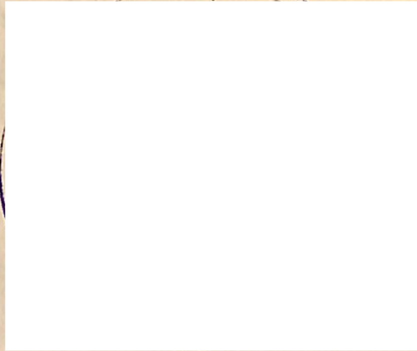
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001

(INDIA)

First Edition

1976

Price Rs. 13-00



Also can be had of

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 8, Varanasi-221001 (India)

Phone : 63145

——धमज्ञानमनीषी——



गुर्जरकुलभूषण नागरकुलावतंस सम्पादकमार्त्तण्ड
पं० श्रीउदयकृष्णजी नागर एम० ए०
के करकमलों में पत्र पुष्पतुल्य यह
'नेपालमाहात्म्य' का प्रथम
अनुवाद सपरिशिष्ट समर्पित

समर्पणकर्त्ता—'पार्वती' व्याख्याकार

प्राक्कथनम्

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

श्रीमता सुगृहीतनामधेयेन केदारनाथशर्मणा हिन्दीभाषाटीकासुविस्तृत-परिशिष्टाद्युपबृंहितं स्कन्दपुराणान्तर्गतनेपालमाहात्म्यपुस्तकं दुर्लभं महता प्रयत्नेन प्रकाशितं दृष्ट्वा वयं प्रसीदामः ।

अत्र तु-अन्यस्थलमाहात्म्यवत् स्थलमाहात्म्यलक्षणं दृष्ट्वा कौतुकं तु लभ्यत एव, परं तु गुसाईस्थानतीर्थस्थितानां कुण्डमध्ये उपलभ्यमानानां लिङ्गानां बाणलिङ्गत्वं तदपेक्षयाऽपि कौतुकम् । तेषां यज्ञोपवीतचिह्नाङ्कितत्वं सर्वैरास्तिकैः प्रत्यक्षमुपलभ्यमानं सर्वमपीदं पुनर्नानापुराणवचनैः समुप-बृंहितं सद्यदेतेन लेखकेन प्रकाशितं तदास्तिकजनानां कृतेऽतिदुर्लभं वस्तु एतद्ग्रन्थसंग्रहीतृभिः करतलामलकवत्संग्रहीतुं शक्यम् । अतो महता परितोषेण लेखकमहोदयं प्रशंसामि ।

पुस्तकं मयाऽप्यधुना अत एव संगृहीतं, साङ्गवेदविद्यालयेऽपि संग्राहितं, सर्वेषामास्तिकानां संग्रहणीयं चेति सविनयं निवेदयति ।

के० २०/१५४, राजमन्दिरम्
वाराणसी
वि० सं० २०३३

श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविडः
(शास्त्ररत्नाकर, पद्मभूषण, पण्डितराज)

आत्मनिवेदनम्

मात्रे नमः । पित्रे नमः । भ्रात्रे नमः ।

सर्वप्रथम मैं काशीके प्रतिष्ठित श्रेष्ठ रईस, समरीपावरवाले प्रथम श्रेणीके स्पेशल मजिस्ट्रेट स्वर्गीय राय कृष्णजी महोदयको तथा उनके पूज्य तीन बड़े भाइयों को [राय श्याम कृष्णजी, राय वटै कृष्णजी, राय मधुसूदनजी] हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ जिन्होंने मेरी छात्रावस्थामें मुझे संस्कृत पढ़नेके लिए सहायता दी जिससे मैं लेखक तथा शिक्षक होकर एवं पेंशन ग्रहणकर जीवन नौका चलानेमें समर्थ हुआ ।

श्यामकृष्णं वटैकृष्णं, मधुसूदनधार्मिकम् ।
ज्युपेतं रायकृष्णं च, वारं वारं स्मराम्यहम् ॥

ततः नेपालके तथा भारतके प्रसिद्ध विद्वान्, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयके भूतपूर्व प्राध्यापक तथा नेपाल विश्वविद्यालयके अवकाशप्राप्त प्राध्यापक पूज्य पण्डित शेषराजजी रेग्मी, धर्मशास्त्राचार्य-काव्यतीर्थ-साहित्यसुधाकरको, उनके बड़े भाई स्व० श्रीकृष्णचन्द्र रेग्मीको एवं उनकी धर्मशीला पत्नी (श्रीमती शेषराजरेग्मी) को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने नित्य प्राणप्रतिष्ठित देव* [१. गोमतीचक्र । २. शालग्राम । ३. बाणलिङ्ग । ४. नर्मदेश्वर । ५. गोवर्धनेश (गिरिराजजी)] विषयक ज्ञानमें मुझे कुछ सहायता दी । श्रीकृष्णचन्द्र रेग्मीने मुझे [जब मैं सन् १९४७ में काठमाण्डू (नेपाल) गया था तथा उन्हींके यहाँ ठहरा था । तब मेरे प्रबल आग्रह पर] बाणलिङ्ग तथा शालग्राम दिलाये थे । वे दोनों देव आज भी मेरे गृहमें पूजनमें हैं । पूजनीया श्रीमती शेषराजजीने मुझे बाणलिङ्ग विषयक स्थानके ज्ञान करानेमें पूरी सहायता दी । क्योंकि वे मुझसे कई वर्ष पूर्व गुसाइँ थान जा चुकी थीं । [यद्यपि इसके पूर्व मैं बाल्यकालमें अपने पिताजीसे यह श्रवण कर चुका था कि, नेपालके शालग्राम तथा बाणलिङ्ग भी अर्थात् बाणलिङ्ग अन्य पवित्र नदियोंके भी, किन्तु, शालग्राम केवल नेपालकी गण्डकीके ही, अन्यत्रके कदापि नहीं, पूज्य हैं । उस समय बाल्यकालमें मैं यह नहीं जान पाया कि, नेपाल देशके किस स्थानपर बाणलिङ्ग पाये जाते हैं तथा गण्डकी नदी नेपालके किस जिलेमें है ! जहांपर शालग्राम उपलब्ध होते हैं ।] जब सन् १९२४ से मैं संस्कृत पढ़ने लगा, तबसे १९४७ तक यदाकदा चिन्तित रहा करता था कि, जनकपुरकी गण्डकी नदीमें शालग्राम यदाकदा उपलब्ध हैं—अन्य नदियोंके शालग्राम अग्राह्य हैं—तब

* टिप्पणी—[हिंगलाज मण्डलमें निश्चित परिधिमें स्थित पाषाण भी नित्यप्राणप्रतिष्ठित देवी (शक्ति) स्वरूप माने जाते हैं]

शालग्रामवाली गण्डकी क्या लुप्त हो गयी ? कहाँ है ? अन्ततः सन् १९५० ई० में जब मैं नगरपालिका इण्टर कालेज, मुगलसरायमें शिक्षक हो गया और मेरी आर्थिक स्थिति कुछ सुधर सी गयी। तबसे रु० १००-०० प्रतिवर्ष व्यय करता और गर्मीके अवकाशमें शालग्रामादिका पता लगाता रहता। यह क्रम १९७० तक चला। तबतक मैंने रु० २०००-०० व्यय किये एवं शालग्राम तथा बाणलिङ्ग विषयक पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। इस जानकारीके लिए तथा लक्षण-स्तवन-स्वरूप-रंग-माप-दण्ड प्रभृति एवं उद्गमस्थलादिके लिए मुझे भारत प्रसिद्ध तीर्थस्थलोंमें भ्रमण करना पड़ा—साधुओं एवं प्रतिष्ठित देवपूजकोंसे भक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना पड़ा। इस विषयमें यह कहना अनुचित न होगा कि, मैंने, शब्दकल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् प्रभृति श्रेष्ठ कोशोंको भी देखा परन्तु, किसीने न गण्डकीके सभी नाम ही दिये न यही बतलाया कि, कहाँपर स्थित गण्डकी नदीमें शालग्राम होते हैं और उसका आजकल क्या नाम है अन्ततोगत्वा मुझे १८ पुराण, काश्यप—गर्गादि कई संहिताएँ एवं मेरुतन्त्र, वीरमित्रोदय प्रभृति ग्रन्थ इस विषयमें देखने पड़े। उपर्युक्त ग्रन्थोंसे मुझे यह ज्ञात हो गया कि, शालग्रामकी उत्पन्नकर्त्री नदी-गण्डकी नदी—नेपालमें ही है और कुछ लोग उसे कृष्णगण्डकी तथा अन्य जन उसे शुक्ल गण्डकी कहते हैं। [यद्यपि शालग्रामोत्पत्ति विषयक ज्ञान मुझे कृष्णचन्द्र रेग्मीजी करा चुके थे परन्तु, भारतके अधिकांशजन जनकपुरकी गण्डकीको ही शालग्रामोत्पन्नकर्त्री नदी बतलाते थे। अत: मैंने यह सोचा कि कदाचित् स्व० रेग्मीजीने नेपालका पक्ष लेकर ऐसा कहा हो। पिताजीने इस विषयमें जो वृत्त बतलाया था उस समय मैं बालक था—सम्भव है, इसमें मेरी भूल रही हो।] भगवान् की दयासे शालग्रामोत्पत्तिस्थान, गण्डकी नदियों का परिज्ञान सन् १९५५ तक पूर्ण हो गया। केवल रह गया था—बाणलिङ्ग विषयक ज्ञान-लक्षणादिका ज्ञान जो मुझे १९७० में प्राप्त हुआ। जिसे इस पुस्तक—"नेपाल-माहात्म्य" के परिशिष्ट भागमें पढ़ें।

मेरी सभी कोशकारोंसे प्रार्थना है कि, वे अपने-अपने कोशमें, शालग्राम, बाण-लिङ्ग विषयक ज्ञान तथा गण्डकीके सभी नाम, स्थान आदि विशदरूपसे परिशिष्टमें अवश्य नेपाल जाकर देखकर प्रकाशित करें। क्या ही अच्छा हो हर कोशकार अपने कोशमें परिशिष्टमें "नेपालमाहात्म्यके" सभी देवताओंके नाम आदि लिख दें।

अन्तमें मैं विश्वविश्रुत प्रकाशक—"चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन" वाराणसी के सञ्चालकोंको अनेकशः साधुवाद देता हूँ। जिन्होंने इस महर्घताके समयमें भी इस अप्राप्य दुर्लभ पुस्तक—"नेपालमाहात्म्य" को हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित कर आपके समक्ष उपस्थित किया।

आशा है, हिन्दी विज्ञजन इस कार्यकी प्रशंसा इसलिये अवश्य करेंगे कि, इसमें रोचक, मूल कथाओंके साथ देवभक्ति ज्ञान कराया गया है। इस नेपालमाहात्म्यमें प्राचीन-

अर्वाचीन उपलब्धियोंका समन्वय करके बाणलिङ्गका पूर्ण ज्ञान कराया गया है। इस विषयमें अधिक ज्ञान मेरे द्वारा संकलित पुस्तक "नित्यप्राणप्रतिष्ठितदेवता" से करें जिसमें पूरा-पूरा शास्त्रोक्त विवेचन भी है।

इस नेपालमाहात्म्यमें ऐसी-ऐसी रोचक कथाएँ मधुरतासे परिपूर्ण वर्णित हैं जिनके पठनसे मानव अपनेको कृतकृत्य समझने लगता है। साथ ही इसके पहले, ऐसी ललितकथाएँ न श्रवण करनेसे, मनुष्यका ज्ञान भी बढ़ जाता है। किं बहुना, अनीश्वरवादी भी ईश्वरवादी हो जाता है। सांसारिक शिक्षाके साथ ही चित्तमुग्धताकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। आजतक नेपालतीर्थं विषयक ज्ञानगरिमा बढ़ानेवाली एक भी पुस्तक हिन्दीमें इस प्रकारकी नहीं थी—वह कमी भी इस अनुवादसे दूर हो गयी।

श्री जानकी विवाह पञ्चमी — कृपेच्छु—

मार्ग शुक्ल ५ — अनुवादक।

वि. सं. २०३३

सम्मतियाँ

डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र

आचार्य एवं अध्यक्ष,
आधुनिक भाषाएँ एवं भाषाविज्ञान विभाग :
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्री केदारनाथ शर्मा ने स्कन्दपुराणान्तर्गत हिमवत्खण्ड के नेपाल माहात्म्य का हिन्दी अनुवाद सहित नवीन संस्करण प्रस्तुत किया है, इसके लिए वे संस्कृतविद्याप्रेमियों के साधुवाद के पात्र हैं। यह ग्रन्थ प्रभाकरी कम्पनी, बनारस द्वारा १९०१ में श्री मुरलीधर झा द्वारा सम्पादित होकर मूलमात्र छपा था। हिन्दी अनुवाद पहली बार हो रहा है, यह परम सन्तोषावह है, विशेष रूप से इसलिए कि नेपाल और भारत की सांस्कृतिक दृष्टि से अखण्डता का परिज्ञान कराने की आज जो तीव्र अपेक्षा है, उसकी वास्तविक पूर्ति इस नेपालमाहात्म्य से होगी इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। विद्वान् अध्येता ने गहरी सूक्ष्मेक्षिता से बाणलिंग के उद्भवस्थानों का विवेचन करके इस ग्रन्थ का, पौराणिक सम्पदा के उन्मीलन की दृष्टि से, उपयोग और बढ़ा दिया है। अनुवाद मूलानुसारी है और सहज भाषा में है।

दि. १७-११-७६ विद्यानिवास मिश्र

डॉ॰ भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

निदेशक, अनुसंधान संस्थान :
संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्री केदारनाथ शर्मा ने स्कन्दपुराणान्तर्गत 'नेपालमाहात्म्यम्' का प्रस्तुत प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद कर विद्वानों तथा जिज्ञासुओं का उपकार किया है। राष्ट्रभाषा में उक्त माहात्म्य का यह प्रथम अनुवाद है। अनुवादक का यह प्रयत्न सर्वथा श्लाघ्य है।

वाराणसी भागीरथप्रसाद त्रिपाठी
वि० सं० २०३३

श्री पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज

एम० ए०; काव्यतीर्थ, विद्यावागीश,

अव० प्रा० प्राध्यापक : साहित्य तथा इतिहास-पुराण विभाग :

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्कन्दपुराणान्तर्गत हिमवत्खण्ड में वर्णित नेपालमाहात्म्य मूलमात्र पहिले छपा था उसी का दूसरा संस्करण श्री पं० केदारनाथ शास्त्री साहित्यरत्न ने हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया है। किसी भी ग्रन्थ का दूसरी भाषा में अनुवाद तभी उत्तम कहा जा सकता है जब कि मूल के भाव को यथावत् सुरक्षित रखता हुआ अनुवादक ग्रन्थ के विषयों से पाठक को पूर्णतया अवगत करा सके। मैं समझता हूँ कि इस दृष्टि से प्रस्तुत अनुवादक अपने कार्य मे अत्यन्त सफल रहे हैं, अनुवाद की भाषा सरल एवं सरस है। मूल में आये हुए विषयों को स्पष्ट करने के अतिरिक्त भी पाठकों के लिये अत्यन्त उपयुक्त जानकारी परिशिष्ट रूप में दी गई है। जिससे श्री शास्त्री की प्रतिभा, लगन एवं परिश्रम का सहज ही अनुमान हो जाता है।

मैं इनके दीर्घायुष्य की कामना करता हुआ आशा करता हूँ कि वे भविष्य में भी इस प्रकार के ग्रन्थों से धार्मिक जगत् को लाभान्वित करेंगे और श्रद्धालु पाठक इस ग्रंथ के अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार द्वारा अनुवादक का उत्साह संवर्धन करेंगे।

१७, गोला गली,
वाराणसी

विश्वनाथशास्त्री भारद्वाज

पं० श्री शेषराजशर्मा रेग्मी

धर्मशास्त्राचार्य, काव्यतीर्थ

अव० प्रा० प्राध्यापक, नेपाल-विश्वविद्यालय ।

स्कन्दपुराण के अन्तर्गत नेपालमाहात्म्य, आजसे ७५ साल पहले प्रभाकरी प्रेस, रामकटोरा, वाराणसीसे मूलमात्र प्रकाशित हुआ था । यह उसीका दूसरा संस्करण हिन्दी भाषामें प्राञ्जल और परिशुद्ध अनुवादके साथ प्रस्तुत है । अनुवादक हैं अनेक ग्रन्थों के लेखक और अनुवादक श्री पण्डित केदारनाथशास्त्री साहित्यरत्न । इसमें परिशिष्टरूपमें शालग्राम और बाणलिङ्ग आदि भगवद्विग्रहोंके विषयमें तथा पुण्यसलिला गण्डकी नदी के विषयमें भी विशिष्ट अन्वेषण करके बड़े बड़े कोशों में भी अनुपलब्ध अनेकानेक ज्ञातव्य अपर्व विषयों का सन्निवेश किया गया है । साथ साथ गोस्वामी तुलसी दास जी का जाति और स्थान आदि के विषयमें भी अपूर्व तथ्यका सङ्कलन किया गया है । "स्थालीपुलाकन्यायसे" इसमें स्थित कुछ विषयोंकी चर्चा की गई है पूर्ण विषय तो पूर्ण ग्रन्थके निरीक्षणसे उपलब्ध होंगे । मैं आशा करता हूँ श्रद्धालु और सारग्राही सज्जन इसका संग्रह करके लाभाऽन्वित होंगे । इत्यलम् ।

नकसाल : काठमाण्डू,
नेपाल

विद्वद्विधेय
शेषराजशर्मा रेग्मी

नेपालमाहात्म्यस्थतीर्थलिङ्गादीनामानुक्रमणिका

परिशिष्ट

परिशिष्टमें—बाणलिङ्गकी उद्‌गम स्थली, चिह्न आदि। नेपाल विषयक कुछ ज्ञातव्य बातें बाराह (शूकर) क्षेत्र। अद्वैतानन्दजीकी कृपा। भगवान् बुद्धकी नेपाल यात्रा आद्यशङ्कराचार्यजीका नेपाल गमन पर्णकुटीमें आवास गुसाईंथान गमन।

॥ श्रीः ॥

नेपालमाहात्म्यम्



'पार्वती' हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोध्यायः

श्रीगणेशाय नमः

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

सूत उवाच—

जन्मेजयस्य यज्ञान्ते मुनयो ब्रह्मवादिनः ।
समागताः पुराणानां कथां चक्रुर्निरन्तरम् ॥ २ ॥
मुनिमध्ये महातेजा जैमिनिः पर्यपृच्छत ।
मार्कण्डेयं महात्मानं भूय एव महाद्युतिम् ॥ ३ ॥

जैमिनिरुवाच—

भगवन् सर्वधर्मज्ञ त्रिकालज्ञ मुनीश्वर ।
त्वत्तः श्रुतानि सर्वाणि क्षेत्राणि फलदानि च ॥ ४ ॥
नेपालं च महाक्षेत्रं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
वद तत् कीदृशं क्षेत्रंश्रोतुमुत्सुकितं मनः ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

नेपालक्षेत्रमाहात्म्यं शृणु सावहितो मुदा ।
पीठानां परमं पीठं क्षेत्राणां क्षेत्रमुत्तमम् ॥ ६ ॥

नरोत्तम नारायणको और नरको नमस्कार करके, देवी-सरस्वतीको नमस्कार करके जयको उच्चरित करना चाहिए ॥ १ ॥

सूतजीने कहा—जनमेजय महाराजके यज्ञके पश्चात् समागत ब्रह्मवादी मुनियों ने निरन्तर पुराणोंकी कथा कहना प्रारम्भ किया ॥ २ ॥ मुनियोंके मध्यमें स्थित महातेजस्वी जैमिनिमुनिने महाद्युतिमान् महात्मा मार्कण्डेय मुनिके प्रति कहा—॥ ३ ॥ हे भगवन्, हे सर्वधर्मज्ञ, हे त्रिकालज्ञ, हे मुनीश्वर, आपसे सभी फलदाता तीर्थोका ज्ञान प्राप्त किया गया है ॥ ४ ॥ प्रधान तीर्थ, मुक्तिदायक नेपालतीर्थका भी ज्ञान आपको है । अतः आप बतायें—वह कैसा है ? मेरा मन उसे सुननेकी उत्सुकता रखता है ॥ ५ ॥ मार्कण्डेयजीने उत्तर दिया—नेपाल तीर्थका माहात्म्य सावधानीसे आनन्दके साथ श्रवण करो । यह पीठोंमें प्रथम पीठ, तीर्थोमें परम-तीर्थ है ॥ ६ ॥ इस नेपाल-

श्लेष्मान्तकवनं तस्य पुरा नाम प्रतिष्ठितम् ।
शालैस्तालैस्तमालैश्च हिन्तालैः परिपूरितम् ॥ ७ ॥
खर्जूरैर्नागरङ्गैश्च बीजपूरैश्च मण्डितम् ।
नानानिर्झरणोपेतं नानापक्षिनिनादितम् ॥ ८ ॥
वाग्वत्याः सरितस्तीरे सर्वत्र कुसुमान्वितम् ।
श्लेष्मान्तकवनं दृष्ट्वा पार्वत्या सह शङ्करः ॥ ९ ॥
तुष्टोऽभूदतुलां प्रीतिं लेभे च मुनिसत्तम ।
काशीं विहाय कैलासमण्डलं सुमनोहरम् ॥ १० ॥
पार्वत्या सहितो रुद्रः श्लेष्मान्तकवनं ययौ ।
अलक्षितो निजगणैर्मृगरूपं विधाय च ॥ ११ ॥
मृग्या भवान्या सहितो रेमे तस्मिन् वने मुदा ।
श्लेष्मान्तकवनं रुद्रे प्रविष्टे पार्वतीयुते ॥ १२ ॥
अलक्षितः सुरगणैर्जगदासीत् समाकुलम् ।
ब्रह्मादयः सुरगणा मुनिभिर्नारदादिभिः ॥ १३ ॥
त्रैलोक्यं बभ्रमुः सर्वे रुद्रान्वेषणतत्पराः ।
पुरे ग्रामे वने वाऽपि नद्यामुपवनेषु च ॥ १४ ॥
पर्वतेषु समस्तेषु ददृशुर्नैव शङ्करम् ।
भ्रमन्तो ह्यलसाः श्रान्ता हिमवन्तं नगेश्वरम् ॥ १५ ॥
जग्मुर्मुनिगणैः सार्द्धं शङ्करेऽर्पितमानसाः ।
कुक्षौ हिमवतो रम्ये श्लेष्मान्तकवने तदा ॥ १६ ॥

तीर्थका प्राचीन नाम श्लेष्मान्तक वन था। यह शाल-ताल तमाल-हिन्ताल वृक्षोंसे पूरित था ॥ ७ ॥ खजूर-नारंगी-नीबूके वृक्षोंसे भूषित था। अनेक झरनोंसे तथा अनेक पक्षियोंके कलरवसे कूजित था ॥ ८ ॥ वाङ्मती नदीके तटपर सर्वत्र पुष्पित श्लेष्मान्तक वनको देखकर, हे मुनिश्रेष्ठ, पार्वतीजीके साथ शङ्करजी ॥ ९ ॥ सन्तुष्ट हुए और अतुल प्रीति प्राप्त की, एवं काशी तथा सुरम्य कैलास छोड़कर ॥ १० ॥ उमाके साथ महेश्वर श्लेष्मान्तक वनको गये। वे शङ्करजी अपने सेवकोंसे अदृष्ट हिरणका रूप धारण करके गये ॥ ११ ॥ शिवजी उक्त वनमें पार्वती सहित रमण करने लगे। श्लेष्मान्तक वनमें पार्वती सहित शङ्करजीके प्रविष्ट होनेपर ॥ १२ ॥ देवगणोंसे अदृश्य—रूपमें विराजमान शङ्करजीके हेतु सारा जगत् व्यथित हो गया। नारद आदि मुनियोंके साथ ब्रह्मा आदि सब देवता ॥ १३ ॥ शिवजीके खोजनेमें तत्पर तीनों लोकोंमें घूमने लगे ॥ उन्होंने नगर-ग्राम-वन-उपवन-नदी तथा समस्त पर्वतोंमें (देखा) पर शिवजीको न पाया। खोजते हुए वे लोग थककर पर्वतराज हिमालयके प्रांगणमें मुनिगणोंके साथ, शङ्करजीमें चित्त लगाये हुए पहुँचे। वह स्थान, हिमालयका मध्यस्थल, सुन्दर श्लेष्मांतक

एकशृङ्गं त्रिनेत्रं च पुष्टाङ्गमतिसुन्दरम्।
मृगरूपधरं रुद्रं मृगीरूपधरां शिवाम्॥ १७॥
दद्दशुर्विस्मिताः सर्वे मृगयूथसमन्वितम्।
तुष्टुवुर्देवताः सर्वा नानास्तोत्रैर्मुदान्विताः॥ १८॥
तथाऽपि न जहौ रुद्रो मृगरूप तपोधन।
चक्रुस्ते मन्त्रणां विप्र शक्रविष्णुविरञ्चयः॥ १९॥
शृङ्गं धृत्वा मृगस्यास्य स्थापयामो वशे वयम्।
इति कृत्वा मतिं देवा ब्रह्मविष्णुसुरेश्वराः॥ २०॥
बलेन जगृहुः शृङ्गं पाणिभ्यां, मृगरूपिणः।
धृते शृङ्गे सुरैः शीघ्रं मृगरूपी महेश्वरः॥ २१॥
उत्तफाल ततो जातं शृङ्गं खण्डचतुष्टयम्।
उत्पत्य च महारुद्रः परे पारे मनोहरे॥ २२॥
वाग्वत्याः सरितस्तीरे नाम्ना पशुपतिः स्मृतः।
ततो ब्रह्मादयो रुद्रमूचुः प्राञ्जलयः सुराः॥ २३॥
व्रज काशीं महारुद्र कैलासं वा मनोहरम्।
त्वया विना जगच्छून्यं भाति नः सचराचरम्॥ २४॥
इत्याकर्ण्य वचो रुद्रो जगाद त्रिदशान् प्रति।
स्थास्याम्यत्र वने रम्ये न यास्यामि च कुत्रचित्॥ २५॥
स्थितोऽहं पशुरूपेण श्लेष्मान्तकवने यतः।
अतः पशुपतिर्लोके मम नाम भविष्यति॥ २६॥

वन था ॥ १४-१६ ॥ वहाँपर एक सींगवाले, तीन नेत्रधारी, पुष्टांग-सुन्दर रूपवाले मृगरूपधारी शंकरको मृगीरूपा पार्वतीका उन लोगोंने मृगोंके झुण्डके साथ, विस्मित होकर देखा। देवता हर्षान्वित होकर शिवजीकी अनेक स्तुति करने लगे ॥ १७-१८ ॥ हे तपोधन, तब भी शिवजीने मृगका रूप नहीं त्यागा। हे विप्र, तब इन्द्र-विष्णु-ब्रह्माने, विचार किया ॥ १९ ॥ इस मृगके सींगको पकड़कर हम लोग, इसे वशमें करें—ऐसा विचार करके ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रादि ॥ २० ॥ देवताओंके द्वारा बलपूर्वक उस मृगके सींगको पकड़े जानेपर, वह शिवरूप मृग उछला तथा उसके सींगके चार टुकड़े हो गये एवं शिवजी वाग्वतीके तटपर महाशिवरूपमें स्थित हो गये। तब ब्रह्मा आदिने हाथ जोड़कर शिवजीसे कहा—२१-२३ ॥ हे महारुद्र, काशीपुरीको या मनोहर कैलासको चलें। आपके बिना हम लोगोंको यह चराचर जगत् शून्य प्रतीत होता है ॥ २४ ॥ इस बातको सुनकर शिवजीने देवोंसे कहा—मैं इस रम्य वनमें ही रहूँगा—और कहीं नहीं जाऊँगा ॥ २५ ॥ मैं श्लेष्मान्तक वनमें पशुरूपमें स्थित हुआ हूँ। अतः इस लोकमें मेरा नाम पशुपति होगा ॥ जो देवगण वा मनुष्यगण

ये मां पशुपतिं देवा द्रक्ष्यन्ति मनुजा भुवि ।
पशुजन्म न तेषां तु मत् प्रसादाद्भविष्यति ॥ २७ ॥
मृगेन्द्रशिखराद्रम्यां मम हासाद्विनिर्गताम् ।
वाग्वतीं ये च द्रक्ष्यन्ति ते नराः पुण्यभागिनः ॥ २८ ॥
मृगेन्द्रशिखरं गत्वा पीत्वा वै वाग्वतीजलम् ।
द्रक्ष्यन्ति मां पशुपतिं न ते स्युः पशवो द्विज ॥ २९ ॥
पशुकुण्डे नरः स्नात्वा पदाऽऽक्रम्य मृगस्थलीम् ।
किरातेश्वरमभ्यर्च्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३० ॥
कार्तिके कृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां मृगस्थलीम् ।
प्रदक्षिणो करिष्यन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ३१ ॥
इन्द्रेण विष्णुना धात्रा यद्यच्छृङ्गं धृतं मम ।
आत्माभिलषिते स्थाने तं लिङ्गं स्थाप्यतां मम ॥ ३२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे गौरी महादेवमुवाच तम् ।
वाग्वत्याः सरितस्तीरे स्थास्यामि तव सन्निधौ ॥ ३३ ॥
श्रुत्वा गिरिसुतावाक्यमुवाच गिरिजापतिः ।
अत्यन्तगुप्तं गिरिजे कथयामि तवाग्रतः ॥ ३४ ॥
पूर्वे भवे दक्षकन्या सती नाम्ना व्यवस्थिता ।
अपमानेन तातस्य प्राणांस्त्यक्तास्त्वया शिवे ॥ ३५ ॥
मया स्नेहेन ते देवि कुणपं कण्ठसंस्थितम् ।
कृत्वा महीपर्यटनं कृतं शोकाकुलेन च ॥ ३६ ॥

पृथ्वीपर मुझे पशुपति रूपमें पूजेंगे वे मेरे अनुग्रहसे पशुयोनिमें न उत्पन्न होंगे ॥२६-२७॥ सुन्दर मृगेन्द्र शिखरसे मेरे हास्यसे निःसृत वाङ्मती नदीको जो लोग देखेंगे वे बड़े पुण्यशाली होंगे ॥ २८ ॥ मृगेन्द्र शिखरपर जाकर जो वाङ्मतीके जलको पियेंगे तथा मुझ-पशुपति को देखेंगे—हे द्विज, वे पशु योनि न प्राप्त करेंगे ॥ २९ ॥ जो पशुकुण्डमें स्नान करके मृगस्थलीको लांघकर किरातेश्वर महादेवका पूजन करेंगे वे सब पापोंसे मुक्त हो जायेंगे ॥ ३० ॥ जो कार्तिकमासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको मृगस्थलीकी प्रदक्षिणा करेंगे वे स्वर्ग जायेंगे ॥ ३१ ॥ इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा द्वारा जो-जो मेरा लिङ्ग लिया गया है । वे अपने-अपने अभिलषित स्थानमें मेरा लिङ्ग स्थापित कर दें ॥ ३२ ॥ इसके पश्चात् गौरीने महादेवजीसे कहा—हे नाथ, वाङ्मती नदीके तटपर आपके समीप मैं स्थित होऊँगी ॥ ३३ ॥ पार्वतीके वचन सुनकर गिरिजापति बोले—हे गिरिजे, मैं तुम्हारे समक्ष अति गुप्त बात कहता हूँ ॥ ३४ ॥ पूर्व जन्ममें तुम दक्षकन्या सती नामसे उत्पन्न हुई थी । हे शिवे, तुमने पिताके अपमानसे प्राण त्याग दिये थे ॥३५॥ हे देवी, मैंने प्रेमसे तुम्हारे शवको कन्धेपर धारणकर शोकाकुल होकर पृथ्वीकी प्रदक्षिणा की ॥ ३६ ॥

शाकाकुलं च मां दृष्ट्वा विष्णुस्नेहवशेन मे ।
सुदर्शनेन चिच्छेद तवाङ्गानि स्थले स्थले ॥ ३७ ॥
तवाङ्गं पतितं गुह्यं वाग्वतीतटिनीतटे ।
मृगस्थल्या उदोच्यां तु तत् पीठं परमं महत् ॥ ३८ ॥
मम वात्सल्यतो यस्मात् स्थातुमिच्छसि पार्वति ।
तस्मात् ते वत्सला नाम भविष्यति वरानने ॥ ३९ ॥
ममाग्नेय्यां सदा तिष्ठ ममाज्ञातो महेश्वरि ।
वाग्वत्याः पयसि स्नात्वा दृष्ट्वा त्वां वत्सलां शिवे ॥४०॥
द्रक्ष्यन्ति मां नरा ये वै ते स्युः कैलासगामिनः ।
मत्सन्निधौ तेऽन्तिके वा गुह्येशीसन्निधावपि ॥ ४१ ॥
ये जपन्ति नरा भक्त्या तेषां सिद्धिर्भविष्यति ।
इत्याकर्ण्य वचो देवो शङ्करस्य शुभाशयम् ॥ ४२ ॥
स्थिता सा वत्सला तत्र वाग्वत्याः सरितस्तटे ।
विष्णुस्तच्छृङ्गमादाय पशुपाशविमोचनम् ॥ ४३ ॥
उत्तरे वाग्वतीतीरे सुतुङ्गे सुमनोहरे ।
स्थापयामास तल्लिङ्गं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥
भाद्रमासे त्वमावास्यां तिथौ गोकर्णसन्निधौ ।
ये पिण्डान् पातयिष्यन्ति तारयिष्यन्ति ते पितॄन् ॥ ४५ ॥
भृगुपातं करिष्यन्ति गोकर्णेश्वरसन्निधौ ।
तेषां मनोरथाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥ ४६ ॥

शोकाकुल मुझे देखकर विष्णुने स्नेहवश सुदर्शन चक्रसे तुम्हारे शवाङ्गको स्थल-स्थलपर काट दिया ॥ ३७ ॥ तुम्हारा गुह्य नामक अंग वाङ्मती नदीके तटपर गिर पड़ा। मृगस्थलीके उत्तर दिशामें तुम्हारा वह परमपीठ भव्य है ॥ ३८ ॥ हे पार्वति, तुम मेरे वात्सल्यसे यहाँ रहना चाहती हो। अतः हे वरानने (शोभनमुखि) तुम्हारा नाम वत्सला होगा ॥ ३९ ॥ हे महेश्वरि, मेरी आज्ञासे मेरे समीप आग्नेय दिशामें सदा रहो। वाङ्मतीके जलमें स्नानकर हे शिवे, तुम वत्सलाका दर्शनकर ॥ ४० ॥ जो नर मुझे पूजेंगे वे कैलास जायेंगे। जो नर मेरे समीप वा गुह्येश्वरीके समीप ॥ ४१ ॥ भक्तिसे जप-ध्यान करेंगे उनकी सिद्धि होगी। इस प्रकार देवीने शंकरकी शुभाशीषको श्रवण-कर—॥ ४२ ॥ वाङ्मतीके तटपर वत्सला नामवाली होकर निवास किया। विष्णुने उस पाशविमोचन सींगको लेकर ॥४३॥ प्रोन्नत सुन्दर वाङ्मतीके तटपर उत्तर दिशामें, स्थापित कर दिया। यह लिङ्ग सर्वपापापहारी है ॥ ४४ ॥ भाद्रमासकी अमाव-स्याको गोकर्णके पास जो पिण्डदान देंगे। उनके पितर तृप्त होंगे ॥ ४५ ॥ जो गोकर्णेश्वरके समीप भृगुपतन (पहाड़से कूदकर आत्मघात) करेंगे। उनके सकल

ब्रह्माऽपि शृङ्गमादाय तदा दक्षिणसारणम् ।
गत्वा संस्थापयामास गोकर्णेश्वरमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
तद्दक्षिणं तु गोकर्णं क्षेत्राणां क्षेत्रमुत्तमम् ।
इन्द्रोऽपि शृङ्गमादायामरावत्यां द्विजोत्तम ॥ ४८ ॥
स्थापयामास तल्लिङ्गं सर्वकामफलप्रदम् ।
वाग्वत्याः सरितस्तीरे पशुपाशविमोचनम् ॥ ४९ ॥
एवंश्लेष्मान्तकवने नाम्ना पशुपतिः स्मृतः ।

जैमिनिरुवाच—

पार्वत्या सहिते रुद्रे स्थिते श्लेष्मान्तके वने ॥ ५० ॥
किमकारि सुरैः सर्वैस्तन्ममाचक्ष्व सुव्रत ।

मार्कण्डेय उवाच—

स्थिते पशुपतौ तत्र सर्वे ये देवता गणाः ॥ ५१ ॥
स्वस्वक्षेत्रं परित्यज्य श्लेष्मान्तकवने स्थिताः ।
राढातः कालिका देवी श्लेष्मान्तकवने गता ॥ ५२ ॥
जयवागीश्वरी नाम्ना प्रसिद्धा क्षेत्रसत्तमे ।
येऽस्या भक्ता भविष्यन्ति यास्यन्ति परमां गतिम् ॥ ५३ ॥
याः स्त्रियश्चार्चयिष्यन्ति देव्यै हंसं मनोहरम् ।
अनुयास्यन्ति ताः सर्वाः प्रियं यमपुरं गतम् ॥ ५४ ॥
त्रिपुरातः समायाता राजराजेश्वरी शिवा ।
अस्या दर्शनमात्रेण दरिद्रोऽतिसुखी भवेत् ॥ ५५ ॥

मनोरथ सिद्ध होंगे । इसमें सन्देह नहीं है ॥ ४६ ॥ ब्रह्माजीने सींग लेकर दक्षिणसारण जाकर गोकर्णेश्वर-उत्तमलिङ्ग स्थापित किया ॥ ४७ ॥ गोकर्णेश्वरसे दक्षिण गोकर्ण नामक उत्तम तीर्थ है जो तीर्थोंमें श्रेष्ठ हैं । हे द्विजोत्तम, इन्द्रने भी सींग लेकर अमरावतीमें ॥ ४८ ॥ जाकर सर्वकामफलदाता लिङ्गको स्थापित किया । वाङ्मती नदीके तटपर पशुपाशविमोचन लिङ्ग है ॥ ४९ ॥ श्लेष्मान्तक वनमें वही लिङ्ग पशुपति कहलाता है । अर्थात्—दोनों एक ही हैं । जैमिनिने कहा—श्लेष्मान्तक वनमें पार्वती और शिव के स्थित होनेपर ॥ ५० ॥ सब देवोंने क्या किया ? हे सुव्रत, आप मुझसे कहें— । पशुपतिके वहाँपर स्थित होनेपर सब देवता ॥ ५१ ॥ स्व-स्व तीर्थ त्यागकर श्लेष्मान्तक वनमें स्थित हो गये । राढसे कालका देवी श्लेष्मान्तक वनमें आ गयीं ॥ ५२ ॥ वे जय वागीश्वरी देवी नामसे उत्तम क्षेत्रमें प्रसिद्ध हैं । जो लोग इनके भक्त होते हैं वे परमगति पाते हैं ॥ ५३ ॥ जो महिलाएं इन देवीका पूजन करती हैं वे मनोहर हंसपर बैठकर अपने पतिके पास यमपुर जाती हैं ॥ ५४ ॥ राजराजेश्वरी (पार्वतीजी) त्रिपुर नगरसे आयी हैं । इनके दर्शनसे दरिद्र भी अति सुखी होते हैं ॥ ५५ ॥ पाताललोक

पातालमूलमुत्सृज्य वासुकिर्नागसत्तमः ।
उत्तरे देवदेवस्य स्थितो निजगणैर्वृतः ॥ ५६ ॥
सौराष्ट्रदेशादागत्य बुद्धरूपी जनार्द्दनः ।
मणिधातौ गिरिवरे तपस्यामकरोद्वशी ॥ ५७ ॥
तपस्यतो गिरिवरे पञ्चाग्निज्वालया भृशम् ।
प्रस्वेदान्निर्गता सद्यो नाम्ना मणिमती नदी ॥ ५८ ॥
तपस्य कुर्वतस्तस्य बुद्धस्य गिरिजा तदा ।
तुष्टा बभूव प्रकटा नाम्ना सा वज्रयोगिनी ॥ ५९ ॥
उवाच गिरिजा बुद्धं वरं वरय सुव्रत ।
श्रुत्वा गिरिसुता वाक्यमुवाच भगवांस्तदा ॥ ६० ॥
सदाचारपरा लोका ह्यस्मिन् देशे भवन्त्विति ।
बुद्धवाक्यं शिवा श्रुत्वा प्राह तं भक्तवत्सला ॥ ६१ ॥
शिवेन रचितं क्षेत्रं भवताऽपि तपः कृतम् ।
अतः क्षेत्रोत्तमे बुद्ध शैवाचारपरायणाः ॥ ६२ ॥
बौद्धाचारपरा लोका भविष्यन्ति न संशयः ।
वाग्वत्या मणिमत्याश्च सङ्गमे क्षेत्रसत्तमे ॥ ६३ ॥
शिवधर्मपरो भूत्वा लिङ्गं संस्थापय प्रभो ।
श्रुत्वा गिरिसुतावाक्यं बुद्धः कारुणिकस्तदा ॥ ६४ ॥
सङ्गमे स्थापयामास लिङ्गं कारुणिकेश्वरम् ।
भाद्रमासे सिताष्टम्यां लिङ्गं कारुणिकेश्वरम् ॥ ६५ ॥

त्यागकर श्रेष्ठ वासुकि नागराज आये और अपने गणोंसे युक्त शंकरजीके उत्तर भागमें अवस्थित हुए ॥ ५६ ॥ बुद्धरूपधारी जनार्दन सौराष्ट्र देशसे आकर मणिधातु पर्वतपर जितेन्द्रियतासे तप करने लगे ॥ ५७ ॥ मणिपर्वतपर तप करते समय अति क्लेशित शरीरसे जो पसीना निकला उससे वहाँ तत्काल मणिमती नदी बन गयी ॥ ५८ ॥ बुद्धकी तपस्यासे प्रसन्न गिरिजा वज्रयोगिनी नामसे वहाँ प्रसिद्ध हो गयीं ॥ ५९ ॥ ततः गिरिजाने बुद्धसे कहा—हे सुव्रत, वर माँगो। पार्वतीके वचन सुनकर भगवान् बुद्ध बोले ॥ ६० ॥ हे देवि, इस देशमें लोग सदाचारवाले हों। बुद्धके वाक्य श्रवणकर भक्तवत्सला पार्वती उनसे बोली शिवके द्वारा रचित यह तीर्थ है। आपने तप किया है। अतः हे बुद्ध इस तीर्थमें शैवाचारपरायण ॥ ६१-६२ ॥ बौद्धाचाररत नर होंगे इसमें सन्देह नहीं है क्योंकि वाङ्मती—मणिमतीका संगम उत्तम तीर्थ (माना गया) है ॥ ६३ ॥ शिवधर्मपरक हाकर तुम हे बुद्ध प्रभो, लिङ्ग स्थापन करो। पार्वतीके वाक्य श्रवणकर दयालु बुद्धभगवान्ने—॥ ६४ ॥ उक्त संगमपर कारुणिकेश्वरका लिंग भाद्र शुक्ल अष्टमीको स्थापित किया ॥६५॥ जो नर भक्तिसे उनकी पूजा करते हैं वे स्वर्ग

ये द्रक्ष्यन्ति नरा भक्त्या ते च वै स्वर्गगामिनः ।
तस्मिन् प्रदेशे गिरिजा जाता वै वज्रयोगिनी ॥ ६६ ॥
भक्तलोकहितार्थाय स्थिता वै तत्र पर्वते ।
एवं च देवताः सर्वाः श्लेष्मान्तकवने शुभे ।
तदा पशुपतिप्रेम्णा नानास्थानेषु संहिताः ॥ ६७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये पशुपतिप्रादुर्भावो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

जाते हैं । उसी स्थलपर पार्वती वज्रयोगिनी रूप हुई हैं ॥ ६६ ॥ भक्तोंके हितार्थ उस पर्वतपर स्थित रहती हैं । उसी प्रकार देवगण भी शुभ श्लेष्मान्तक वनमें स्थित हैं जो अनेक स्थानोंसे आकर वहाँ पशुपति प्रेमके कारण रहते हैं ॥ ६७ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच—

केषु स्थानेषु के देवाः श्लेष्मान्तकवने स्थिताः ।
वद सर्वं महाभाग श्रोतुमिच्छा प्रजायते ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

सन्ति तीर्थान्यनेकानि श्लेष्मान्तकवने शुभे ।
देवताः सकलास्तत्र स्थिता भक्तवरप्रदाः ।
तथाऽपि मुख्यतीर्थानां कानिचित् कथयामि ते ॥ २ ॥
दोलागिरौ चम्पकवृक्षनिर्गतो
भक्तानुकम्पी गरुडध्वजो हरिः ।

ऋषि जैमिनिने कहा—किन-किन-स्थानोंमें, श्लेष्मान्तक वनमें कौन-कौन देवता स्थित हुए ? हे महाभाग, आप (सब कुछ) बतायें । मेरी इच्छा जानने-सुननेके लिए उत्सुक है ॥ १ ॥

मार्कण्डजीने कहा—शुभान्वित श्लेष्मान्तक वनमें अनेक तीर्थ हैं । वहाँ भक्तवरदायक सब देवता स्थित हुए ॥ २ ॥ मैं उनमें मुख्य तीर्थोंका वर्णन करता हूँ ॥ दोलागिरिपर चम्पकवृक्षसे प्रादुर्भूत भक्तानुकम्पी, गरुड़ध्वज, हरि स्थित हुए । जिनका नाम

यन्नाम संकीर्तनतो भुजङ्गमो
महाविषो निर्विषतामुपैति ॥ ३ ॥

जैमिनिरुवाच—

कथं चम्पकवृक्षात् तु निर्गतो गरुडध्वजः ।
तद्ब्रूहि त्वं महाभाग श्रोतुकामास्तपोधन ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

तपोधन कथामेतां मत्तः सावहितः शृणु ।
आसीत् सुदर्शनः कश्चित् तापसः कोपनः शुचिः ॥ ५ ॥
दोलागिरिवरे चक्रे तपोवनमनुत्तमम् ।
तस्यैका कपिला धेनुः कामधेनुरिवापरा ॥ ६ ॥
तस्या दुग्धेन स मुनिर्हव्यकव्यादिकं स्वयम् ।
प्राणयात्रां च विदधे यतात्माऽतिथिपूजकः ॥ ७ ॥
एकदा कपिला तस्य भ्रमन्ती चम्पके गता ।
चम्पकाद्बहिरागत्य पुरुषः कोऽपि शोभनः ॥ ८ ॥
तस्या दुग्धं स्वयं पीत्वा चम्पकाभ्यन्तरं ययौ ।
तस्या दुग्धं मुनिर्नैव लेभे यत्नपरायणः ॥ ९ ॥
याति चम्पकमूलं सा क्षीरं च पुरुषः पपौ ।
अलब्ध्वा कपिलाक्षीरं मुनिर्वै सप्त वासरान् ॥ १० ॥
चुकोपातीव संक्रुद्धो वचनं चेदमब्रवीत् ।
यः पिबत्येव कपिलादुग्धं हव्यनिमित्तकम् ॥ ११ ॥

जपनेसे महाविषधारी सर्प भी विषको त्याग देता है—निर्विष हो जाता है ॥ ३ ॥ जैमिनिने कहा—चम्पक तरुसे भगवान् गरुड़ध्वज कैसे प्रकट हुए ? हे महाभाग, हे तपोधन, उस वृत्तको आप कहें— मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥ मार्कण्डेय मुनिने कहा— हे तपोधन, इस कथाको आप मुझसे सावधान होकर सुनें । सुदर्शन नामका एक पवित्र, क्रोधी तपस्वी था ॥ ५ ॥ श्रेष्ठ पर्वत दोलागिरिपर स्थित तपोवनमें वह तपस्या करता था । उसकी एक कपिला गौ थी—जो दूसरी कामधेनु ही थी ॥६॥ उस गौके दूधसे वह तपस्वी हवनकर्म करता था तथा अतिथिपूजा (अतिथिको दूध पिलाता) क्रिया भी करता था एवं स्वयं भी उसी दूधको पीकर प्रसन्न रहता था ॥ ७ ॥ एक दिन उसकी कपिला गौ घूमती हुई चम्पकवृक्षकी ओर गयी । तब चम्पक वृक्षमेसे, किसी सुन्दर पुरुषने, बाहर आकर उसके दूधको पी लिया तथा पुनः चम्पकवृक्षमें चला गया । यज्ञ-सेवी मुनिने उसके दूधको नहीं प्राप्त किया ॥ ८-९ ॥ इस प्रकार वह गौ चम्पकवृक्ष तक जाती और वह पुरुष दूध पीता । इस क्रमसे सात दिनतक उक्त तपस्वीने (जिसकी वह गौ थी) दूध नहीं पाया ॥ १० ॥ तब उस तपस्वीने अति क्रोधकर कहा—

शिरश्छेत्स्यामि दुर्बुद्धेर्ह्यहं तपसो निधिः ।
इत्युक्त्वा सन्नकैर्विप्रः कपिलापृष्ठतो ययौ ॥ १२ ॥
अलक्षिते तरुतले कपिला चम्पकं ययौ ।
चम्पकाद्बहिरागत्य कपिलायाः पपौ पयः ॥ १३ ॥
यावत् पीत्वा तरुतलं तावत् स तपसो निधिः ।
शिरश्चिच्छेद खड्गेन पुरुषस्यातिकोपनः ॥ १४ ॥
विच्छिन्नशिरसस्तस्य पुरुषस्य तदा वपुः ।
शङ्खचक्रगदापद्मसमायुक्तं बभूव च ॥ १५ ॥
गरुडोपरि तं दृष्ट्वा विशिरस्कं तदा मुनिः ।
विषण्णोऽभवदत्यन्तं किं कृतं च मया पुनः ॥ १६ ॥
गर्हयामास चात्मानं भूयो भूयस्तपोधनः ।
मूर्छामवाप महतीं संज्ञां लब्ध्वा तपोधनः ॥ १७ ॥
निधनायोद्यतः सद्यः प्रायश्चित्तं चराम्यहम् ।
मरणायोद्यतं दृष्ट्वा प्राह नारायणो मुनिम् ॥ १८ ॥
माभैषीस्त्व मुनिश्रेष्ठ मा विषादो भवत्विति ।
त्वया कृतं सम्यगेव तुष्टोऽहं ते तपोधन ॥ १९ ॥
भयं त्यज मुनिश्रेष्ठ वरं वरय सुव्रत ।
निशम्य नारायणवाक्यमुत्तमं
तपोधनो भीतिमुदस्य तत्क्षणात् ।

जो इस कामधेनुतुल्य गौके, होमकर्मवाले, दूधको पी लेता है । उसका मैं शिर काट लूँगा—यदि मैं तपस्वी हूँ तो । ऐसा कहकर वह तपस्वी धीरेसे (चुपकेसे) कपिला गौके पीछे-पीछे गया ॥ ११-१२ ॥ अलक्षित तरुतल (पेड़की जड़ न दिखने वाले) चम्पकके पेड़तक कपिला गौ गयी तथा उक्त चम्पकके पेड़से बाहर आकर पुरुषने कपिला गौके दूधको पी लिया ॥ १३ ॥ ज्योंही उस पुरुषने उस अलक्षित तरुतलमें कपिलाका दूध पी लिया त्योंही उस तपस्वीने अति क्रोधसे उस पुरुषका शिर तेज तलवारसे काट लिया ॥ १४ ॥ कटे शिरवाले उस पुरुषके शरीरसे शंख, चक्र, गदा, पद्म प्रकट हो गये ॥ १५ ॥ उस समय उस तपस्वीने शिररहित उस पुरुषको गरुड़पर आरूढ़ देखा और अत्यन्त दुःखी होकर कहा—यह मैंने कैसा बुरा कार्य कर डाला ॥१६॥ उस तपस्वीने अपनी बार-बार निन्दा की तथा अत्यन्त मूर्च्छित हो गया । पुनः चेतनायुक्त होकर अपने मारनेको तत्पर हो गया उसने सोचा इस प्रकार इस पापसे छुटकारा हो जायगा । ऐसा करनेपर उद्यत उस पुरुषसे विष्णु भगवान्ने कहा—॥१७-१८॥ हे मुनिश्रेष्ठ, मत भय करो, मत विषाद करो, तुमने अच्छा किया । हे तपोधन मैं तुमपर प्रसन्न हूँ ॥ १९ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ, भयको त्यागो, हे सुव्रत, वर मांगो ॥ नारायणके उत्तम

कृताञ्जलिः प्राह महापकारिणे
वरं ददासीश विडम्बनं हि तत् ॥ २० ॥
अधमं मां दुरात्मानं कर्म चाण्डालतां गतम् ।
सुदर्शनेन चक्रेण जहि मां मधुसूदन ॥ २१ ॥
यस्य देवाः सगन्धर्वा युद्धे सासुरमानुषाः ।
लोमच्छेत्तुं न शक्ताः स्युस्तस्य च्छिन्नं मया शिरः ॥ २२ ॥
श्रुत्वा सुदर्शनवचः प्राह नारायणस्तदा ।
श्रूयतां मुनिशार्दूल येन च्छिन्नं शिरो मम ॥ २३ ॥
आसीत् पुरा चण्डनामा दानवोऽतिपराक्रमः ।
वाराणस्यां तपस्तेपे शिवाराधनतत्परः ॥ २४ ॥
दानवेन्द्रे सुतुष्टोऽभूदुमानाथः शिवायुतः ।
वरं वरय दैत्येन्द्र तव यन्मनसेप्सितम् ॥ २५ ॥
महादेववचः श्रुत्वा दानवेन्द्रस्तपोधन ।
स्त्रियं विना सर्वसत्त्वावध्यं वव्रे वरं तदा ॥ २६ ॥
शुक्राचार्यस्य शिष्योऽभूत् सुमतिर्धर्मतत्परः ।
शिष्यः परशुरामस्य धनुर्विद्याविशारदः ॥ २७ ॥
सखा स दानवपतेरत्यन्तं प्रियदर्शनः ।
यानपानाशने तस्य निर्विशेषोऽभवद्द्विजः ॥ २८ ॥

वाक्य सुनकर, तपस्वीने, भयको तत्क्षण ही त्यागकर, हाथ जोड़कर कहा—हे ईश, मुझ महान अपकारीको आप वरदान देते हैं—यह बड़ा भारी कौतूहल है ॥ २० ॥ हे मधुसूदन, मुझ दुरात्मा, अधम, चाण्डाल कर्मकारीको सुदर्शन चक्रसे मार डालें ॥२१॥ जिन भगवान्का—देवता, गन्धर्व, असुर, मनुष्य रोआँ (बाल) तक युद्धमें नहीं उखाड़ सकते हैं। उनका शिर मैंने काट लिया ॥ २२ ॥ तब नारायणने उस शोभन तपस्वीके वचन श्रवणकर कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, सुनो। जिस कारणसे मेरा शिर काटा गया है ॥२३॥ प्राचीनकालमें—अति पराक्रमी चण्ड नामक दानव था। उसने वाराणसीमें शिवजीकी आराधना बड़ी तत्परतासे की थी—घनघोर तपस्या की थी ॥ २४ ॥ उस दानवेन्द्रपर उमापति पार्वती सहित प्रसन्न हो गये और बोले—हे दैत्येन्द्र, मन चाहा वर तुम माँगो ॥ २५ ॥ तब महादेवजीके वचनको श्रवणकर उस दानवेन्द्रने, हे तपोधन, स्त्रियोंको छोड़कर किसी भी प्राणीसे मेरी मृत्यु न होवे—ऐसा वर माँगा ॥ २६ ॥ उस समय एक सुमति नामक विप्र उस दैत्यका मित्र था जो शुक्राचार्यका शिष्य था। वह धर्मपरायण था तथा परशुरामका शिष्य, धनुर्विद्यामें निपुण था ॥ २७ ॥ वह प्रिय-दर्शन दानवपतिका मित्र था। यान-(सवारी) पान-भोजनमें वह ब्राह्मण उस चण्डके सदृश था ॥ २८ ॥ शिवजीके वरसे तथा सुमतिविप्रके प्रसादसे चण्ड नामक उस दैत्यने

शिवस्य वरलाभेन सुमतेश्च प्रसादतः ।
त्रैलोक्यराज्यं बुभुजे चण्डनामा स दानवः ॥ २९ ॥
पीडितास्तेन दैत्येन देवाः सेन्द्रपुरोगमाः ।
गत्वा च क्षीरजलधिं तुष्टुवुः कमलेक्षणम् ॥ ३० ॥
तुष्टो भूत्वा जगन्नाथः प्रोवाच बलसूदनम् ।
तवागमनकृत्यं यद्वद शीघ्रं करोम्यहम् ॥ ३१ ॥
श्रुत्वा नारायणवचः प्रोवाच बलसूदनः ।
युद्धयस्व चण्डदैत्येन देवार्थं पुरुषोत्तम ॥ ३२ ॥
स तथेति प्रतिज्ञाय दैत्यारिस्त्रिदशैः सह ।
ययौ चण्डपुरं योद्धुं दैत्येन्द्रेण बलीयसा ॥ ३३ ॥
आगतं सुरसैन्यं च श्रुत्वा चण्डासुरो रुषा ।
असंख्यैर्दितिजैर्युक्तः स्वपुरान्निर्ययौ बहिः ॥ ३४ ॥
ततः समभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
दानवानां सुराणां च नानाशस्त्रप्रहारिणाम् ॥ ३५ ॥
ततः प्रावर्तत नदी रुधिरेण भयावहा ।
रथचक्रग्राहवती मांससङ्घातकर्दमा ॥ ३६ ॥
छिन्नमुण्डचयैः पूर्णा केशशैवालसंयुता ।
शरोर्मिभीषणा घोरा देवासुरविनाशिनी ॥ ३७ ॥
शूरा गच्छन्ति तत्पारं विनिमज्जन्ति कातराः ।
तदा देवबलं भग्नं दैत्यैर्भीमपराक्रमैः ॥ ३८ ॥

तीनों लोकपर राज्य प्राप्त कर लिया ॥ २९ ॥ उस दैत्येन्द्रसे पीड़ित देवता लोग इन्द्रको आगे करके दुग्धसमुद्रमें शयन करनेवाले, कमलनेत्रके समीप जाकर उनकी प्रार्थना करने लगे ॥ ३० ॥ प्रसन्न होकर परमेशने इन्द्रसे कहा—आप अपने आनेका कार्य कहें—मैं उसे शीघ्र करूंगा ॥ ३१ ॥ इन्द्रने नारायणके वचन श्रवणकर कहा—हे पुरुषोत्तम, देवताओंके लिए आप चण्ड दैत्यके साथ युद्ध करें ॥ ३२ ॥ विष्णुने कहा—अच्छा और विष्णु भगवान् देवताओंके साथ—बलवान् दैत्येन्द्रके साथ युद्ध करनेके लिए चण्डपुर गये ॥ ३३ ॥ चण्ड दैत्यने देवसेनाका आगमन श्रवणकर, असंख्य दैत्योंके साथ, क्रोधपूर्वक, अपने नगरसे बाहर प्रस्थान किया ॥ ३४ ॥ उसके बाद अनेक शस्त्रोंके प्रहार-कर्त्ता दैत्य-देवोंका घोर लोमहर्षण संग्राम हुआ ॥ ३५ ॥ तब वहाँ रक्तकी नदी बही। भयंकर नदीमें रथचक्रादि मगरके समान थे तथा मांसादि कीचड़ तुल्य थे ॥ ३६ ॥ उस देवासुरविनाशिनी नदी में केशमुक्त कटे मुण्ड शैवालसे युक्त दीखते थे ॥ ३७ ॥ शूर लोग उसके पार जाते थे कातर डूब जाते थे । दैत्योंके बड़े पराक्रमसे देवगण क्षीण हो गये ॥ ३८ ॥ बड़े बली दैत्योंके साथ मेरा युद्ध हुआ । हे मुने, मेरे शार्ङ्गधनुषसे निकले

ततो भीमबलैर्दैत्यैर्मम युद्धमभून्मुने ।
मम शार्ङ्गच्युतैर्बाणैर्भग्न दैत्यबलं महत् ॥ ३९ ॥
भग्नां स्वां वाहिनीं दृष्ट्वा चण्डो दैत्यपतिस्तदा ।
मया योद्धुं समायातो घोरैर्दैत्यबलैर्वृतः ॥ ४० ॥
महता रथघोषेण नादयन् वै वसुन्धराम् ।
छादयन् बाणवर्षैर्मां दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ ४१ ॥
ततो युद्धमभूद्घोरं मेघयोरिव वर्षतोः ।
त्रिभिर्बाणैर्ललाटे मे हृदये सप्तभिः शरैः ॥ ४२ ॥
गरुडं च त्रिषष्ट्या वै विव्याध दितिजाधिपः ।
मयाऽपि हृदयं तस्य भिन्नं पञ्चभिराशुगैः ॥ ४३ ॥
ललाटे चार्पिता बाणा दश वै मर्मभेदिनः ।
ततः क्रुद्धोऽतिदनुजो मा विव्याध त्रिभिः शरैः ॥ ४४ ॥
गरुडं चाष्टभिर्बाणैर्दारयामास दारुणः ।
गरुडस्य शरीरात् तु शुश्राव रुधिरं बहु ॥ ४५ ॥
गरुड विकलं दृष्ट्वा क्रोधो मे समजायत ।
मया च्छिन्नो ध्वजस्तस्य शरेण नतपर्वणा ॥ ४६ ॥
सारथेश्च शिरश्छिन्नं शरेणैकेन तत्क्षणात् ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहा हतास्तस्य दुरात्मनः ॥ ४७ ॥
वर्म च्छिन्नं शरैकेण हृदये पञ्च सायकाः ।
अर्पिता दितिजेशस्य मया क्रोधेन तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥

बाणोंसे बहुतसे दैत्य मारे गये ॥ ३९ ॥ अपनी सेनाको क्षीण देखकर—दैत्यपति चण्ड भयंकर दैत्योंके साथ मुझसे लड़ने आया ॥ ४० ॥ भयंकर रथोंकी ध्वनिसे पृथ्वीको शब्दायमान करता हुआ, बाणवर्षासे मुझको आच्छादित करता हुआ हस्तलाघव दिखाता हुआ वह दैत्य (चण्ड) आया ॥ ४१ ॥ तब बरसते हुए मेघोंके समान घोर युद्ध हुआ । तीन बाण मेरे ललाटमें, सात बाण मेरे हृदयमें, तिरसठ बाण गरुड़को, उस दैत्येशने मारे । मैंने भी पाँच बाणोंसे उसका हृदय वेधा ॥ ४२-४३ ॥ उसके ललाटमें मर्मभेदी दस बाण मारे । तब क्रुद्ध होकर उस दैत्यने मुझे तीन बाण मारे ॥ ४४ ॥ गरुड़को आठ भयंकर बाण मारे जिससे गरुड़के शरीरसे अधिक रुधिर बह चला । गरुड़को विकल देखकर, मुझे क्रोध आया । मैंने नतपर्ववाले बाणसे उसकी ध्वजा काट दी ॥ ४५-४६ ॥ एक बाणसे उसके सारथीका तत्क्षण शिर काट दिया । उस दुरात्माके चार घोड़े चार बाणसे काट दिये ॥ ४७ ॥ एक बाणसे उसका वर्म (लोहेका वस्त्र) काट दिया । तत्क्षण क्रोधसे मैंने पाँच बाण उसके हृदयमें मारे ॥ ४८ ॥ कटे वर्मवाला, रथरहित,

विरथश्छिन्नवर्मा च हताश्वो हतसारथिः ।
पदातिरभवच्छीघ्रं व्याकुलश्चाभवद्भृशम् ॥ ४९ ॥
दानवं पीडितं दृष्ट्वा मच्छरैरर्दितं भृशम् ।
त्रायन् द्विजवरः शीघ्रं सुमतिः प्रत्यपद्यत ॥ ५० ॥
स कृत्वा पृष्ठतो दैत्यं रथेन महता द्विजः ।
अभ्ययान्मामतिक्रुद्धश्चण्डस्नेहसमाकुलः ॥ ५१ ॥
शिष्यः परशुरामस्य धनुर्विद्याविशारदः ।
मन्त्रशास्त्रे च शुक्रस्य प्रियशिष्यो द्विजोत्तमः ॥ ५२ ॥
तेन मे दारुणं युद्धमतीव प्रत्यपद्यत ।
आसीत् युद्धं सुतुमुलं सिंहयोरिव कानने ॥ ५३ ॥
मम द्विजर्षभस्यापि देवलोकभयावहम् ।
आग्नेयास्त्रं मया क्षिप्तं पर्जन्यं विदधन्मुने ॥ ५४ ॥
वायव्यास्त्रं मया क्षिप्तं पर्वतास्त्रं स सृष्टवान् ।
सर्पास्त्रं तु मया क्षिप्तं गरुडास्त्रं स सृष्टवान् ॥ ५५ ॥
कृते प्रतिकृतं कुर्वन् सुमतिः शूरसत्तमः ।
विव्याध हृदयं घोरैर्मम सप्तभिराशुगैः ॥ ५६ ॥
नवत्या गरुडं विद्ध्वा ननाद द्विजसत्तमः ।
भिन्नमर्मस्तु गरुडः आननाद्रुधिरं वमन् ॥ ५७ ॥
पपात गरुडो भूमौ निश्चेष्टः पादपो यथा ।
अहं पदातिरभवं पतिते गरुडे भुवि ॥ ५८ ॥

हतसारथीवाला, हत घोड़ेवाला वह पैदल (पादचारी) शीघ्र बड़ा व्याकुल हो गया ॥ ४९ ॥ मेरे बाणोंसे अत्यन्त पीडित उस दैत्यको देखकर ब्राह्मणश्रेष्ठ सुमति उसे बचानेके लिए बड़े रथके साथ वहाँपर आ गया ॥ ५० ॥ उस सुमतिने उस चण्ड दैत्यको अपने पीछे करके चण्डके स्नेहसे व्याकुल होकर, अति क्रोधके साथ, मेरे पास आगमन किया ॥ ५१ ॥ वह द्विजोत्तम परशुरामका शिष्य, धनुर्विद्यविशारद था । शुक्राचार्यका शिष्य था तथा मन्त्रशास्त्र में विशारद था ॥ ५२ ॥ उसके साथ मेरा भयंकर युद्ध हुआ । वह युद्ध इतना भयंकर था जैसे—दो सिंहोंका युद्ध वनमें होता है ॥ ५३ ॥ मेरा और उन द्विजश्रेष्ठका युद्ध देवलोकको भयदायी था । मैंने आग्नेयास्त्र छोड़ा । उसने वर्षणशास्त्र छोड़ा ॥ ५४ ॥ मैंने वायव्य छोड़ा । उन्होंने पर्वतास्त्र छोड़ा । मैंने सर्पास्त्र छोड़ा । उन्होंने गरुडास्त्र छोड़ा ॥ ५५ ॥ जो मैं करता था ठीक उसके विरुद्ध वह करता था । शूरश्रेष्ठ सुमतिने मेरे हृदयमें सात भयंकर बाण मारे ॥ ५६ ॥ नब्बे बाणोंसे गरुड़को विद्धकर, वह ब्राह्मणश्रेष्ठ गरजा । मर्माहत होकर गरुड़ मुखसे रक्त बहाने लगे ॥ ५७ ॥ जैसे सूखा पेड़ पृथ्वीपर गिर पड़ता है । वैसे गरुड़ पृथ्वीपर गिर पड़े ।

हाहाकारो महानासीद्देवानामतिदारुणः ।
लज्जाक्रोधौ समुत्पन्नौ क्षमाशीलस्य मे मुने ॥ ५९ ॥
देवानां पश्यतां तत्र भाविनोऽर्थस्य गौरवात् ।
चक्रं सुदर्शनं क्षिप्तं मया ज्वालातिभीषणम् ॥ ६० ॥
छिन्नं शिरस्तु चक्रेण ब्राह्मणस्य तदा मया ।
ब्रह्महत्या तदा घोरा मामियाय द्विजोत्तम ॥ ६१ ॥
शुक्राचार्यो युद्धभूमिमागत्य क्रोधविह्वलः ।
शशापाच्युत शिष्यस्य शिरश्छिन्नं त्वया यतः ॥ ६२ ॥
अतोऽस्य वंशजो विप्रः शिरश्छेत्स्यति ते हरे ।
एवं शापो मया लब्धः शुक्राचार्यात् सुदारुणः ॥ ६३ ॥
ब्रह्महत्याभिभूतेन देशा भ्रान्ता मया मुने ।
लब्धं शर्म न कुत्रापि भ्रमता द्विजसत्तम ॥ ६४ ॥
दोलागिरौ चम्पकवृक्षमध्ये मया स्थितं पापवशेन विप्र ।
शुक्रस्य शापेन शिरो मदीयं छिन्नं त्वया विप्र न तेऽस्ति दोषः ॥६५॥
अत्र दोलागिरौ स्थास्ये छिन्नशापो द्विजोत्तम ।
सुदर्शन त्वमत्रैव मम पूजापरो भव ॥ ६६ ॥
द्वादश्यां पौर्णमास्यां च तथैव बुधवासरे ।
ये द्रक्ष्यन्ति नरा भक्त्या ते वै वैकुण्ठगामिनः ॥ ६७ ॥

गरुड़के पृथ्वीपर गिर जानेपर मैं पैदल (पादचारी) हो गया ॥ ५८ ॥ हे मुने, देवताओंका अति दारुण महान् हाहाकार उत्पन्न हुआ । मुझ क्षमाशीलके हृदयमें उस समय लज्जा और क्रोध दोनों एकसाथ उत्पन्न हो गये ॥ ५९ ॥ भावी अर्थके गौरवसे देवताओंके देखते हुए वहाँ मैंने अति ज्वालावाले चक्रसुदर्शनको छोड़ दिया ।। ६० ॥ तब मेरे द्वारा छोड़े उस चक्रने ब्राह्मणका शिर काट दिया । हे द्विजोत्तम, तब घोर ब्रह्महत्या मेरे (शरीर) पर आ गयी ॥ ६१ ॥ क्रोधसे विह्वल शुक्राचार्यने युद्ध-भूमिमें आकर मुझे शाप दिया—"हे अच्युत, मेरे शिष्यका शिर तुमने काटा है । अतः हे हरे, तुम्हारा शिर इसके वंशज काटेंगे ।" इस प्रकार शुक्राचार्यसे मैंने दारुण शापको प्राप्त किया ॥ ६२-६३ ॥ हे मुने, ब्रह्महत्या पापसे, मैंने अनेक देश घूमें किन्तु, हे द्विजश्रेष्ठ, भ्रमण करते हुए मैंने कहीं शान्ति नहीं पायी ॥ ६४ ॥ पापके कारण मैं दोलागिरिपर चम्पक वृक्षमें, हे विप्र, स्थित था । शुक्राचार्यके शापसे तुमने मेरा शिर काटा, इसमें तुम्हारा दोष नहीं है ॥ ६५ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ, मैं इस दोलागिरिपर निवास करूँगा । हे सुदर्शन (विप्र) तुम यहाँपर रहो और मेरी पूजा करो ॥ ६६ ॥ द्वादशीको, पौर्णमासीको, बुधवारको जो नर (भक्तिसे) । मेरा दर्शन करेंगे वे वैकुण्ठ जायेंगे ॥६७॥

एवं दोलागिरौ रम्ये हरिश्चम्पकपादपात् ।
छिन्नशीर्षस्थितस्तत्र पूजकस्तु सुदर्शनः ॥ ६८ ॥
स्थितं दोलागिरौ वीक्ष्य सर्पा निर्विषतां गताः ।
गरुडस्य प्रसादेन जैमिने मुनिसत्तम ॥ ६९ ॥

इति श्रीनेपालमाहात्म्ये हिमवत्खण्डे गरुडनारायणप्रादुर्भावो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार रम्य दोलागिरिपर चम्पकवृक्षके पत्तोंसे सुरक्षित, छिन्नशीर्षवाले, हरि जिनका पूजक सुदर्शन (विप्र) है—रहते हैं ॥ ६८ ॥ हे जैमिने, हे मुनिश्रेष्ठ, इस प्रकार दोलागिरिपर स्थित मुझे विष्णुको देखकर, गरुड़के प्रसादसे सर्प निर्विष हो जाते हैं। सर्पका वहाँ भय नही होता है ॥ ६९ ॥

तृतीयोध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

आसीच्च तमसातीरे वाल्मीकिर्मुनिसत्तमः ।
वेदवेदाङ्गनिपुणस्तपःस्वाध्यायतत्परः ॥ १ ॥
कदाचिद्वचनं तस्यार्कास्मकं समजायत ।
नारदस्योपदेशेन प्राप्याज्ञां ब्रह्मणोऽपि च ॥ २ ॥
रामायणकथां कर्तुं निश्चयं कृतवान् मुनिः ।
पप्रच्छ नारदमुनिं वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः ॥ ३ ॥
कस्मिंस्थले मया स्थित्वा काव्यं कार्यमनुत्तमम् ।
कास्मिंस्थले वाग्विभूतिर्जायते मुनिसत्तम ॥ ४ ॥

वेदवेदांगमें निपुण, तपः स्वाध्यायमें निरत, मुनिश्रेष्ठ, वाल्मीकि मुनि तमसा नदीके तटपर निवास करते थे ॥ १ ॥ एक दिन उनके (मुखसे) एक आकस्मिक (श्लोक) वचन निकला । तब नारदजीके उपदेशसे एवं ब्रह्माजीके आदेशसे उन मुनि (वाल्मीकि) ने रामायणकथा रचनेके लिये निश्चय किया । मुनिश्रेष्ठ बाल्मीकिने नारदमुनिसे पूछा—॥ २-३ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ नारदजी, किस स्थलपर स्थित होकर मैं इस उत्तम (महा) काव्यको रचूँ ? किस स्थलपर वाणीका प्रचुरपाण्डित्य होता है ? कौन स्थल

स्थैर्यं च मनसः कुत्र सर्वोपद्रववर्जिते ।
जायते मुनिशार्दूल तत्र गत्वा करोम्यहम् ॥ ५ ॥
रामायणं नाम काव्यं मुने परमशोभनम् ।
श्रुत्वा वाल्मीकिवचनं नारदः प्राह शोभनम् ॥ ६ ॥
दोलागिरेरग्निभागे वीरभद्रानदीद्वयम् ।
तयोश्च सङ्गमे रम्ये नानापादपशोभिते ॥ ७ ॥
नारिकेलैश्च जम्बीरैः खर्जूरैरुपशोभिते ।
आम्रैश्च पनसैश्चैव बीजपूरैः समन्ततः ॥ ८ ॥
कोविदारैश्च वकुलैः कुटजैरुपशोभिते ।
पुष्पैर्नानाविधैरम्यैर्द्वितीय इव नन्दने ॥ ९ ॥
तत्र गत्वा मुनिश्रेष्ठ सर्वोपद्रववर्जिते ।
कुरु रामायणं काव्यं जनानां गतिदायकम् ॥ १० ॥
श्रुत्वा स नारदवचो वाल्मीकिर्मुनिसत्तमः ।
वीरभद्रासङ्गमेऽस्मिन् स गत्वा मुनिपुङ्गवः ॥ ११ ॥
भावि रामायणं काव्यं चक्रे परमशोभनम् ।
ततः प्रीतो मुनिवरः स्थलेऽनुग्रहमाचरत् ॥ १२ ॥
आहूय तमसां वाक्यं सरितं निजगाद ह ।
त्वमप्यत्रैव तमसे मत्प्रीत्या सरितां वरे ॥ १३ ॥
अन्तर्गुप्ता सङ्गमेऽस्मिन् वह शीघ्रं गतिप्रदे ।
मुनेर्वचनमाकर्ण्य तमसाऽन्तर्हिताऽवहत् ॥ १४ ॥

सर्व बाधा रहित है ? कौन स्थल मनको धैर्य देता है ? हे मुनिश्रेष्ठ, वहाँ जाकर मैं रामायण रचूँ ॥ ४-५ ॥ वाल्मीकिके वचन श्रवणकर नारदमुनिने सुन्दर वाक्यको कहा— हे मुने, परमशोभन रामायण नामक (महा) काव्य है ॥ ६ ॥ दोलागिरिके आग्नेय दिशामें वीरभद्रा दो नदियोंका संगम है । वह संगम नाना प्रकारके सुन्दर वृक्षोसे शोभित है । वहाँ नारिकेल, जम्बीर खजूरसे शोभित आम, कटहल, नीबू चारो ओर हैं । कोविदार-वकुल और कुटज वृक्ष भी हैं । अनेक प्रकारके सुन्दर पुष्पसे आच्छादित नन्दन ही दूसरा ज्ञात होता है ॥ ७–९ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ, सब उपद्रव रहित, उस स्थानपर जाकर, मनुष्योंको भुक्ति-मुक्तिदायक रामायण (महा) काव्य रचें ॥ १० ॥ मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिने नारदजीके वचन श्रवणकर इस वीरभद्रा संगमपर आकर परमशोभन भावी (महा) काव्य रामायणको रचा । पुनः मुनिने उस स्थानपर अनुग्रह किया ॥११-१२॥ उन्होंने तमसा नदीको बुलाकर कहा—हे तमसे, नदि, नदियोंमें श्रेष्ठ, तुम भी यहाँ ही मेरी प्रीतिपर अन्तः गुप्त होकर, हे गतिप्रदे ! इस संगमपर बहो । मुनिके वचनको सुनकर तमसा नदी गुप्त होकर वहाँ बहने लगी ॥ १३-१४ ॥ जब रामचन्द्रजीने सेतु

यदा च रघुनाथेन सागरे सेतुबन्धनम् ।
कर्तव्यं वायुतनयस्तदाऽऽगत्य हिमालयम् ॥ १५ ॥
उत्पाट्य हिमवच्छृङ्गं दोर्भ्यामादाय मारुतिः ।
वीरभद्रासङ्गमेऽतिश्रान्तः संस्थाप्य तं गिरिम् ॥ १६ ॥
संस्थाप्य तु महालिङ्गं नाम्ना हनुमदीश्वरम् ।
विश्राम्य सलिलं पीत्वा दोर्भ्यामादाय तं गिरिम् ॥ १७ ॥
विहायसगतिः शीघ्रं हनूमान् वायुनन्दनः ।
ततः प्रभृति तज्जातं हमुमत्तीर्थमुत्तमम् ॥ १८ ॥
येऽत्र स्नानं करिष्यन्ति सङ्गमेऽतिसुदुर्लभे ।
न द्रक्ष्यन्ति मनुष्यास्ते भास्करेर्मुखपङ्कजम् ॥ १९ ॥
प्रातः स्नानं करिष्यन्ति ये नरा भक्तिसंयुताः ।
धनयुक्ता भविष्यन्ति कृतार्थाः स्वर्गगामिनः ॥ २० ॥
किञ्चिद्दूरे सङ्गमस्य यज्ञभूमिं मनोहराम् ।
विधाय मुनिभिः सार्द्धं वाजपेयमथाकरोत् ॥ २१ ॥
यज्ञं समाप्य वाल्मीकिर्नवनाडीमयं गिरिम् ।
आरुरोह द्विजश्रेष्ठो मुनिभिर्मुनिसत्तमः ॥ २२ ॥
कटके तस्य शैलस्य नानानिर्झरशोभिते ।
लिङ्गं संस्थापयामास वाल्मीकीश्वरसंज्ञितम् ॥ २३ ॥
स्थापयित्वा महालिङ्गं वाल्मीकिर्मुनिसत्तमः ।
स्वाश्रमे तमसातीरे ययौ मुनिगणैर्वृतः ॥ २४ ॥

बाँधना प्रारम्भ किया । उस समय पवनपुत्र हिमालय आये तथा हिमालयके शृङ्गको उखाड़कर एवं दोनों हाथोंसे लेकर वे मारुति थककर वीरभद्राके संगमपर, उस पर्वतको रखकर, थकान दूर करने लगे । उस समय उन्होंने एक विशाल लिंग स्थापित किया—जिसका नाम हनुमदीश्वर लिंग हुआ । ततः विश्राम करके जल पीकर पुनः उक्त पर्वतको लेकर पक्षीकी गतिसे शीघ्र वे वायुनन्दन चले । उस समयसे यह उत्तम हनुमत्तीर्थ हुआ ॥ १५-१८ ॥ जो इस अति दुर्लभ संगममें स्नान करेंगे । वे मनुष्य सूर्यके मुख-कमलको नहीं देखेंगे—अर्थात्—मुक्ति पायेंगे । भक्तिभावसे जो नर यहाँ प्रातः स्नान करेंगे वे धनवान् होकर—कृतार्थ होकर—स्वर्गको चले जायेंगे ॥ १९-२० ॥ इस संगमके थोड़ी दूरपर मनोहर यज्ञभूमि रचकर वाल्मीकि मुनिने मुनियोंके साथ वाजपेय यज्ञ किया । यज्ञ समाप्त करके वे मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि, द्विजश्रेष्ठ, अन्य मुनियोंके साथ नवनाड़ीवाले पर्वतपर गये । उक्त पर्वतके नितम्बभागमें जो अनेक झरनोंसे शोभित था । उन्होंने एक लिंग स्थापित किया जो वाल्मीकीश्वर लिंग कहलाता है । मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिने लिंग स्थापित करके, मुनिगणोंके साथ अपने तमसातटपर स्थित आश्रमपर

वाल्मीकीश्वरमालोक्य वाग्विभूतिः प्रजायते ।
अतो वागीश्वरं लिङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २५ ॥
आषाढे पौर्णमास्यां वै वागीश्वरविलोकनात् ।
अक्षयः स्वर्गवासः स्याज्जैमिने मुनिसत्तम ॥ २६ ॥
एवं ते कथितं विप्र किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
कथयिष्यामि तत् सर्वं नावाच्यं विद्यते क्वचित् ॥ २७ ॥

जैमिनिरुवाच—

अच्युतः सुमतिं हत्वा ब्रह्महत्यां सुदारुणाम् ।
लब्ध्वा देशान् स बभ्राम किमकारि सुरस्ततः ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ब्रह्महत्याऽभिभूतेऽस्मिन् जाते नारायणे प्रभो ।
त्रैलोक्यं तापयामास चण्डः परमकोपनः ॥ २९ ॥
सुमतेर्वधसन्तप्तः प्रत्यहं दितिजाधिपः ।
देवान् विद्रावयामास देवाः सर्वे पलायिताः ॥ ३० ॥
अलब्धरक्षास्ते देवा ब्रह्माणं शरणं ययुः ।
तुष्टुवुर्वाग्भिरिष्टाभिर्देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ ३१ ॥
तुष्टो ब्रह्मा प्रत्युवाच सर्वानेव दिवौकसः ।
किमागमनकृत्यं वः कथ्यतां पुरतो मम ॥ ३२ ॥

आगमन किया । वाल्मीकीश्वर महादेवके दर्शनसे वाणीका ऐश्वर्य बढ़ता है । अतः इस लिंगको विद्वान् लोग वागीश्वर लिंग कहते हैं । आषाढ़की पौर्णमासीको दर्शन करनेसे, हे जैमिने (हे मुनिसत्तम) अक्षय स्वर्ग निवास प्राप्त होता है ॥ २१-२६ ॥ हे विप्र, इस प्रकार मैंने तुम्हें उपर्युक्त वर्णन बता दिया । अब दूसरा क्या श्रवण करना चाहते हो ? वह सब मैं तुमसे बतला दूँगा—क्योंकि कुछ भी पदार्थ मेरे पास तुम्हारे लिये अकथनीय नहीं है ॥ २७ ॥ जैमिनिने पूछा—हे मार्कण्डेयमुने, अच्युत (विष्णु) भगवान्ने सुमतिको मारकर, ब्रह्महत्या प्राप्तकर, अनेक देशोंमें भ्रमण किया । उस समय देवताओंने क्या किया ? ॥ २८ ॥ मार्कण्डेयमुनि बोले—नारायणके ब्रह्महत्यापीडित होनेपर, परमक्रोधी चण्डने तीनों लोकोंको पीडित किया सुमतिके वधसे सन्तप्त उस चण्डने नित्य सब देवोंको भगाना शुरू किया । देवता सब भाग गये और रक्षा रहित होकर ब्रह्माके समीप गये । इन्द्रको आगे करके देवोंने इष्ट वाणियोंसे ब्रह्माकी स्तुति की ॥ २९-३१ ॥ सन्तुष्ट होकर ब्रह्माने सब देवोंसे पूछा—आप लोग किस कार्यसे आये हैं ? मेरे समक्ष कहें ॥ ३२ ॥ देवोंने कहा—हे ब्रह्माजी, चण्डके द्वारा अपदस्थ हम लोग आपके शरणमें

देवा ऊचु—

हृताधिकाराँश्चण्डेन त्वां प्रभो शरणं गतान् ।
अव नः कृपया ब्रह्मन् त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ३३ ॥

ब्रह्मोवाच—

जानामि हृद्गतां पीडां भवतां सुरसत्तमाः ।
श्लेष्मान्तकवनात् पूर्वं रक्तचन्दनकाननम् ॥ ३४ ॥
तद्वृक्षस्थां महादेवीं शरणं यान्तु देवताः ।

मार्कण्डेय उवाच—

नत्वा ब्रह्मपदाम्भोजं रक्तचन्दनकाननम् ॥ ३५ ॥
यावद्गच्छन्ति ते देवास्तावद्वै नारदो मुनिः ।
सर्वान् देवान् परित्यज्य चण्डासुरपुरं ययौ ॥ ३६ ॥
आगतं नारदं श्रुत्वा चण्डो दैत्याधिपस्तदा ।
संत्यज्य चासनं चैव सपर्यापात्रसंयुतः ॥ ३७ ॥
सत्कृतं नारदमुनिं कृतासनपरिग्रहम् ।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ दनुजाधिपः ॥ ३८ ॥
कुत आगम्यते ब्रह्मन् किमपूर्वं विलोकितम् ।
पवित्रीकृतमस्माकं भवनं मुनिसत्तम ॥ ३९ ॥
याताः कृतार्थास्तु वयं दर्शनेन तवाधुना ।
किमागमनकृत्यं ते वद सर्वं करोम्यहम् ॥ ४० ॥

नारद उवाच ।

श्रुत्वा चण्डासुरवचो नारदः प्राह दानवम् ।
शूरोऽसि कृतविद्योऽसि शिवभक्तोऽसि दानव ॥ ४१ ॥

आये हैं। अब हमारे परमरक्षक, गतिदायक आप ही हैं ॥ ३३ ॥ ब्रह्माने कहा—हे देवश्रेष्ठो, आपके हृदयोंकी पीड़ा जानता हूँ। श्लेष्मान्तक वनके पूर्वभागमें रक्तचन्दनवन है। उसमें वृक्षस्थित देवीकी शरण तुम लोग लो। (ब्रह्माके इस उत्तरपर) देवता ब्रह्माजीको प्रणाम करके रक्तचन्दन वनको गये ॥ ३४-३५ ॥ ज्योंही देवगण उस वनको जाने लगे त्योंही नारदजी सब देवोंको छोड़कर चण्डासुरके नगरको गये ॥ ३६ ॥ नारदजीको आया देखकर दैत्यपतिने आसन छोड़कर पूजापात्र लेकर नारदजीका पूजन किया तथा आसन आदिपर विभूषित किया। ततः विनययुक्त उस दैत्येशने पूछा—॥ ३७-३८ ॥ हे नारदजी, आप कहाँसे आये हैं? क्या अपूर्व वस्तु (मार्गमें) देखी? हे मुने, आपने मेरा आश्रम पवित्र किया है। अधुना हम आपके दर्शनसे कृतार्थ हैं। आप आगमनकार्यको कहें—मैं सब कार्य कर दूँगा। चण्डके वचन श्रवणकर नारदजी बोले—हे दानव, तुम शूर हो, कृतविद्य हो तथा शिवभक्त हो ॥ ३९-४१ ॥ तुमने देवोंको वश

त्रैलोक्यं च वशं जातं देवताश्च वशीकृताः ।
नारायणोऽपि विमुखः समरे ते बभूव हि ॥ ४२ ॥
कुबुद्धयः सुराः सर्वे वधार्थं तव दानव ।
मन्त्रयामासुरत्युच्चैर्ब्रह्मणो निकटेऽधुना ॥ ४३ ॥
शूरं त्वां शिवभक्तं च ज्ञात्वा दानवसत्तम ।
दया तु हृदये जाता तदर्थमिह चागतः ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

नारदस्य वचः श्रुत्वा जैमिने मुनिसत्तम ।
जातः परमसंत्रासश्चण्डदैत्यस्य तत्क्षणात् ॥ ४५ ॥
आस्थाय धैर्यं परमं चण्डो वचनमब्रवीत् ।
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवितं मम ॥ ४६ ॥
मां विलोक्य यतो जाता भवतः करुणा मुने ।
कथयाशु समस्तं मे देवानां चरितं प्रभो ॥ ४७ ॥
श्रुत्वा प्रतिक्रियां तस्य करिष्ये मुनिसत्तम ।
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य नारदः प्राह दानवम् ॥ ४८ ॥
शृणु दानव वक्ष्यामि मन्त्रणां हि सुपर्वणाम् ।
दत्तदुःखास्त्वया देवा ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ ४९ ॥
तुष्टो ब्रह्मा प्रत्युवाच श्रूयतां वचनं मम ।
चण्डासुरवधोपायो गोपनीयः प्रयत्नतः ॥ ५० ॥
श्लेष्मान्तकवनात् पूर्वं रक्तचन्दनकाननम् ।
अस्ति दिव्यं महत् स्थानं तत्र चम्पकपादपः ॥ ५१ ॥

किया तथा तीनों लोकपर विजय की । नारायण भी समरमें तुमसे विमुख हो गये । हे दानव, कुबुद्धिमान् सब देवतोंने तुम्हारे वधार्थ ब्रह्माके निकट जाकर उच्चतासे मन्त्रणा की है । हे दानवश्रेष्ठ, तुम्हें शूर और शिवभक्त जानकर हृदयमें दया आ गयी । अतः मैं तुम्हें बतानेके लिए आ गया ॥ ४२-४४ ॥ नारदके वचन श्रवणकर, हे जैमिने, हे मुनिश्रेष्ठ, चण्ड दैत्यको उसी क्षण बड़ा त्रास हुआ । धैर्य धारणकर चण्ड बोला—मैं धन्य हूँ । कृतकृत्य हूँ । मेरा जीवन सफल है ॥ ४५-४६ ॥ हे मुने, मुझे देखकर आपको दया आ गयी । शीघ्र, हे प्रभो, देवोंके चरित सुनाइये ॥ ४७ ॥ हे मुने, उस वृत्तको श्रवणकर उसकी प्रतिक्रिया करूँ । दानवके वचन श्रवणकर नारदजी दैत्यसे बोले-॥४८॥ हे दानव, मैं देवोंके विचार सुनाता हूँ, तुम सुनो । तुमसे सताये हुए देवता लोग ब्रह्माजी-के शरणमें गये ॥ ४९ ॥ देवोंपर सन्तुष्ट ब्रह्माने कहा—हे देवो, मेरे वचन सुनो । चण्ड असुरके वधके उपाय गुप्त रखना चाहिये ॥ ५० ॥ श्लेष्मान्तक वनके पूर्वभागमें लाल-चन्दन वन है वहाँ चम्पक वृक्ष बड़ा दिव्य स्थान है ॥ ५१ ॥ वह चम्पक वृक्ष वनके

महाँस्तद्वनमध्यस्थस्तन्मध्ये जगदम्बिका ।
तां यात शरण यूयं सा वः कार्यं विधास्यति ।। ५२ ।।
इत्युक्त्वा देवताः सर्वा ब्रह्माऽप्यन्तर्हितोऽभवत् ।
सर्वे देवा गतास्तत्र मया च तव सन्निधौ ।। ५३ ।।
समागतं दैत्यपते कुरु कार्यमनन्तरम् ।
इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र नारदो यत्र देवताः ।। ५४ ।।
दैत्योऽपि दुःखितो भूत्वा चिन्तयामास मन्त्रिभिः ।
देवताः सकलाः शीघ्रं गत्वा श्लेष्मान्तकं वनम् ।। ५५ ।।
वाग्वत्यां सरिति स्नात्वा दृष्ट्वा पशुपतिं प्रभुम् ।
गुह्येश्वरीं समालोक्य गोकर्णेशं विलोक्य च ।। ५६ ।।
दृष्ट्वा वज्रां ततो देवा दोलागिरिमथारुहत् ।
नारायणमथा दृष्ट्वा तथा वागीश्वरं विभुम् ।। ५७ ।।
गरुडोड्डीनमार्गेण देवतास्तद्ववनं ययुः ।
भक्तियुक्ताः सुराः सर्वे तुष्टुवुर्जगदम्बिकाम् ।। ५८ ।।
नारायणि जगन्मातः शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरणं ते प्रपन्नाः स्मः पाहि नः शरणागतान् ।। ५९ ।।
हिमालयगिरेः कन्ये शिववक्षः—स्थलस्थिते ।
भवसागरमग्नाँस्त्वं पाहि दानवसूदिनि ।। ६० ।।
माहेश्वरि जगद्धात्रि सृष्टिस्थित्यन्तकारिणि ।
भक्तानुकम्पिनि शिवे पाहि नः शरणागतान् ।। ६१ ।।

मध्यमें है । उस वृक्षके मध्यभागमें जगदम्बिकाका निवास है । उसकी शरण तुम लोग जाओ । वह तुम्हारा कार्य करेगी ।। सब देवताओंसे ऐसा कहकर ब्रह्माजी अन्तर्हित हो गये । सब देवता उस वनको गये और मैं तुम्हारे समीप आया हूँ ।। ५२-५३ ।। हे दैत्यपते ! समागत कार्यको करो । ऐसा कहकर देवताओंके समीप नारदजी चले गये ।।५४।। वह दुःखी होकर मन्त्रियोंके साथ विचार करने लगा । सब देवता शीघ्र श्लेष्मान्तक वनको पहुँचे । वहाँ जाकर उन्होंने वाङ्मती नदीमें स्नान किया तथा पशुपतिका दर्शन किया । गुह्येश्वरीका दर्शन करके, गोकर्णेशका दर्शन करके, वज्रादेवीका दर्शन करके, देवगण दोलागिरिपर चढ़े । नारायण, वागीश्वरप्रभुके दर्शन करके वे लोग गरुड़के उड्डीन मार्गसे उस वनको गये । वहाँ लालचन्दनवनमें जाकर उन लोगोंने भक्तिसे भगवतीकी वन्दना की ।।५५-५८।। हे नारायणि, हे जगन्मातः, हे शिवे, हे सर्वार्थसाधिके, देवि, हम आपकी शरणमें हैं । हम शरणागतोंकी रक्षा करिये ।। हे हिमालय पर्वतकी पुत्रि, हे शिवजीके वक्षःस्थलपर स्थित होनेवाली, हे दानवनाशिनि, भवसागरमें डूबनेवाले हम लोगोंकी रक्षा करें । हे माहेश्वरि, हे जगद्धात्रि, हे सृष्टि-पालननाशिनि, हे भक्तानु-

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च न तेऽन्तं वेत्ति चण्डिके ।
के वराका वयं सर्वे त्वां स्तोतुं जगदम्बिके ॥ ६२ ॥
चण्डासुरप्रतप्तानां सर्वेषां त्वं महेश्वरि ।
शरणं भव कल्याणि चण्डं नाशय दानवम् ॥ ६३ ॥
एवं स्तुता सुरैर्देवी तदा चम्पकवृक्षतः ।
बहिर्बभूव सहसा देवानां दृष्टिगोचरा ॥ ६४ ॥
दृष्ट्वा सर्वे प्रणेमुस्ते भक्त्या माहेश्वरीं सुराः ।
धूपैश्च धूपयामासुः पुष्पैर्नानाविधैस्तदा ॥ ६५ ॥
पूजयामासुरत्युच्चै नैवेद्यैर्बहुविस्तरैः ।
तुष्टा भगवती प्राह किमागमनकारणम् ॥ ६६ ॥
ब्रूत वत्साः कुतो जाता विपत्तिर्वा भवादृशाम् ।
प्रश्नं यावद्गिरिसुता करोति त्रिदशान् प्रति ॥ ६७ ॥
तावत् कोलाहलो देवैः श्रुतोऽतीव भयानकः ।
निरूपयन्ति ते देवा यावत् कोलाहलं महत् ॥ ६८ ॥
दानवाधिपतेर्घोरं सर्वदेवभयावहम् ।
दृष्ट्वा तत् सैन्यमतुलं देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ ६९ ॥
पक्षिरूपं समास्थाय दुद्रुवुस्ते दिशो दश ।
इन्द्रो रूपं समास्थाय मायूरमतिसुन्दरम् ॥ ७० ॥
एकः पलायनं चक्रे सर्वदेवान् विहाय च ।
वायसं रूपमास्थाय यमः परमभीयुतः ॥ ७१ ॥

कम्पिनि, हे शिवे, हम शरणागतोंकी रक्षा करें ॥ हे चण्डिके, ब्रह्मा-विष्णु-शिव आपके अन्तको नहीं जानते । हम तुच्छ जन आपकी स्तुति, हे देवि, कैसे कर सकते हैं । चण्डासुरसे क्लेशित हम सबका हे देवि, कल्याण करें—चण्डका नाश करें ॥ ५९-६३ ॥ इस प्रकार देवस्तुति प्राप्त देवी चम्पक वृक्षसे अकस्मात् बाहर आयीं और देवताओंके सामने दिखायी पड़ीं ॥ देवीको देखकर सब देवोंने भक्तिसे प्रणाम किया धूप जलायी गयीं, अनेक पुष्प चढ़ाये गये । उच्चस्वरसे मन्त्र पढ़े गये । बहुपदार्थवाले नैवेद्य अर्पित किये गये । सन्तुष्ट होकर देवीने पूछा—आप लोगोंके आगमनका क्या कारण है ? ॥६४-६६॥ हे पुत्रो, आप ऐसे देवोंको विपत्ति कैसे तथा कहाँसे आयी ? ऐसा प्रश्न देवताओंके प्रति गिरिजा कर रही थीं । उसी समय देवोंने महान् भयंकर कोलाहल सुना । देवगण जब बड़े कोलाहलका निरूपण कर रहे थे । इसी समय देवोंको भयदायक, दैत्यपतिकी विशाल सेना दीख पड़ी । इन्द्र प्रमुखवाले वे देवगण पक्षियोंका रूप धारणकर दशों दिशाओं में भाग गये । इन्द्रने सुन्दर मोरका रूप धारण किया । तथा सब देवोंको छोड़कर वहाँसे भाग गये । भयभीत यमराजने कौएका रूप धारण कर, चण्डकी सेनासे

मुने दुद्राव वेगेन चण्डसैन्यविलोकनात् ।
चन्द्रश्चकोररूपेण पलायनपरोऽभवत् ॥ ७२ ॥
जीवञ्जीवकरूपेण रविणा च पलायितम् ।
हंसरूपं समास्थाय वरुणोऽपि पलायितः ॥ ७३ ॥
क्रौञ्चरूपं समास्थाय वायुर्भेजे दिशो दश ।
ईशेन वकरूपेण तपोधन पलायितम् ॥ ७४ ॥
नानापक्षिस्वरूपेण सर्वदेवैः पलायितम् ।
मुने भगवती शीघ्रं चम्पकाभ्यन्तरं ययौ ॥ ७५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भययुक्त होकर, हे मुने, जल्दीसे वहाँसे भागना शुरू किया ॥ चन्द्र भी चकोर रूपधरकर भाग गये ६७-७२ ॥ जीवञ्जीवक रूप धरकर सूर्य भागे । हंसरूपसे वरुण भागे । क्रौञ्चका रूपकर पवन दश दिशाओंमें भागे । हे तपोधन, बगुलाके रूपमें महादेवजी भागे । अनेक देवता अनेक पक्षियोंके रूपोंमें वहाँसे भागे । हे मुने, भगवती देवी शीघ्र चम्पक वृक्षमें घुस गयीं ॥ ७३-७५ ॥

●

चतुर्थोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच ।

मार्कण्डेय मुनिश्रेष्ठ देवलोके पलायिते ।
किं चकार तदा चण्डः सर्वसैन्यसमन्वितः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच ।

पलायिते सुरगणे पक्षिरूपेण जैमिने ।
सर्वसैन्ययुतश्चण्डः प्रययौ चम्पकं तरुम् ॥ २ ॥
दृष्ट्वा सपर्यासम्भारं सर्वदेवविवर्जितम् ।
देवैश्च रचितं दृष्ट्वा चिन्तयामास दानवः ॥ ३ ॥

ऋषि जैमिनिने कहा— हे मार्कण्डेय, हे मुनिश्रेष्ठ, जब देवगण भाग गये, तब सर्व सैन्य युक्त उस चण्डने क्या किया—॥ १ ॥ मार्कण्डेयमुनिने कहा—हे जैमिने, पक्षिरूप में देवोंके भागनेपर सर्वसैन्य युक्त चण्ड चम्पक वृक्षके समीप गया ॥ २ ॥ उसने वहाँ पूजा सामग्रीसे युक्त देवताओंसे रहित चम्पक वृक्ष देखा—वहाँ देवोंने अबीर आदिसे

अयं सपर्यासम्भारो मद्वधार्थं सुरैः कृतः ।
पूजिता च महादेवी साऽप्यत्रापि न दृश्यते ॥ ४ ॥
प्रायशश्चम्पकतरुं प्रविष्टा सिंहवाहिनी ।
विहाय पूजासम्भारं देवैरपि पलायतम् ॥ ५ ॥
योत्स्ये चण्डिकया सार्द्धं यावन्नो बलसंयुता ।
जायते तावदेवाशु कर्तव्या हि प्रतिक्रिया ॥ ६ ॥
इति कृत्वा मतिं दैत्यः खड्गेन दृढविक्रमः ।
चिच्छेद चम्पकतरुं बहिर्याता महेश्वरी ॥ ७ ॥
सायुधाष्टभुजा देवी कोटिसूर्यसमप्रभा ।
सिंहारूढा महादेवी दैत्यं दृष्ट्वा जहास ह ॥ ८ ॥
दैत्यो गिरिसुतां दृष्ट्वा प्राह दानवपुङ्गवान् ।
गृह्यतां दानववरा इयं परमसुन्दरी ॥ ९ ॥
सुकुमारशरीरेऽस्याः प्रहारो नैव दानवाः ।
कर्तव्यः सहसा भव्या तस्मादेषा प्रगृह्यताम् ॥ १० ॥
इत्याज्ञां चण्डदैत्यस्य लब्ध्वा दैत्या महाबलाः ।
अभ्यधावन् शिवां धर्तुं नारीबुद्ध्या दुराशयाः ॥ ११ ॥
आगतान् दानवान् दृष्ट्वा हुंकारेण तथाऽम्बिका ।
भस्मीचकार कोपेन निःश्वासान् मुमुचेऽथ सा ॥ १२ ॥

चौक पूरा था। तब उसने सोचा ॥ ३ ॥ इस पूजाकी सामग्रीका आनयन देवोंने मेरे वधार्थ किया था। पूजिता देवी भी यहाँ नहीं दीखती ॥ ४ ॥ वह सिंहपर आरूढ़ होनेवाली, प्रायः इसी वृक्षमें प्रविष्ट हो गयी है। पूजा सामग्री त्यागकर देवगण भी भाग गये हैं ॥ ५ ॥ मैं तबतक उसके साथ लड़ूँगा जबतक वह देवी मेरे वशमें नहीं हो जाती है। ऐसा करना ही उन देवोंके साथ बदला लेना है ॥ ६ ॥ ऐसी बुद्धि करके उस दैत्यने तेज खड्गसे, दृढ़ पराक्रमसे, चम्पक वृक्ष काट दिया। तब महेश्वरी बाहर आ गयीं ॥ ७ ॥ कोटिसूर्यसमप्रभा, सिंहारूढ़ा, शस्त्रयुक्ता, अष्टभुजा देवीने दैत्यको देखा और हँसीं ॥ ८ ॥ दैत्यपतिने देवीको देखकर दानवश्रेष्ठोंसे कहा—हे श्रेष्ठ दानवो, इस परमसुन्दरीको पकड़ लो ॥ ९ ॥ इसके कोमल शरीरपर प्रहार मत करो। हे दानवो, एकाएक इसे पकड़ लो। हे दानवो! इसे चोट न लगे—ऐसा कार्य करो ॥१०॥ महाबली दैत्योंने स्वामीकी आज्ञा प्राप्तकर, नारीको पकड़नेमें कितनी देर लगेगी ही ऐसा सोचकर, उन दुष्टोंने शिवाको पकड़नेके लिये दौड़ लगायी ॥ ११ ॥ दैत्योंको आते हुए देखकर देवीने हुँकार किया ओर वे दैत्य भस्मीभूत हो गये। इसके बाद क्रोधसे देवी निःश्वास छोड़ने लगीं ॥ १२ ॥ देवीके निःश्वाससे वहाँ बलिष्ठ गण उत्पन्न हो गये। वे, नाना-

निःश्वासेभ्यो गणा जाता महाबलपराक्रमाः ।
युयुधुस्ते तदा दैत्यैर्नानाशस्त्रास्त्रपाणयः ॥ १३ ॥
ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैस्तुरगाणां खुराहतैः ॥ १४ ॥
आच्छन्नाश्च दिशः सर्वा दृश्यते नैव किञ्चन ।
अभवच्चाकुलं सैन्यं पांसुभिश्च गजोद्धुतैः ॥ १५ ॥
क्षतजेन क्षणात् जाता नदी परमदारुणा ।
शूराणां हर्षजननी भीरूणां भयवर्द्धिनी ॥ १६ ॥
यमद्वारे महाघोरे दैत्यप्राणहराऽभवत् ।
रजःशान्तिस्तदा जाता सूर्योऽपि परिदृश्यते ॥ १७ ॥
देवीगणैर्दैत्यबलं भग्नं परमदारुणम् ।
भग्नं दैत्यबलं दृष्ट्वा चण्डः परमदारुणः ॥ १८ ॥
अभ्ययाद्रथवेगेन दारयन्निव मेदिनीम् ।
चण्डो ववर्ष समरे शायकैरतिदारुणैः ॥ १९ ॥
चिच्छेद बाहून् केषां–चिद्गणानामतिदारुणः ।
शिरश्चिच्छेद केषां–चिल्लघुहस्तः प्रतापवान् ॥ २० ॥
ऊरूँश्चिच्छेद केषां–चिच्छरैराशीविषोपमैः ।
स्वबलं भग्नमालोक्य देवी परमकोपना ॥ २१ ॥
अभ्ययादतिवेगेन चण्डं हन्तुं महाबलम् ।
चण्डोऽपि रथवेगेन अभ्ययाद्गिरिजां तदा ॥ २२ ॥

शस्त्रोंको हाथमें लिये हुए, गण लोग, दैत्योंसे लड़ने लगे ॥ १३॥ तब अति भयंकर लोमहर्षण युद्ध हुआ । रथोंके पहियोंसे तथा घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी धूलसे दिशाएँ व्याप्त हो गयीं—कुछ भी दिखाई नहीं देता था ॥ हाथियोंकी फेंकी धूलसे सेना व्याकुल हो हो गयी ॥ १४-१५ ॥ शूरोंको हर्षदात्री, भीरुओंको भयदात्री विशाल नदी, कटी हुई लाशोंके रक्तसे, बह चली । वह नदी, ऐसी ज्ञात होती थी, मानों, महा भयंकर यम द्वारपर दैत्य प्राणहरा कोई राक्षसी ही है । देवीके गणोंने दैत्यसेना नष्ट कर दी । फिर धूल रहित दिशाएँ हो गयो, सूर्य भी दीखने लगा । परमदारुण दैत्यसेनाको भग्न देखकर ॥ १६-१८ ॥ रथके वेगसे पृथ्वीको तोड़ते हुएके समान, चण्ड दैत्य समरमें आया और अतिभीषण बाण वर्षा करने लगा ॥ १९ ॥ उसने किसीकी बाहें, किसीके शिर तोड़ दिये । उस प्रतापी लघुहस्त (निपुण) ने किसीकी जाँघे सर्पके समान बाणोंसे काट दीं । देवीने अपनी सेनाको नष्ट होते देखकर बड़े क्रोधसे अति वेगके साथ महाबली चण्डको मारनेके लिए धावा बोला । चण्ड भी वेगशाली रथसे देवीकी ओर झपटा ॥२०-२२॥

आगतं दैत्यमालोक्य देवी सस्मितमब्रवीत् ।
युध्यस्वाद्य मया सार्द्धं स्थिरो भूत्वा महासुर ॥ २३ ॥
इदानीं नाशयिष्यामि युद्धश्रद्धां महासुर ।
देवीवाक्यं समाकर्ण्य दानवो वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

दैत्य उवाच ।

तिष्ठ तिष्ठ रणे देवि मा शिवे गर्वमावह ।
त्वया हताः सदा दैत्या देवानुग्रहकारणात् ॥ २५ ॥
मयाऽद्य दर्शनं जातं युद्धश्रद्धां हरामि ते ।
शरैर्ववर्ष तां देवीमित्युक्त्वा दैत्यपुङ्गवः ॥ २६ ॥
शरास्त्रं तस्य चिच्छेद गिरिजा किल लीलया ।
देवीमुक्तान्छराँश्चापि चिच्छेद दनुजाधिपः ॥ २७ ॥
महास्त्रानपि चिच्छेद देवीमुक्तान् दनोः सुतः ।
दैत्यमुक्तानि शस्त्राणि देवी चिच्छेद लीलया ॥ २८ ॥
यतः परमसंक्रुद्धो दानवाधिपतिः शरैः ।
अर्दयामास गिरिजां दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ २९ ॥
ततः परमसंक्रुद्धा दानवेन्द्रस्य चण्डिका ।
धनुश्चिच्छेद बाणेन शरेणैकेन सारथेः ॥ ३० ॥
शिरश्चिच्छेद वेगेन ध्वजं बाणैरपातयत् ।
स च्छिन्नधन्वा दनुजो मुद्गरं घोरदर्शनम् ॥ ३१ ॥

दैत्यको देखकर देवीने हँसकर कहा—हे महासुर, आज सावधान होकर मेरे साथ लड़ो । हे महासुर, आज मैं तुम्हारे युद्ध प्रेमको नष्ट कर दूँगी । देवीके वाक्य सुनकर दैत्य चण्ड बोला—॥ २३-२४ ॥ हे देवि, ठहरो, ठहरो, रणमें, हे शिवे, गर्व मत करो । तुमने सदा देवोंकी कृपापर दैत्य मारे हैं । मैंने आज तुम्हारा दर्शन किया है । तुम्हारा युद्धप्रेम नष्ट करता हूँ । ऐसा कहकर उस श्रेष्ठ दैत्यने देवीके ऊपर बाणवर्षा शुरू कर दी ॥ २५-२६ ॥ गिरिजाने उसका बाण और अस्त्र काट दिया । उस दैत्मपतिने भी देवीके चलाये बाणोंको काट दिया । दैत्येशने देवीके छोड़े बड़े शस्त्रोंको भी काट दिया । दैत्य प्रेरित शस्त्रोंको देवीने सरलतासे ही काट दिया ॥२७-२८ ॥ तब दैत्येशने अपना हस्तलाघव दिखाते हुए, बड़े क्रोधसे, बाणोंसे देवीको पीड़ा दी ॥ २९ ॥ ततः दानवेन्द्रपर परम क्रुद्धा चण्डिकाने क्रोध करके बाणसे उसका धनुष काट दिया । एक अन्य बाणसे सारथीका शिर तोड़ दिया ॥ ३० ॥ फिर वेगसे बाणोंके द्वारा उसकी ध्वजा काट दी । तब छिन्न धनुषवाले उस दैत्यने भयंकर मुद्गर घुमाकर, देवीको मारनेके लिए, वहाँ आगमन किया । अति भयंकर मुद्गर देखकर उस परम कोपना देवीने बाणोंसे उसके हस्तस्थ मुद्गरको तिल-तिल (चकनाचूर) कर दिया । मुद्गर

भ्रामयित्वाऽभ्ययाद्वेगाद्देवीं हन्तुं महाबलः ।
दृष्ट्वाऽतिमुद्गरं घोरं देवी परमकोपना ॥ ३२ ॥
चिच्छेद तिलशस्तस्य हस्तस्थं मुद्गरं शरैः ।
छिन्ने च मुद्गरे दैत्यः खड्गं चर्म प्रगृह्य च ॥ ३३ ॥
अभ्ययादतिसंक्रुद्धश्चण्डिकाऽपि शितैः शरैः ।
खड्गं चर्म प्रचिच्छेद सायकैरप्यपीडयत् ॥ ३४ ॥
मत्वाऽऽत्मानं हीनबलं तां च मत्वा बलाधिकाम ।
महादेववरं स्मृत्वा स्त्रीवध्यत्वं स दानवः ॥ ३५ ॥
ज्ञात्वा प्रोवाच गिरिजां भक्तिमास्थाय चातुलाम् ।
न प्राकृताऽसि गिरिजे त्वां जानामि महेश्वरीम् ॥ ३६ ॥
आद्या शक्तिस्त्वमेवासि त्वया सृष्टं जगत्रयम् ।
त्वया च निहता दैत्या देवानुग्रहकारणात् ॥ ३७ ॥
हन्तव्योऽहं त्वया देवि जानाम्येतन्न संशयः ।
यावत् स्नात्वा महादेवी लिङ्गं संस्थापयाम्यहम् ॥ ३८ ॥
तावत् त्वमत्र समरे मद्वाक्यात् तिष्ठ चण्डिके ।
मां हत्वा तिष्ठ देवि त्वं रक्तचन्दनकानने ॥ ३९ ॥
नाम्ना चण्डेश्वरी भूत्वा भवानुग्रहकारिणी ।

मार्कण्डेय उवाच ।

दानवेन्द्रवचः श्रुत्वा प्राह पर्वतनन्दिनी ॥ ४० ॥

नष्ट होनेपर दैत्यने खड्ग और ढाल (चमड़ेकी) ले ली ॥३१-३३ ॥ वह अतिक्रो देवीकी ओर दौड़ा । चण्डिकाने तेज बाणोंसे उसका खड्ग तथा ढाल काट दी बाणोंसे उसे पीड़ा दी ॥ ३४ ॥ अपनेको हीन बलशाली, उस देवीको अति बल शालि समझकर तथा शंकरजीके वरको स्मरणकर, स्त्रीसे मृत्युको सोचकर, उस दानवे अतुल भक्तिसे देवीसे कहा—हे देवि, आप साधारण नहीं हैं । आपको महेश्वरी जान हूँ । आप आद्या शक्ति हैं आपने तीनों लोक रचा है । देवोंपर कृपा करके आपने दै को मारा है ॥ ३५-३७॥ हे देवि, मैं तुम्हारे द्वारा मारा जाऊँगा । यह मैं जानता इसमें सन्देह नहीं है । हे चण्डिके, जबतक मैं स्नान करके लिंग स्थापन करके आता तबतक तुम यहाँ समरमें मेरे कहनेपर ठहरो । हे देवि, मुझे मारकर तुम रक्त च वनमें स्थित होवो । संसारपर अनुग्रहकारिणी चण्डेश्वरी नामसे यहाँ रहो । दानवे वचन श्रवणकर पर्वतपुत्री बोलीं—॥३८-४०॥ हे दानवेन्द्र, तुमने परम दुर्लभ ज्ञान किया है । हे असुरश्रेष्ठ, कोई भी जीव सर्वदा नहीं रहता । जो कुछ पदार्थ दृश्य श्राव्य है वह नश्वर जानो । हे दानव, तुम्हें शिवलिङ्गस्थापनाकी चिन्ता नहीं हो

दानवेन्द्र त्वया लब्धं ज्ञानं परमदुर्लभम् ।
न स्थास्यन्त्यसुरश्रेष्ठ प्राणिनः केऽपि सर्वदा ॥ ४१ ॥
दृश्यं श्राव्यं च यत् किञ्चिन्नश्वरं विद्धि दानव ।
शिवलिङ्गस्थापनेऽपि न ते चिन्ताऽस्तु दानव ॥ ४२ ॥
मया हतेऽसुरश्रेष्ठ शरीराल्लिङ्गमुत्तमम् ।
भविष्यत्यत्र सुखदं दिव्यं चण्डेश्वराभिधम् ॥ ४३ ॥
चण्डेश्वरीति ते नाम्ना स्थास्याम्यत्रासुरोत्तम ।
त्वां हत्वा समरे तीक्ष्णं भक्तानुग्रहकाम्यया ॥ ४४ ॥
श्रुत्वा गिरिसुतावाक्यं ततो दानवपुङ्गवः ।
हर्षं च परमं लेभे रणे विक्रममादधौ ॥ ४५ ॥
उत्पाट्य पादपं दैत्यो भ्रामयित्वा महाबलः ।
चिक्षेप गिरिजां हन्तुं ननाद सुमहत् स्वनम् ॥ ४६ ॥
आपतन्तं तरुं दृष्ट्वा ततस्तु गिरिनन्दिनी ।
विच्छेद तिलशो बाणैः पश्यतस्तस्य तत्क्षणात् ॥ ४७ ॥
चूर्णीकृतं तरुं दृष्ट्वा ततो दानवपुङ्गवः ।
उत्पाट्य महतीं गुर्वीं शिलां परमयत्नतः ॥ ४८ ॥
चिक्षेप भ्रामयित्वोच्चैर्जगर्ज च महाबलः ।
आपतन्तीं शिलां दृष्ट्वा ततो भगवती रुषा ॥ ४९ ॥
चिच्छेद शायकैर्वेगात् खण्डं खण्डं तपोधन ।
शिलां च विफलां दृष्ट्वा दैत्यः परमकोपनः ॥ ५० ॥
आययौ मुष्टिमुद्यम्य देवीं हन्तुं कृतश्रमः ।
समायान्तं ततो दृष्ट्वा दानवं सुरदुर्जयम् ॥ ५१ ॥

चाहिये । हे असुरश्रेष्ठ, मेरे द्वारा मारे जानेपर तुम्हारे शरीरसे उत्तम लिंग यहाँपर सुखद, दिव्य चण्डेश्वर नामक होगा। मैं भी, हे असुरोत्तम, तुम्हारे लिए चण्डेश्वरी नामसे यहाँ पर रहूँगी। भक्तोंके अनुग्रहके लिए समरमें तुम्हें तीक्ष्णतासे मारकर मैं यहाँ रहूँगी ॥ ४१-४४ ॥ पार्वतीके वाक्य श्रवणकर दानवेशने परमानन्द प्राप्त किया और रणमें पराक्रम स्वीकार किया ॥ ४५ ॥ दैत्यने वृक्ष उखाड़कर, घुमाकर, गिरिजाको मारनेके लिये फेंका तथा बड़े जोरसे किलकारा ॥४६॥ उस दैत्यके देखते हुए, तत्क्षण पार्वतीने उस वृक्षको आते हुए देखकर, बाणोंसे चूर-चूरकर दिया। वृक्षको चूर्णीकृत देखकर दानवराजने एक बड़ी भारी शिला उखाड़कर देवीके ऊपर फेंकी तथा वह बलिष्ठ उच्चतासे गरजा। हे तपोधन, आती हुई उस शिलाको देखकर भगवतीने क्रोधसे शीघ्र ही बाणोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। शिलाको विफल देखकर दैत्यने परमक्रोधसे देवीको मुक्कासे मारनेका श्रम किया। तब देवीने देवोंसे दुर्जय उस चण्डको आते हुए देखकर

शूलेन हृदयं भित्त्वा पातयामास भूतले ।
चालयन् सकलां पृथ्वीं ससरिद्वनपर्वताम् ॥ ५२ ॥
पपात धरणीपृष्ठे वज्राहत इवाचलः ।
ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहस्तदा ॥ ५३ ॥
आसन् मार्गवहा नद्यः सुप्रभश्च दिवाकरः ।
अग्नयो जज्वलुस्तत्र हते तस्मिन् दुरात्मनि ॥ ५४ ॥
अस्य दैत्यस्य देहात् तु तेजोरूपमनुत्तमम् ।
जातं लिङ्गं महापुण्यं नाम्ना चण्डेश्वराभिधम् ॥ ५५ ॥
ये द्रक्ष्यन्ति नरा लिङ्गं रक्तचन्दनकानने ।
तेषां हस्तगता सिद्धिर्भविष्यति न संशयः ॥ ५६ ॥
एवं चण्डासुरवधं कृत्वा सा शैलनन्दिनी ।
भक्तलोकहितार्थाय स्थिता तत्रैव कानने ॥ ५७ ॥
अद्यापि वर्तते तत्र रक्तचन्दनपादपः ।
कृते प्रहारे निनदः श्रूयते नरशब्दवत् ॥ ५८ ॥
वैशाखपौर्णमास्यां तु देव्या चण्डासुरो हतः ।
अतो महोत्सवस्तस्या रक्तचन्दनकानने ॥ ५९ ॥
तस्यां यात्रा नरैः कार्या देवीसन्तोषहेतवे ।
वैशाखपौर्णमास्यां तु चण्डेशीप्रीतये तदा ॥ ६० ॥
दानं कुर्वन्ति ये भक्त्या तेषां स्वर्गो न संशयः ।
चण्डेश्वर्या महायात्रां ये द्रक्ष्यन्ति नरा भुवि ॥ ६१ ॥

त्रिशूलसे उसके हृदयको वेधकर पृथ्वीपर गिरा दिया । नदी, वन, पर्वत सहित सम
पृथ्वीको हिलाता हुआ वह चण्ड दैत्य ऐसा गिरा जैसे पर्वतपर बिजली गिरी हो । त
सुखस्पर्श, पुण्यगन्धवाली वायु बह चली ॥ ४७-५३ ॥ सूर्य प्रभायुक्त हुआ । नदि
मार्गमें बहने लगीं—कुमार्गमें नहीं । अग्नि जलने लगीं । उस दुरात्माके मरणपर स
ठीक हुआ ॥ ५४ ॥ उसके शरीरसे जो अनुपम तेज निकला । वह चण्डेश्वर नामक मह
पुण्यशाली लिङ्ग हुआ ॥ ५५ ॥ जो मनुष्य लाल चन्दनवनमें उसका दर्शन करते हैं
उनके हस्तगत सिद्धि रहती है—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५६ ॥ इस प्रकार पार्वती
लोकहितार्थ चण्डासुर वध करके उसी वनमें निवास करना प्रारम्भ किया ॥ ५७ ॥ आ
भी वहाँ लाल चन्दनका वृक्ष है जो ताडन करनेपर मनुष्यकी-सी ध्वनि करता है ॥५८
वैशाख पूर्णिमाको देवीने चण्डासुरको मारा था । अतः रक्त चन्दनकाननमें उस
महोत्सव उसी दिन होना चाहिये ॥ ५९ ॥ देवीके सन्तोषार्थ मनुष्योंको उसी दिन या
करनी चाहिये । अर्थात्—वैशाखपूर्णिमाके दिन यात्रा करें ॥ ६० ॥ चण्डेशी देवी
प्रीतिके लिये उस दिन जो दान करते हैं—भक्तिसे द्रव्य देते हैं । उन्हें निःसन्देह स्व

श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं महापापौघनाशनम् ।
वेदान्तवेत्ता विप्रः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ।।
धनधान्ययुतो वैश्यः शूद्रः सद्गतिमाप्नुयात् ।। ६२ ।।
इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे देवीप्रादुर्भावो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

मिलता है । जो नर पृथ्वीपर चण्डेश्वरीकी यात्रा देखते हैं ।। ६१ ।। इस पापपुंजनाशक अध्यायको सुनते हैं वे निम्नफल पाते हैं । यदि वह विप्र हो तो वेदान्तवेत्ता, क्षत्रिय हो ता विजयी, वैश्य हो तो धनधान्यशाली, शूद्र हो तो सद्गति पाता है ।। ६२ ।।

पञ्चमोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच—

हते चण्डासुरे देव्या किमकारि सुरैस्ततः ।
तत्तत् सर्वं समाचक्ष्व मार्कण्डेय तपोधन ।। १ ।।

मार्कण्डेय उवाच—

चण्डासुरं हतं दृष्ट्वा देव्या परमदुर्जयम् ।
पक्षिरूपं परित्याज्यागच्छँश्चण्डेश्वरीं तदा ।। २ ।।
भक्तियुक्ताः सुराः सर्वे पूजयामासुरम्बिकाम् ।
पूजिता च महादेवी देवैर्धूपादिविस्तरैः ।। ३ ।।
निवासमकरोत् तत्र रक्तचन्दनकानने ।
देवाश्चापि ततो दृष्ट्वा क्षेत्रं परमदुर्लभम् ।। ४ ।।
स्वस्वनामाङ्कितं लिङ्गं स्थापयामासुरेव हि ।
धनेशः स्थापयामास धनेश्वरमिति ध्रुवम् ।। ५ ।।

जैमिनिने कहा—देवीके द्वारा चण्डासुरके मारे जानेपर देवोंने क्या किया ? हे तपोधन, मार्कण्डेय, यह वृत्त पूर्णतया मुझसे कहो ।। १ ।। मार्कण्डेयमुनिने कहा—देवीके द्वारा अति दुर्जन चण्डासुर मारा गया । यह जानकर सब देवता पक्षी रूप त्यागकर देवीके समीप आये ।। २ ।। सब देवोंने भक्तिसे देवीका पूजन किया । देवोंसे धूपादिसे पूजित देवी रक्त चन्दन वनमें रहने लगीं । देवताओंने भी परम दुर्लभ क्षेत्र देखकर, वहांपर अपने-अपने नामांकित लिंग स्थापन कर दिये । कुबेरने धनेश्वरलिङ्ग स्थापन

धनेश्वरमहालिङ्गं ये द्रक्ष्यन्ति कलौ युगे ।
ते धनाढ्या भविष्यन्ति तपोधन न संशयः ॥ ६ ॥
कामधेनुस्ततो लिङ्गं सर्वकामफलप्रदम् ।
नाम्ना संस्थापयामास खुरेश्वरमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
खुरेश्वरस्य ये भक्ता भविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
गोवृद्धिरतुला तेषां भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥
श्लेष्मान्तकवनात् पूर्वं गणना मुनिसत्तम ।
रक्तचन्दननाम्नोऽस्य वनस्य क्रियते नृभिः ॥ ९ ॥
ततः पर्वतमुल्लङ्घ्य कौशिक्याः संगमे शुभे ।
रोषमत्याः सङ्गमे च विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥ १० ॥
स्वनाम्ना स्थापयामास भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
कौशिकी सरितां श्रेष्ठा महापातकनाशिनी ॥ ११ ॥
विश्वामित्रस्य भगिनी नृणां दुर्मतिनाशिनी ।
तस्यास्तीरे महालिङ्गं विश्वामित्रेश्वरं शुभम् ॥ १२ ॥
शिवरात्रिचतुर्दश्यां ये द्रक्ष्यन्ति मुनीश्वर ।
चतुर्वर्गोदयस्तेषां शीघ्रमेव न संशयः ॥ १३ ॥
श्लेष्मान्तकवने क्षेत्रगणनाऽस्य न जायते ।
ततः परमसन्तुष्टो देवैः सह पुरन्दरः ॥ १४ ॥
नीरामत्या रोषमत्याः सङ्गमे सुमनोहरे ।
इन्द्रेश्वरमहालिङ्गं स्थापयामास सिद्धिदम् ॥ १५ ॥

किया ॥ ३-५ ॥ धनेश्वर नामक बड़े लिङ्गका जो कलियुगमें दर्शन करते हैं । वे लोग, हे तपोधन, धनवान् हो जाते हैं - इसमें सन्देह नहीं ॥ ६ ॥ कामधेनुने सर्वकाम फलप्रद खुरेश्वर नामक लिङ्ग स्थापन किया ॥ ७ ॥ जो नर उत्तम खुरेश्वर लिङ्गके भक्त हैं । वे नरोत्तम हो जाते हैं । उनकी गो-वृद्धि अतुल हो जाती हैं—इसमें सन्देह नहीं ॥ ८ ॥ श्लेष्मान्तक वनसे पूर्व, हे मुनिश्रेष्ठ, रक्तचन्दन वनकी गणना मनुष्य करते हैं ॥ ९ ॥ रक्त चन्दनवन लांघकर शुभ कौशिकीके संगममें तथा रोषमतीके संगममें विश्वामित्र मुनिने—॥ १० ॥ भुक्तिमुक्तिप्रद अपने नामवाले लिङ्गका स्थापन किया है । महापातक नाशिनी कौशिकी नामक नदी है । वह नदियोंमें श्रेष्ठा है । वह विश्वामित्रकी बहन मनुष्योंकी दुर्मतिका नाश करती है उसके तटपर भी विश्वामित्रने शुभलिङ्ग—विश्वामित्रेश्वर—स्थापन किया है ॥ ११-१२ ॥ शिवरात्रि वा चतुर्दशीको जो नर दर्शन करते हैं । हे मुनीश्वर, उनका शीघ्र चतुवर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) उदय हो जाता है—वे समृद्ध हो जाते हैं—इसमें सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥ श्लेष्मान्तक वनमें इसकी क्षेत्रगणना नहीं है । तब इन्द्र देवोंके साथ परमप्रसन्न हो गये ॥ १४ ॥ नीरामती

इन्द्रेश्वरस्य ये भक्ता भविष्यन्ति तपोधन ।
तेषां समृद्धिरतुला भविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥
ज्येष्ठमासे पौर्णमास्यां स्नानं कृत्वा तु सङ्गमे ।
इन्द्रेश्वरं च द्रक्ष्यन्ति तेषां स्वर्गो न संशयः ॥ १७ ॥
इन्द्रेश्वरस्य ये भक्ता भविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
तेषामिन्द्रः स्वयं तुष्टः प्रदास्यति मनोरथान् ॥ १८ ॥
चण्डासुरवधोत्पन्न—हर्षनिर्भरमानसाः ।
त्रिदशाः शैलमुत्तीर्य सरितोः सङ्गमे शुभे ॥ १९ ॥
आशापूरेश्वरं लिङ्गं स्थापयामासुरुत्तमम् ।
ततो देवा वचः प्राहुः सन्तुष्टा द्विजसत्तम ॥ २० ॥
आशापूरेश्वरं लिङ्गं द्रक्ष्यन्ति मनुजा भुवि ।
तेषां नराणां सततमाशा पूर्णा भविष्यति ॥ २१ ॥
इत्युक्त्वा देवताः सर्वाः स्वधामानि ययुस्तदा ।
इति ते सर्वमाख्यातं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ २२ ॥

जैमिनिरुवाच—

त्वत्तः श्रुता कथा ब्रह्मन् सर्वपापविनाशिनी ।
अन्यानि मुख्यस्थानानि कथयाशु मम प्रभो ॥ २३ ॥
निर्गतं त्वन्मुखाम्भोजात् कथामृतरसं प्रभो ।
पिबतो नास्ति मे तृप्तिः श्रोतुं श्रद्धा हि जायते ॥ २४॥

रोषमती नदियोंके संगममें उन्होंने सिद्धिप्रद इन्द्रेश्वर महालिङ्ग स्थापन किया ॥ १५ ॥ हे तपोधन, जो नर इन्द्रेश्वरके भक्त होते हैं। वे अतुल सम्पत्ति—शाली होते हैं—इसमें सन्देह नहीं है ॥ १६ ॥ जो ज्येष्ठमासकी पूर्णिमाको संगम—स्नान करके इनका पूजन करते हैं—वे अवश्य स्वर्ग जाते हैं ॥ १७ ॥ हे नरोत्तमो, जो इन्द्रेश्वरके भक्त होते हैं। उन्हें, इन्द्र प्रसन्न होकर मनोरथसिद्धि देता है ॥ १८ ॥ चण्डासुरवधसे उत्पन्न हर्ष युक्त चित्तवाले देवगण पर्वतसे उतरकर नदियोंके शुभ संगमपर गये ॥ १९ ॥ वहाँ उन्होंने आशापूरेश्वर लिङ्ग स्थापन किया। देवताओंने प्रसन्न होकर कहा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, जो मनुष्य पृथ्वीपर उत्तम आशापूरेश्वरका दर्शन करेंगे। उन नरोंकी आशा निरन्तर पूर्ण होगी ॥ २०-२१ ॥ ऐसा कहकर सब देवता अपने धामको चले गये। इस प्रकार मैंने तुमसे सब कह दिया। हे जैमिनि, अन्य क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २२ ॥ जैमिनिने कहा—हे मार्कण्डेय, हे प्रभो, हे ब्रह्मन्, सर्वपापविनाशिनी कथा आपसे सुनकर—प्रसन्न हूँ। कृपया, अन्य मुख्यस्थानोंके वर्णन करें ॥ २३ ॥ आपके मुखारविन्दसे निकले कथामृतरसको पीते हुए तृप्ति मुझे नहीं होती। सुननेकी इच्छा बढ़ती जाती है ॥ २४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

सन्ति तीर्थान्यनेकानि श्लेष्मान्तकवने मुने ।
मुख्यानि तानि स्थानानि तथाऽपि कथयामि ते ॥ २५ ॥
अस्ति वाराणसी नाम पुरी शङ्करपालिता ।
यस्यां पुर्यां तनुत्यागान्मुक्तिमाप्नोति मानवः ॥ २६ ॥
यस्यामासीद्द्विजश्रेष्ठः प्रियातिथिरिति स्मृतः ।
तस्य भार्या गुणवती शीलौदार्यसमन्विता ॥ २७ ॥
पतिव्रता महाभागा सर्वलक्षणलक्षिता ।
चत्वारस्तनयास्तस्य मुनेर्जातास्तपोधन ॥ २८ ॥
मेधातिथिर्गुणनिधिर्भरतो मलयस्तथा ।
त्रयः स्वाध्यायनिरताः पितृभक्ता गुणैर्युताः ॥ २९ ॥
कनिष्ठो मलयो दुष्टो बभूव गुणवर्जितः ।
सदा द्यूतप्रियश्चौरः पिशुनः परवञ्चकः ॥ ३० ॥
वारितो बहुधा यत्नैर्मात्रा पित्रा च बन्धुभिः ।
न सद्वृत्तो यदा जातः पित्रा त्यक्तस्तदा सुतः ॥ ३१ ॥
ततस्तु मलयो दुष्टो वेश्यागामी बभूव ह ।
चौर्येण वा वञ्चनेन साधयित्वा ततो धनम् ॥ ३२ ॥
वेश्यायै सर्वदाऽयच्छत् कर्मचाण्डालतां गतः ।
एकदा मलयो रात्रौ क्रीडन् वै वेश्यया सुखम् ॥ ३३ ॥

मार्कण्डेयने कहा—हे मुने, श्लेष्मान्तक वनमें अनेक तीर्थ हैं । उनमें मुख्य स्थानोंका वर्ण करता हूँ ॥ २५ ॥ शङ्कर—पालिता वाराणसी नगरी है । जिस पुरीमें शरीर त्यागने मनुष्य मुक्ति पाता है ॥२६॥ उस नगरीमें प्रियातिथि नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण था । शील औदार्य युक्ता गुणवती उसकी पत्नी थी ॥ २७ ॥ हे तपोधन, सर्वलक्षणा, महाभाग पतिव्रता उस स्त्रीके गर्भ—से मुनिसे उत्पन्न, चार पुत्र थे ॥ २८ ॥ उनके नाम—मेधाति गुणनिधि, भरत और मलय थे । तीन पितृभक्त, गुणवान्, स्वाध्यायसें रत थे ॥ २९ छोटा मलय, गुणरहित, दुष्ट था । वह सदा जुआ खेलता, चोरी करता, ठगता, चुग करता था ॥ ३० ॥ माता-पिता-बन्धुओंने उसे बहुत बार रोका । किन्तु—जब सदाचारी न हुआ तो पिताने उसे त्याग दिया ॥ ३१ ॥ अनन्तर वह दुष्ट मलय वेश्य गामी हो गया । चोरीसे ठगीसे धन लाकर सदा वेश्याको देता था । कर्मसे वह चाण्डा हो गया ॥ एक समय वह मलय रातमें वेश्याके साथ सुख भोग रहा था तथा थका था उसने धोखेसे शराब पी ली । दूसरा ही स्वाद लगनेपर उसने वेश्यासे उसी पूछा—॥ ३२--३४ ॥ पानीके धोखे, हे सुभगे, मैंने यह क्या अद्भुत पदार्थ

श्रान्तो जलभ्रमवशाद्वारूणीं सहसा पपौ ।
अन्यादृशं स्वादु लब्ध्वा वेश्यां पप्रच्छ तत्क्षणात् ॥ ३४ ॥
सुभगे सलिलभ्रान्त्या किं पीतमिदमद्भुतम् ।
पात्रं दृष्ट्वा ततो वेश्या प्राह तं द्विजसत्तम ॥ ३५ ॥
त्वया पीता सुरा दुष्ट मम पात्रस्थिताऽशुभा ।
वेश्यावचनमाकर्ण्य दुःखितो मलयोऽभवत् ॥ ३६ ॥
चिन्तयामास हृदये परं निर्वेदमास्थितः ।
प्राप्तं द्विजकुले जन्म काश्यां विश्वेशसन्निधौ ॥ ३७ ॥
नाधीता हि मया वेदा न च तप्तं महत् तपः ।
नाराधितोऽपि विश्वेशो मणिकर्ण्यां निमज्जनम् ॥ ३८ ॥
न कृतं न च दानानि दत्तान्यपि कदाचन ।
द्यूतेऽनुरागो मे जातः प्रीतिर्वेश्याजने तथा ॥ ३९ ॥
वारुणी च मया पीता कथं मे निष्कृतिर्भवेत् ।
अतो ह्यात्मविशुद्ध्यर्थं महापातकनाशिनीम् ॥ ४० ॥
स्नातुं सचैलो यास्यामि सर्वथा मणिकर्णिकाम् ।
इति चिन्तापरो भूत्वा लज्जामुत्सृज्य तत्क्षणात् ॥ ४१ ॥
मलयः प्रययौ शीघ्रं स्नातुं श्रीमणिकर्णिकाम् ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चापि समावृताम् ॥ ४२ ॥
ततो ददर्श मलयः सुपुण्यां मणिकर्णिकाम ।
ब्राह्मणा यत्र कुर्वन्ति स्नानं परमपावनाः ॥ ४३ ॥
तत्रैव प्रययौ विप्रः स्नानार्थं मलयो मुने ।
समीपमागतं दृष्ट्वा मलयं दोषसागरम् ॥ ४४ ॥

लिया, तब वेश्याने पात्र देखकर कहा—हे द्विजोत्तम, दुष्ट, तुमने शराब जो मेरे अपवित्र बर्तनमें थी, पी ली । वेश्याके वचन श्रवणकर मलय बड़ा दुःखी हुआ । सोचने लगा, चित्तमें बड़ी ग्लानि आयी । मैंने काशीमें विश्वनाथजीके समीप ब्राह्मणवंशमें जन्म लिया ॥ ३५–३७ ॥ न मैंने वेद पढ़े, न कठिन तप ही किया । न विश्वनाथकी आराधनाकी । न मैंने मणिकर्णिका स्नान किया ॥ ३८ ॥ न मैंने दान दिया, न पुण्य किया । मेरा अनुराग जुएमें और प्रेम वेश्यामें हुआ ॥ ३९ ॥ मैंने शराबतक पी ली, अब कैसे प्रायश्चित्त हो । अतः आत्मशुद्धिके लिये महापाप—नाशिनी मणिकर्णिका स्नानके लिये सवस्त्र चलता हूँ ॥ इस प्रकार चिन्तातुर हो उसने लज्जा तत्क्षण छोड़ दी ॥४०-४१॥ स्नानके लिये मलय शीघ्र मणिकर्णिका गया । वहाँपर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र एकत्र थे ॥ ४२ ॥ मलयने पुण्यप्रदा मणिकर्णिका देखी । परमपावन विप्र जहाँ स्नान कर रहे थे ॥ ४३ ॥ हे मुने, स्नानके लिये मलय वहाँ ही गया । समीपमें आये हुए दूषणशील

चुकोप ब्राह्मणः कश्चिदुवाचेदं वचः पुनः ।
पापिष्ठ दुष्ट मलय वेश्यागामिन् नराधम ॥ ४५ ॥
स्पर्शं मा कुरु विप्राणां दूरेऽपसर लम्पट ।
इति विप्रवचः श्रुत्वा मलयः प्राह तं द्विजम् ॥ ४६ ॥
गच्छापसर विप्र त्वं किं कोपं कुरुषे मयि ।
मलयस्य वचः श्रुत्वा ब्राह्मणः प्राह तं पुनः ॥ ४७ ॥
लब्धं विप्रकुले जन्म द्यूतक्रीडारतः सदा ।
कृत्वा च वेश्यागमनं पीत्वा हालां नराधम ॥ ४८ ॥
मणिकर्णीं समायातस्त्यक्तलज्जोऽसि लम्पट ।
पवित्रान् ब्राह्मणान् दृष्ट्वा कथं मूढ न लज्जसे ॥ ४९ ॥
इति विप्रवचः श्रुत्वा मलयो लज्जयाऽन्वितः ।
स्नात्वा सचैलो झटिति ततो विश्वेश्वरं ययौ ॥ ५० ॥
दृष्ट्वा विश्वेश्वरं देवं मुक्तिमण्डपमागतः ।
पठतो वेदवेदाङ्गान् पुराणानि च तापसान् ॥ ५१ ॥
मुक्तिमण्डपमध्यस्थान् ददर्श द्विजपुङ्गवान् ।
तान् दृष्ट्वा दण्डवद्भूमौ प्रणम्य निजगाद ह ॥ ५२ ॥
अहं प्रियातिथेः पुत्रः कनिष्ठो मलयः स्मृतः ।
न वेदाः पठिताश्चापि विश्वेशः पूजितो न च ॥ ५३ ॥
द्यूतक्रीडा कृता नित्यं प्रीतिर्वेश्याजनेषु च ।
अज्ञानाद्वारुणी पीता जलभ्रान्त्या तपोधनाः ॥ ५४ ॥

मलयको देखकर एक विप्र क्रुद्ध हो गया और यह वचन बोला—पापिष्ठ, दुष्ट, म वेश्यागामी, नराधम, लम्पट स्पर्शमत करो ब्राह्मणोंको न छुओ, दूर जाओ । इस प्र विप्रवचन श्रवणकर मलय, विप्रसे बोला—हे विप्र, जाओ, दूर हटो, तुम मुझपर क्रोध करते हो ? मलयके वचन श्रवणकर विप्र पुनः बोला—ब्राह्मणकुलमें उपत्न तुम सदा जुआमें रत हो। वेश्यागमन करके सुरा पीकर हे नराधम, मणिकर्णिका हो । हे लम्पट तुम्हें लज्जा नहीं । पवित्र विप्रोंको देखकर, हे मूर्ख, तुम क्यों नहीं ल होते हो ? ॥ ४४-४९ ॥ इस प्रकार विप्र वचन श्रवणकर लज्जायुक्त मलय कपड़े स्नान करके विश्वनाथजीको गया ॥ ५० ॥ विश्वनाथके दर्शन करके मुक्ति आया । जहाँ तपस्वी वेदवेदांग-पुराण पढ़ रहे थे । मुक्तिमण्डपमें स्थित श्रेष्ठ ब्रा देखकर भूमिपर दण्डवत् करके बोला ॥ ५१-५२ ॥ मैं प्रियातिथिका कनिष्ठ पुत्र हूँ । मैंने न वेद पढ़े—न विश्वनाथकी पूजा की ॥५३॥ मैंने नित्य जुआ खेला, वेश्य साथ प्रेम किया । हे तपोधनो भूलसे जलके स्थानमे शराब भी पी ली ॥५४॥ आप

प्रायश्चित्तं ददध्वं तु येन शुद्धिर्भवेन्मम ।
भवन्तो निपुणाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ५५ ॥
अतिदीने कृपां यूयं कुरुध्वं मयि सर्वथा ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा न कश्चित् किञ्चदब्रवीत् ॥ ५६ ॥
मद्यपानं ब्राह्मणस्य सदाऽत्यन्तं विगर्हितम् ।
तन्मध्ये ब्राह्मणः कश्चिदुवाच मलयं ततः ॥ ५७ ॥
शुष्कां यष्टिमिमां धृत्वा तीर्थानि भ्रम यत्नतः ।
भविष्यत्यङ्कुरोऽस्याश्च यदा ब्राह्मणबालक ॥ ५८ ॥
अङ्कुरं त्वं विलोक्यैवं ततः शुद्धो भविष्यसि ।
परिहासेन स प्राह नास्य शुद्धिर्भविष्यति ॥ ५९ ॥
मलयस्तथ्यमेवेदं चिन्तयामास तत्क्षणात् ।
ततो विश्वेश्वरं नत्वा विप्राँश्चैव पुनःपुनः ॥ ६० ॥
गृहीत्वा मलयो यष्टिं तीर्थयात्रां जगाम ह ।
भ्रमँस्तीर्थान्यनेकानि मलयो वत्सरत्रयम् ॥ ६१ ॥
श्लेष्मान्तकवनं प्रापद्देवानामपि दुर्लभम् ।
स्नानं विधाय वाग्वत्यां दृष्ट्वा पशुपतिं प्रभुम् ॥ ६२ ॥
वज्रां विलोक्य तदनु दृष्ट्वा नारायणं प्रभुम् ।
आशापूरेश्वरं द्रष्टुं प्रविवेश महावनम् ॥ ६३ ॥
शैलाधस्तान्निधायाशु शुष्कयष्टिं ततो भुवि ।
स्नानं करोति मलयस्तावज्जातोऽङ्कुरोदयः ॥ ६४ ॥

वेद वेदांगज्ञ हैं । मुझे प्रायश्चित्त-विधान बता दें । जिससे मेरी शुद्धि हो जाये ॥ ५५ ॥ मुझ अति दीनपर आप कृपा करें । इस प्रकार उसके वचन सुनकर कोई भी कुछ न बोला ॥ ५६ ॥ उन्हीं विप्रोंमेंसे एक विप्र बोला—मद्यपान विप्रोंके लिये सदा निषेध है । इस सूखी लाठीको लेकर तीर्थोंमें जाओ । हे विप्रपुत्र, जब इसमें अंकुर निकल आवे । तब तुम अंकुर देखकर शुद्ध हो जाओगे । अन्य प्रकारसे तुम शुद्ध न होगे परिहासपूर्वक उसने ऐसा कह दिया । सुरापानकी शुद्धि नहीं होती ॥ ५७-५९ ॥ मलयने उस बातको सत्य माना और वह विश्वनाथको, विप्रोंको बार-बार प्रणाम करके छड़ीको लेकर तीर्थयात्राको चल पड़ा । मलय, तीन वर्षतक, अनेक तीर्थोंमें घूमा । तत्पश्चात् वह श्लेष्मान्तक वनमें पहुँचा जो देवोंको भी दुर्लभ है । वाङ्मतीमें स्नान करके उसने पशुपतिका दर्शन किया । वज्रादेवीके दर्शनके बाद नारायणका दर्शन किया । आशापूरेश्वरके दर्शनार्थ वनमें गया ॥ ६०-६३ ॥ उसने पहाड़के नीचे पृथ्वीपर छड़ी रख दी तथा ज्योंही उसने स्नान किया त्योंही वह छड़ी अंकुरित हो गयी । परम अधम, मलयने उसे, अंकुर युक्त, देखकर

जाताङ्कुरं ततो दृष्ट्वा मलयः परमाधमः ।
पूतं मेने तदाऽऽत्मानं परां प्रीतिमवाप च ॥ ६५ ॥
हृदये चिन्तयामास मलयो हर्षनिर्भरः ।
इदं पवित्रं परमं स्थानमत्यन्तदुर्लभम् ॥ ६६ ॥
अत्रैवाराधयिष्यामि व्रतस्थोऽहं महेश्वरम् ।
इति निश्चित्य मलयः स्थितस्तत्रैव कानने ॥ ६७ ॥
उग्रं नियममास्थाय तपस्तेपे सुदारुणम् ।
ततोऽस्य तपसा तुष्टो भगवान् पार्वतीपतिः ॥ ६८ ॥
भूमिं भित्त्वा महालिङ्गमुदतिष्ठत् तपोधन ।
मलय त्वं पवित्रोऽसि वरं वरय सुव्रत ॥ ६९ ॥
आकर्ण्य शम्भोस्तद्वाक्यं दण्डवत् प्रणिपत्य च ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं मलयोऽतिशुभाशयः ॥ ७० ॥
अत्र डोलेश्वरो नाम्ना भूत्वा शङ्कर सर्वदा ।
भक्तानामभयार्थाय तिष्ठ त्वं परमेश्वर ॥ ७१ ॥
मलयस्य समाकर्ण्य वचनं पार्वतीपतिः ।
प्राह तं मलयं तुष्टः स्थास्याम्यत्रैव कानने ॥ ७२ ॥
द्रक्ष्यन्ति कार्त्तिके ये मां मानवा भक्तिपूर्वकम् ।
तेषां कैलासवासो हि नात्र कार्या विचारणा ॥ ७३ ॥
धारातीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा डोलेश्वरं विभुम् ।
मल्लोकमाप्नुयाद्धीरः सर्वथा नात्र संशमः ॥ ७४ ॥

अपनेको पवित्र माना तथा परम प्रसन्न हुआ ॥ ६४-६५ ॥ हर्षित मलयने चि
विचार किया । यह स्थान अति पवित्र परम दुर्लभ है । मैं यहाँ ही व्रतस्थ होकर शिव
की उपासना करूंगा । ऐसा सोचकर मलय उसी वनमें स्थित हो गया ॥ ६६-६७
कठिन नियमोंका पालन करते हुए उसने तपस्या की । तब उसकी तपस्यापर पार्वती
प्रसन्न हो गये । हे तपोधन, भूमिको तोड़कर एक विशाल लिङ्ग ऊपर आया । उ
लिङ्गसे शब्द हुआ—हे मलय, तुम पवित्र हो, वरदान मांगो—॥ ६८-६९ ॥ शिवजी
ऐसे वचन श्रवणकर, दण्डवत्-प्रणाम करके अति शुभाशयवान् सुव्रत-मलयने हाथ जोड़
कहा—॥ ७० ॥ हे परमेश्वर, शङ्कर, यहाँ डोलेश्वर नामसे स्थित होकर आप भक्तो
अभयदान देनेके लिये सदा रहें ॥ ७१ ॥ पार्वतीपतिने मलयके वचन श्रवणकर कहा
हे मलय, मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । अतः तुम्हारे प्रीत्यर्थ मैं यहाँ ही निवास करूँगा । जो पु
भक्तिसे कार्तिकमें मेरा दर्शन करेंगे वे अवश्य कैलासवासी होंगे ॥७२-७३॥ जो नर धा
तीर्थमें स्नानकर प्रभु डोलेश्वरका दर्शन करेगा मेरे लोक में अवश्य आवेगा—इसमें स

अष्टम्यां वा चतुर्दश्यां ये मां द्रक्ष्यन्ति भक्तितः ।
तेषां भोगापवर्गस्य दाताऽहं नात्र संशयः ॥ ७५ ॥
मलय त्वं समाराध्य मां सदा भक्तिपूर्वकम् ।
योगिनामुत्तमो भूत्वा यास्यसि त्वं परं पदम् ॥ ७६ ॥
इत्युक्त्वा मलयं देवो लिङ्गेऽन्तर्धानमाययौ ।
मलयोऽपि समाराध्य डोलेश्वरमकल्मषम् ।
योगिनामुत्तमो भूत्वा जगाम परमं पदम् ॥ ७७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे डोलेश्वरप्रादुर्भावो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

नहीं ॥अष्टमी, चतुर्दशीको जो भक्तिसे मेरा दर्शन करेंगे । उनके भोग-अपवर्गका दाता मैं होऊँगा—इसमें सन्देह नहीं है ॥७४-७५॥ हे मलय, तुम भक्तिसे मेरी आराधना करके योगियों—में उत्तम होकर मेरे धाममें आओगे ॥ ७६ ॥ यह कहकर महादेवजी लिङ्गमें समा गये । मलय भी पवित्र शिवकी पूजा आराधना करके—योगियोंमें श्रेष्ठ होकर परम-पदको चला गया ॥ ७७ ॥

●

अथ षष्ठोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच ।

डोलेशात् पश्चिमे भागे प्रकाण्डवनमुत्तमम् ।
पनसैः सहकारैश्च नारङ्गैरुपशोभितम् ॥ १ ॥
वकैः कुरवकाशोकैश्चम्पकैश्च विराजितम् ।
अश्वत्थैः कोविदारैश्च न्यग्रोधैरुपशोभितम् ॥ २ ॥
मल्लिकामालती कुन्द-कुसुमैरुपशोभितम् ।
मत्तभ्रमरसंह्लादनिनादैरुपशोभितम् ॥ ३ ॥
तस्मिन् वने द्विजः कश्चिन्नाम्ना गुणनिधिर्मुनिः ।
तपसा सूर्यसङ्काशः क्षमया पृथिवीसमः ॥ ४ ॥

मार्कण्डेयजी—ने कहा—डोलेश्वरके पश्चिम भागमें उत्तम प्रकाण्ड वन है । कटहल, आम, नारंगी, बक, कुरबक, अशोक, चम्पक, पीपल, कोविदार, वटसे जो शोभित है । मल्लिका, मालती, कुन्द-पुष्प जहाँ खिल रहे हैं जिनपर भौंरे मत्त होकर गूँज रहे हैं ॥ १–३ ॥ उस वनमें एक विप्र, गुणनिधि नामक मुनि, था । जो तपसे सूर्यके

तपःस्वाध्यायनिरतो वेदवेदाङ्गपारगः ।
भार्या लीलावती तस्य मुनेः परमसुन्दरी ॥ ५ ॥
स्वामिभक्ता महाभागा सदाऽतिथ्यर्चने रता ।
प्राणनाथोऽभवत् पुत्रो मुनेः परमसुन्दरः ॥ ६ ॥
बहिश्चरः प्राण इव गुणवाँश्चारुलोचनः ।
दिने दिने वर्द्धते स शुल्कपक्षे यथा शशी ॥ ७ ॥
शिवपादाब्जनिरतो मुनिर्गुणनिधिः सदा ।
प्रकाण्डवनमाश्रित्य गत्वा पशुपतिं प्रभुम् ॥ ८ ॥
वाग्वत्याः पय स स्नात्वा दृष्ट्वा भवनमेति च ।
दृष्ट्वा पशुपतिं नित्यं पाठयामास बालकम् ॥ ९ ॥
भार्या लीलावती तस्य प्रियाराधनतत्परा ।
पालयामास तनयं स्नेहेन परमेण सा ॥ १० ॥
एकदा प्राणनाथः स बभ्राम विपिने मुदा ।
ततः पपात धरणीपृष्ठे स मुनिबालकः ॥ ११ ॥
पतितं बालकं दृष्ट्वा मुनयः स्नेहतत्पराः ।
विहाय जपयागादि बालकं द्रष्टुमाययुः ॥ १२ ॥
आश्रमेभ्यः स्त्रियः सर्वाः स्नेहाकुलितमानसाः ।
ऋष्याश्रमं हि तत् स्थानमद्यापि परिकीर्त्यते ॥ १३ ॥
पतितो बालको यत्र जैमिने मुनिसत्तम ।
अङ्के संस्थापयामासुर्बालकं मुनिसत्तमाः ॥ १४ ॥

समान तेजस्वी, क्षमासे पृथ्वी तुल्य शान्त, ॥ ४ ॥ तपः स्वाध्यायमें रत वह विप्र वेद बेदांगपारंगत था । उस मुनिकी पत्नी परम सुन्दरी लीलावती थी ॥ ५ ॥ वह सदा अतिथि पूजनमें रत, स्वामिभक्ता, महाशया थी । उस मुनिका परमसुन्दर पुत्र प्राणनाथ था ॥६॥ गुणवान्, सुन्दर लोचन, (पिता–के शरीर–से बाहर घूमनेवाले प्राण–के सदृश) वह प्राणनाथ बालक दिन-दिन ऐसे बढ़ने लगा—जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्र बढ़ता है ॥ ७ ॥ शिवचरण-कमलसेवी, मुनि-गुणनिधि सदा प्रकाण्डवनका आश्रय करके श्री पशुपति भगवान्के दर्शनार्थ वहाँ जाता था । वहाँ वह वाङ्मतीमें स्नान करके पशुपतिके दर्शन करके घर आता तथा बालकको पढ़ाता था ॥८-९॥ स्वामीके आराधनमें तत्परा, उसकी पत्नी लीलावती परम स्नेहसे पुत्रको पालती थी । एक दिन जब वह प्राणनाथ वनमें हर्षसे भ्रमण कर रहा था । तब वह वनमें पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥१०-११॥ बालकको गिरा हुआ देखकर स्नेह परिपूर्ण मुनि–गण जप-यज्ञादि छोड़कर बालकको देखने आ गये । आश्रमोंसे महिलाएँ भी सब स्नेहाभिभूतचित्तसे वहाँ आ गयीं । वह स्थान आज भी ऋष्याश्रम कहलाता है ॥१२-१३॥ हे जैमिने, हे मुनिश्रेष्ठ, उन मुनिश्रेष्ठोंने उस बालकको

व्यसुं दृष्ट्वा मुनिगणास्ततो गुणनिधिं ययुः ।
होमासक्तं गुणनिधिमूचुस्ते मुनिसत्तमाः ॥ १५ ॥
मुने गुणनिधे पुत्रस्तव यः प्रियदर्शनः ।
अकस्मात् पतितो भूमौ द्रष्टुमायाहि तं मुने ॥ १६ ॥
वज्रपातोपमं वाक्यं श्रुत्वा परमदारुणम् ।
पपात मोहितो भूमौ स मुनिः शोकमूर्छितः ॥ १७ ॥
भार्या लीलावती तस्य निर्गत्य भवनात् सती ।
पतिमुत्थापयामास शोकोपहतचेतना ॥ १८ ॥
यामो नाथ सुतो यत्र पतितो धरणीतले ।
भार्यावचनमाकर्ण्य मुनिरुत्थाय तत्क्षणात् ॥ १९ ॥
जगाम भार्यासहितो बालको यत्र संस्थितः ।
मुनीनामङ्कगं दृष्ट्वा व्यसुं बालं ततो मुनिः ॥ २० ॥
हा हेति चोक्त्वा पतितो भार्यया सहितो मुनिः ।
तत उत्थापयामासुर्मुनयो मुनिसत्तमम् ॥ २१ ॥
विललाप ततो दुःखी भार्यया सहितो मुनिः ।
प्राणनाथ कथं यासि मम प्राणान् विहाय च ॥ २२ ॥
प्राणनाथ कथं यासि विहाय किल मातरम् ।
नय मां यत्र यासि त्वं जननीमपि दुःखिताम् ॥ २३ ॥
नाकालमरणं चात्र न वा सर्पभयं भवेत् ।
न वा व्याघ्रभयं चात्र न च ग्रहभयं पुनः ॥ २४ ॥

गोदमें रख लिया । जब मुनिगणोंने उसे प्राणरहित पाया । तब वे गुणनिधिके समीप गये । हवनमें तल्लीन गुणनिधिसे मुनियोंने कहा—॥ १४-१५ ॥ हे मुने, गुणनिधे, तुम्हारा पुत्र प्रियदर्शन प्राणनाथ अकस्मात् पृथ्वीपर गिर पड़ा, उसे देखनेके लिए आओ ॥ १६ ॥ वज्र गिरनेके समान परमदारुण वचन सुनकर—मोहित होकर, वह मुनि शोकसे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १७ ॥ उसकी भार्या लीलावतीने भवनसे निकलकर शोक-विह्वल चित्तवाले पतिको उठाया ॥ १८ ॥ हे नाथ, जहाँपर बालक गिरा है वहाँ चलें । भार्याके वचन श्रवणकर मुनि उसी समय उठकर भार्यासहित जहाँ बालक था वहाँ गया । मुनियोंके गोदमें प्राण-रहित, बालकको देखकर मुनि हा, हा कहकर भार्या सहित गिर पड़ा । तब मुनियोंने उसको उठाया ॥१९-२१॥ भार्या सहित गुणनिधि-मुनि रोने लगे । हे पुत्र प्राणनाथ, मेरे प्राणोंको छोड़कर तुम कैसे जा रहे हो ? ॥२२॥ हे प्राणनाथ, माताको छोड़कर तुम कैसे जाते हो ? मुझे और दुःखिता माताको भी ले चलो ॥ २३ ॥ यहाँ अकालमरण नहीं, सर्पभय भी नहीं, सिंह भय तथा ग्रह भय भी नहीं है । मैं, अनाथोंके नाथ, जगन्नाथ, प्रभु-पशुपतिके समीप भार्या सहित, इस बालकको

अनाथनाथो जगतां नाथः पशुपतिः प्रभुः ।
भार्यया सहितो बालममुमादाय सर्वथा ॥ २५ ॥
गत्वाऽहं सर्वथा तत्र दृष्ट्वा पशुपतीश्वरम् ।
प्रायोपवेशनं कार्यं सर्वथा भार्ययाऽन्यया ॥ २६ ॥
इति दृष्ट्वा मतिं कृत्वा ततो गुणनिधिर्द्विजः ।
गृहीत्वा बालकं स्कन्धे दुःखी पशुपतिं ययौ ॥ २७ ॥
तमन्वयुर्मुनिगणाः शोकोपहतचेतसः ।
भार्या लीलावती तस्य रुदन्ती पृष्ठतो ययौ ॥ २८ ॥
लीलावतीमन्वगच्छन् मुनीनामुत्तमाः स्त्रियः ।
रुदन्त्यः करुणायुक्ताः शिवस्मरणतत्पराः ॥ २९ ॥
उत्तीर्य वाग्वतीं पुण्यां मुनयः संशितव्रताः ।
द्वारे पशुपतेर्बालं स्थापयामासुरेव हि ॥ ३० ॥
सस्त्रीका मुनयः सर्वे त्यक्तसन्ध्यादिकाक्रियाः ।
प्रायोपवेशनं चक्रुः कीर्तयन्तः सदाशिवम् ॥ ३१ ॥
तत्र प्रायोपविष्टानां मुनीनां संयतात्मनाम् ।
सप्ताहानि व्यतीतानि सस्त्रीकानां तपोधन ॥ ३२ ॥
ततः पशुपतिर्देवः प्रभुर्वीक्ष्य तपोधन ।
दध्यौ कारुणिकः श्रीमान् हेतुना केन बालकः ॥ ३३ ॥
अकाले मृत एवायं मम क्षेत्रोत्तमे मुने ।
न सर्पभयमत्रास्ति न वा व्याघ्रभयं भवेत् ॥ ३४ ॥

लेकर—जाऊँगा ॥ २४-२५ ॥ वहाँ जाकर पशुपति भगवान्के दर्शनकर, भार्यासहि उपवास करूँगा ॥ २६ ॥ ऐसा विचारकर गुणनिधि, विप्र दुःखी होकर बालकको कन्धे पर रखकर पशुपतिके समीप गया ॥ २७ ॥ शोकचित्तवाले, मुनिगण भी उसके पी गये तथा भार्या लीलावती भी पीछे-पीछे रोती हुई गयी ॥ २८ ॥ मुनियोंकी स्त्रियाँ भी लीलावतीके पीछे रोती-विलखती, शिव-शिव कहती चलीं । मुनिगण पुण्या वाङ्मतीको पारकर पशुपतिके द्वारपर गये और वहाँ बालकको धर दिया ॥ २९-३० ॥ त्यक्त संध्यादिक्रियावाले, सस्त्रीक सब मुनियोंने शिव-शिव कहते हुए उपवास करना प्रारम्भ किया ॥ ३१ ॥ जब सस्त्रीक, संयतात्मा मुनियोंके, उपवास करते हुए, सात दिन बी गये । हे तपोधन, तब पशुपति भगवानको दया आयी और उन्होंने दया करके ध्यान देखा—"क्यों यह बालक मर गया ॥ ३२-३३ ॥ हे मुने, मेरे क्षेत्रमें इसकी अका मृत्यु क्यों हो गयी । यहाँ सर्पका व्याघ्रका ग्रहोंतकका—इस परम दुर्लभ क्षेत्रमें—भय न है । अहो, मैंने कारण जान लिया । मेरा पुत्र गणनाथ है । इस पुण्यक्षेत्रके प्रेमसे मैंने उ विस्मृत कर दिया—इसमें सन्देह नहीं । उस गणनाथने प्रकाण्डवनमें आकर शीघ्रतासे, मै

ग्रहाणां न भयं चात्र क्षेत्रे परमदुर्लभे ।
ज्ञातं मया कारणं तु गणनाथः सुतो मम ॥ ३५ ॥
क्षेत्रस्नेहन च मया विस्मृतो नात्र संशयः ।
प्रकाण्डवनमागत्य गणनाथेन सत्वरम् ॥ ३६ ॥
जिज्ञासार्थं मुनेर्बालनाशो विघ्नः कृतो यतः ।
अतस्तु प्रकटः कार्यो गणनाथो न संशयः ॥ ३७ ॥
एवं विचार्य देवेशस्तदा पशुपतिः प्रभुः ।
मुनीनामग्रतस्तुष्टः प्रकटोऽभूदुमापतिः ॥ ३८ ॥
दृष्ट्वा पशुपतिं साक्षान्मुनयः संशितव्रताः ।
पेतुश्च दण्डवद्भूमौ रोम्णा चाङ्कितविग्रहाः ॥ ३९ ॥
पतितांस्तान् मुनीन् दृष्ट्वा प्रोवाच गिरिजापतिः ।
न भेतव्यं मुनिगणाः शृणुध्वं वचनं मम ॥ ४० ॥
श्लेष्मान्तकवनस्नेहान्मया पुत्रोऽपि विस्मृतः ।
दुःखाकुलितचित्तेन गणनाथेन कोपतः ॥ ४१ ॥
प्रकाण्डवनमागत्य गुप्तेन मुनिबालकः ।
मारितः प्रकटार्थं तु मम पुत्रेण तेजसा ॥ ४२ ॥
अतो बालकमादाय प्रकाण्डवनमोजसा ।
गच्छन्तु मुनयः सर्वे जीवयिष्यति बालकम् ॥ ४३ ॥
गणनाथो महातेजा नात्र कार्या विचारणा ।
उदिते तु दिवानाथे किरणः प्रथमो भुवि ॥ ४४ ॥

जिज्ञासार्थ, बालनाश कर दिया है—यह विघ्न उपस्थित कर दिया है । अतः स्पष्ट है कि यह कार्य गणनाथका है ।। ३४-३७ ।। ऐसा विचारकर शिवजी, पशुपति भगवान्, प्रसन्न होकर मुनियोंके समक्ष प्रादुर्भूत हुए" ।। ३८ ।। नियमित व्रतवाले मुनियोंने साक्षात् पशुपतिको देखकर पुलकित शरीरोंसे पृथ्वीपर दण्डवत् की ।। ३९ ।। नमित इन लोगोंको देखकर शिवजीने कहा—हे मुनियो ! मत डरो । मेरे वचन सुनो—।।४०।। श्लेष्मान्तक वनके प्रेमसे मैंने पुत्रतक विस्मृत कर दिया । इस कारणसे दुःखाकुलित चित्तसे कोप करके तेजस्वी गणनाथने प्रकाण्ड वनमें आकर गुप्तरूपसे मुनिके पुत्रको मार डाला । मेरे प्रकटार्थके लिए मेरे तेजस्वी पुत्रने यह कार्य किया है । अतः हे मुनियो, तेजके साथ बालकको लेकर सब लोग जाइये । तेजस्वी गणनाथ बालक जीवित कर देगा ।। ४१-४३ ।। गणनाथ अति दीप्तिशाली हैं—इसमें कुछ विचारिये नहीं । सूर्य उदयके समय पृथ्वीपर जहाँ प्रथम किरण (प्रकाण्ड वनमें) दीखे । मेरा पुत्र गुप्तरूपसे वहीं रहता है । इतना कहकर पशुपतिदेव अन्तर्हित हो गये ।। ४४-४५ ।। अति वेगसे, सस्त्रीक, मुनिगण

दृश्यते यत्र पुत्रो मे गुप्तरूपेण तत्र हि ।
इत्युक्त्वान्तर्हितो देवः स्वयं पशुपतिः प्रभुः ॥ ४५ ॥
मुनयोऽपि तदा बालमादायात्यन्तहर्षिताः ।
जग्मुः प्रकाण्डविपिनं सस्त्रीकाश्चातिवेगतः ॥ ४६ ॥
प्रकाण्डवनमागत्य स्थले संस्थाप्य बालकम् ।
उपवासान्मुनिगणो निशामेकां निनाय हि ॥ ४७ ॥
प्रातस्तु उदिते सूर्ये मयूखः प्रथमोऽपतत् ।
तस्मिँस्थले तदा जग्मुर्मुनयो धर्मतत्पराः ॥ ४८ ॥
अस्मिँस्थले गणाधीशो गुप्तरूपेण वर्तते ।
इति निश्चित्य मुनयोऽस्तुवन् देवं गजाननम् ॥ ४९ ॥
जय देवगणाधीश विघ्नराज नमोऽस्तु ते ।
जय त्र्यक्ष महादेवप्रियपुत्र नमोऽस्तु ते ॥ ५० ॥
नमस्ते भक्तिगम्याय देवदेवाय ते नमः ।
पार्वतीप्रियपुत्राय नमो गजमुखाय च ॥ ५१ ॥
चतुर्हस्ताय देवाय नमः परशुधारिणे ।
भक्तानां भयहन्त्रे च नमस्ते मोदकप्रिय ॥ ५२ ॥
पाशहस्त नमस्तेऽस्तु देवदेव नमोऽस्तु ते ।
अस्माकं भक्तिहीनानां बालकं जीवय प्रभो ॥ ५३ ॥
प्रकटो भव देवेन्द्र पाहि नः शरणागतान् ।
इति तेषां स्तुतिं श्रुत्वा गणनाथो महाबलः ॥ ५४ ॥

बालकको लेकर अत्यन्त हर्षित होकर प्रकाण्ड विपिनको चले गये ॥ ४६ ॥ प्रकाण्डवनमें आकर स्थलमें बालकको रखकर मुनिगणोंने एक रात उपवास करके और बिताई ॥४७॥ प्रातःकाल सूर्य उदय होनेपर सूर्यकी प्रथम किरणके आनेपर धर्ममें तत्पर सब मुनिगण वहींपर जाकर उपस्थित हुए। "इस स्थलमें गणाधीश, गुप्तरूपसे, निवास करते हैं।" ततः ऐसा निश्चित करके मुनिगण गजाननकी स्तुति करने लगे ॥४८-४९॥ हे देव, गणाधीश, विघ्नराज, आपकी जय हो, आपको नमस्कार है। हे त्रिनेत्र, हे महादेवके प्रियपुत्र, आपकी जय हो। आपको नमस्कार है ॥ ५० ॥ हे भक्तिगम्य, (भक्तिसे प्राप्य) देवदेव, हे गजमुख, हे पार्वतीपुत्र, आपको नमस्कार है ॥ ५१ ॥ हे परशुधारिन्, हे चतुर्हस्त, (चार हाथवाले) हे देव, हे भक्तिभयनाशक, हे मोदक प्रिय, आपको नमस्कार है ॥५२॥ हे देवदेव, हे पाशहस्त, हे प्रभो, हम भक्तहीनोंके बालकको जीवित कीजिये—आपको नमस्कार है ॥ ५३ ॥ हे देवेन्द्र, प्रकट होइये। हम शरणागतोंकी रक्षा कीजिये। इस प्रकार महाबली गणनाथ अपनी स्तुति सुनकर पृथ्वी तोड़कर मुनियोंके सामने ऊपर प्रकट हो गये तथा उन नियमित व्रतधारी, प्रणत मुनियोंको सामने देखकर उन्होंने

भूमिं भित्त्वोदतिष्ठद्वै मुनीनामग्रतः प्रभुः ।
ततस्तु प्रणतान् दृष्ट्वा तन्मुनीन् संशितव्रतान् ॥ ५५ ॥
गणनाथो जगादोच्चैः शृणुध्वं वचनं मम ।
रसमस्या लतायास्तु वदने बालकस्य तु ॥ ५६ ॥
स्थापयध्वं नेत्रयोश्च ममादेशान्मुनीश्वराः ।
गणनाथवचः श्रुत्वा मुनिर्गुणनिधिः स्वयम् ॥ ५७ ॥
रसं लताया वदने बालकस्य तदाऽर्पयत् ।
उत्तस्थौ सहसा बालः सुप्तोत्थितनरोपमः ॥ ५८ ॥
जयध्वनिर्मुनिमुखादुत्थितः सहसा तदा ।
पुष्पवृष्टिः पपातोर्व्यां नभसस्तु मनोहरा ॥ ५९ ॥
पुनः प्रोवाच गणपस्तान् मुनीन् हृष्टमानसान् :
वरं ब्रूत महाभाग यद्वो मनसि संस्थितम् ॥ ६० ॥
दण्डवत् प्रणिपत्योचुर्मुनयो गणनायकम् ।
अस्मिन् प्रकाण्डविपिने सदा तिष्ठ गणेश्वर ॥ ६१ ॥
मुनीनां वचनं श्रुत्वा गणेशः प्राह तान्मुनीन् ।
सूर्यावलोकनान्नाम मुने सूर्यविनायकः ॥ ६२ ॥
स्थास्याम्यत्रैव विपिने भक्तानां भयहा सदा ।
चतुर्थ्यां मङ्गलदिने ये मां द्रक्ष्यन्ति मानवाः ॥ ६३ ॥
तेषां विघ्नभयं नृणां कदाऽपि न भविष्यति ।
गणनाथप्रभावं ते विज्ञाय मुनयस्तदा ॥ ६४ ॥

(गणेशजीने) कहा—मेरे वचनको सुनो। हे मुनीश्वरो, इस लताका रस बालकके मुखपर और नेत्रोंमें मेरे आदेशसे लगा दो। गणनाथके वचन सुनकर मुनि गुणनिधिने स्वयं लताका रस बालकके मुखपर लगा दिया। तत्काल ही बालक इस प्रकार उठा, जैसे कोई नर सोकर जाग जाता है और बैठ जाता है ॥ ५४-५८ ॥ तत्काल मुनिमुखसे जयशब्द निकला। आकाशसे पृथ्वीपर मनोहर पुष्पवृष्टि हुई ॥ ५९ ॥ पुनः गणनाथने प्रसन्न चित्तवाले मुनियोंसे कहा—हे महाभागो, जो मनमें सोचा हो वह वरदान मांग लीजिये ॥ ६० ॥ दण्डवत् करके मुनियोंने कहा—हे गणेश्वर, इस प्रकाण्डवनमें आप सदा रहें ॥ ६१ ॥ उन मुनियोंके वचन श्रवणकर गणेशजीने स्वयं कहा—हे मुने, सूर्यके अवलोकनसे (आपने मुझे पाया) अतः यहाँ सूर्यविनायक नाम मेरा होगा ॥६२॥ मैं, भक्तोंके भय दूर करनेवाला, सदा इस वनमें इसी स्थानपर स्थित रहूँगा। जो नर चतुर्थी मंगलवारको मेरा दर्शन करेंगे। उन मानवोंको विघ्नभय नहीं होगा। उन मुनियोंने गणनाथके प्रभावको ज्ञातकर बार-बार नमस्कार करके उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया। प्रकाण्ड वनमें सूर्यविनायक नित्य रहते हैं ॥ ६३-६५ ॥ उनके दर्शन-

भूयो भूयो नमस्कृत्य प्रययुश्चोत्तरां दिशम् ।
प्रकाण्डविपिने नित्यं स्थितः सूर्यविनायकः ॥ ६५ ॥
तस्य दर्शनमात्रेण न विघ्नैः परिभूयते ।
उत्तरां दिशमागत्य नदीं प्राप्य मनोहराम् ॥ ६६ ॥
स्नानं चक्रुस्तदा बालसहिता मुनयो मुने ।
ततस्तैर्मुनिभिः सार्द्धं मुनिर्गुणनिधिर्मुदा ॥ ६७ ॥
मन्त्रयामास कुशलो ज्ञानं तत्त्वगुणाम्बुधिः ।
संसारे दुःखभूयिष्ठे यदीच्छेत् सुखमात्मनः ॥ ६८ ॥
मानवः स्थापयेल्लिङ्गं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।
शिवलिङ्गं स्थापयन्ति ये नरा भक्तितत्पराः ॥ ६९ ॥
तेषां ददाति संतुष्टः कैलासं पार्वतीपतिः ।
शिवस्या प प्रियः पुत्रो गणेशो विघ्ननाशकः ॥ ७० ॥
गणेशस्थापनाच्चापि न विघ्नैः परिभूयते ।
अत्राद्य नद्यास्तीरेऽहं गणनाथं महाप्रभुम् ॥ ७१ ॥
स्थापयिष्यामि मुनयः शिवलिङ्गं फलप्रदम् ।
श्रुत्वा गुणनिधेर्वाक्यं मुनयो दीर्घदर्शिनः ॥ ७२ ॥
साधु साधु तदा सर्वे संप्रोचुर्हृष्टमानसाः ।
स्थापयामास गणपं ततो गुणनिधिर्मुनिः ॥ ७३ ॥
ऐशान्यां विघ्नराजस्य शिवलिङ्गमनुत्तमम् ।
स्थापयामास स मुनिर्मुनिभिः परिवारितः ॥ ७४ ॥

मात्रसे विघ्न नहीं आते । उत्तर दिशामें आकर मनोहर नदी पाकर, हे मुने, उन मुनियोंने बालक सहित वहाँ स्नान किया । उन मुनियोंके साथ मुनिगुणनिधिने आनन्दसे विचारविमर्श किया । और कहा—जो कुशल, तत्वगुणाम्बुधि, मनुष्य इस दुःख संसारमें आत्मज्ञान और सुख चाहे उसे यहाँ भुक्ति-मुक्तिप्रदायक लिङ्ग स्थापन करना चाहिये । भक्तिमें तत्पर जो नर शिवलिङ्गका स्थापन करते हैं उन्हें प्रसन्न होकर पार्वतीपति कैलास देते हैं । शिवके प्रिय पुत्र गणेशजी भी जो विघ्ननाशक हैं—कैलासवास प्रदान करते हैं ॥ ६६-७० ॥ गणेशस्थापनसे भी विघ्न दूर रहते हैं । आज मैं यहाँ नदीतटपर महाप्रभु गणनाथका स्थापन करूँगा । हे मुनियो, फलप्रद शिवलिङ्गका भी स्थापन करूँगा । गुणनिधिके वाक्य श्रवणकर दूरदर्शी मुनियोंने—साधु-साधु (धन्य-धन्य) कहा—सब प्रसन्न चित्तसे बोले—। तब, मुनि गुणनिधिने गणनाथकी स्थापना की । गणेशजीके ईशान भागमें श्रेष्ठ शिवलिङ्गकी स्थापना की । उस समय सब मुनिगण गुणनिधिके चारो ओर विराजमान थे ॥ ७१-७४ ॥ गणनाथके प्रसादसे जिसका बालक

जीवितो बालको यस्य गणनाथप्रसादतः ।
महामङ्गलमस्माकं जातं परमदुर्लभम् ॥ ७५ ॥
अतो गणेशनामेदं जातं मङ्गलविघ्नहा ।
मङ्गलेश्वरनामापि शिवस्य परिकीर्तितम् ॥ ७६ ॥
जातं मङ्गलहेरम्बषण्मुखे सरिति ध्रुवम् ।
मङ्गलं नाम तत् तीर्थं महामङ्गलदायकम् ॥ ७७ ॥
तीर्थे मङ्गलके स्नात्वा दत्वा मङ्गलदायकम् ।
मङ्गलेश्वरमालोक्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७८ ॥
ऐशान्यां गणनाथस्य तिलमाधवपश्चिमे ।
मङ्गलेश्वरलिङ्गं तन्महापातकनाशनम् ॥ ७९ ॥
ततो गुणनिधिः पुत्रभार्यामुनिगणैर्युतः ।
मुदा परमया युक्तः स्वाश्रमं त्वरितो ययौ ॥ ८० ॥
प्रादुर्भावं गणेशस्य शृणुयाद्योऽपि मानवः ।
शिवभक्तिमवाप्नोति न विघ्नैः परिभूयते ॥ ८१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणेहिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये श्रीसूर्यविनायक-प्रादुर्भावो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

जीवित हो गया है ऐसे, हम लोगोंका, आज परम दुर्लभ—महामंगल हुआ ॥ ७५ ॥ अतः आज विघ्नहा, गणनाथका नाम गणेश भी हुआ । इन शिवका नाम भी आजसे मंगलेश्वर हुआ ॥ ७६ ॥ जहाँ मंगलेश्वर महादेव, गणेश और स्वामी कार्तिककी मूर्तियां हैं । ऐसे स्थान—की नदी, तटकी भूमि महामंगलदायक मंगल-तीर्थ कहलाती है ॥ ७७ ॥ मंगलतीर्थमें स्नान करके, मंगलदायक पदार्थ दान देनेसे, मंगलेश्वरका दर्शन करनेसे, सर्वपाप नष्ट होते हैं ॥ ७८ ॥ तिलमाधवके पश्चिम, गणनाथके ईशान भागमें जो मंगलेश्वर लिङ्ग है वह महापापनाशक है ॥ ७९ ॥ ततः गुणनिधि, पुत्र, स्त्री, मुनिगणोंके सहित परमानन्दके साथ शीघ्र अपने आश्रमको चला गया ॥ ८० ॥ जो मनुष्य गणेशजीके इस प्रादुर्भावको सुनता है वह शिवभक्ति पाता है । विघ्नोंसे पराजित नहीं होता है ॥ ८१ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच—

भवन्मुखबहिर्यातां कथां पीयूषसन्निभाम् ।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्मार्कण्डेय तपोधन ॥ १ ॥
प्रष्टुमिच्छाम्यहं किञ्चित् पुनस्त्वां भक्तितत्परः ।
तिलमाधवनामेति कीर्तितं भवता हि यत् ॥ २ ॥
तदुत्पत्तिमहं श्रोतुमिच्छामि मुनिसत्तम ।

मार्कण्डेय उवाच—

साधु साधु मुनिश्रेष्ठ जैमिने धर्मतत्पर ॥ ३ ॥
तिलमाधवनाम्नस्तु सम्भवं कथयामि ते ।
श्लेष्मान्तकवने रम्ये वाग्वतीतटिनीतटे ॥ ४ ॥
खेटकेऽस्मिँश्चाभवद्वै धर्मदत्तो वणिग्जनः ।
विष्णुभक्तः सुशीलोऽतिप्रियवाक् प्रियदर्शनः ॥ ५ ॥
सर्वदा विपणिद्रव्यमादाय स वणिक् सुधीः ।
ग्रामाद्ग्रामान्तर याति जीविकार्थी गुणान्वितः ॥ ६ ॥
उत्तरायणसंक्रान्तावेकस्मिन् दिवसे वणिक् ।
भ्रमँस्तिलानि चादाय मङ्गलेश्वरमागतः ॥ ७ ॥
मङ्गलेश्वरमालोक्य प्राचीं चैव ययौ दिशम् ।
अविदरे हि संस्थाप्य तिलानि स वणिग्जनः ॥ ८ ॥

जैमिनिने कहा—

हे मार्कण्डेय मुने, आपके मुखसे निःसृत अमृत-तुल्य कथाको सुनते हुए मुझे तृ
नहीं होती है। अतः हे तपोधन, भक्तिमें तत्पर आपसे मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। आप
कथामें तिलमाधव नाम लिया है। हे मुनिश्रेष्ठ उनकी उत्पत्ति विषयक कथा मैं सुन
चाहता हूँ। मार्कण्डेयमुनिने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, हे जैमिने, हे धर्ममें तत्पर; आप ध
हैं—धन्य हैं ॥ १-३ ॥ तिलमाधवकी उत्पत्ति तुमसे कहता हूँ। वाङ्मतीके तट
रम्य श्लेष्मान्तक वनमें एक खेटक (छोटी बस्तीवाला) स्थान था। वहाँ धर्मदत्त नाम
एक बनिया रहता था। वह विष्णुभक्त, सुशील, अतिप्रिय-वचन-भाषी, प्रियदर्
था ॥ ४-५ ॥ वह अच्छी मतिवाला बनिया था। सदा बाजारमें बेचने योग्य पदा
लेकर वह गुणान्वित जीविकाके लिए, ग्राम-ग्राम घूमता था। एकदिन वह उत्तराय
सूर्यकी मकर-संक्रान्तिके दिन तिल (तिल्ली) लेकर घूमता हुआ मंगलेश्वर आया
मंगलेश्वरका दर्शन करके वह पूर्वकी ओर गया। उस बनियेने थोड़ी दूरपर तिल

विक्रेतुमासने धीर आसन् वैष्णवसत्तमाः।
यावल्लोकाः समायान्ति तिलग्रहणकामुकाः॥ ९॥
तिलराशौ समुद्भूतस्तावद्देवो जनार्दनः।
शङ्खचक्रगदापद्मधारिणं पीतवाससम्॥ १०॥
धर्मदत्तो वणिग्दृष्ट्वा प्रणनाम मुहुर्मुहुः।
उत्थाय धर्मदत्तः स भक्तिनम्रो गुणान्वितः॥ ११॥
पश्यतां सर्वलोकानां विष्णुदेहे विवेश सः।
ततो जयध्वनिर्जाता लोकानां मुखपङ्कजात्॥ १२॥
नभसः पुष्पवृष्टिश्च पपात सुमनोहरा।
तिलराशेः समुद्भूतो यतो देवा जनार्दनः॥ १३॥
तिलमाधवनामेति ततस्तस्य प्रतिष्ठितम्।
तिलमाधवनामानं ये द्रक्ष्यन्ति नरा भुवि॥ १४॥
तेषां नारायणस्तुष्टः स्वस्थानं दास्यति स्वयम्।
तिलमाधवनाम्ने यत् पुष्पं पत्रं फलं जलम्॥ १५॥
दीयते भक्तितो लोकैरक्षयं चोपजायते।
संक्रान्तिदिवसे भक्ता गोदुग्धैः स्नापयन्ति ये॥ १६॥
तिलमाधवदेवाऽसौ दास्यत्यत्र मनोरथान्।
द्वादश्यां पत्रपुष्पादि ये यच्छन्तीह मानवाः॥ १७॥
तेषां वैकुण्ठवासः स्यान्नात्र कार्या विचारणा।
मया ते कथितं पुण्यं तिलमाधवसम्भवम्॥ १८॥

राशि रखी तथा वह धीर बेंचनेकी गद्दी पर बैठ गया। वैष्णव लोग वहाँ पर विराजमान थे। ज्यों ही लोग तिल खरीबने आने लगे। उसी समय उसकी तिल राशिसे श्रीकृष्ण उत्पन्न हो गये। वे पीताम्बर धारण किये हुए—शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए थे॥ ९-१०॥ उन्हें देखकर धर्मदत्त बनियेने उन्हें बार-बार प्रणाम किया। ततः गुणान्वित, भक्तिनम्र, उस वणिक्‌ने उठकर सबके सामने सबके देखते हुए विष्णुजीके देहमें प्रवेश किया। तब लोगोंके मुखोंसे जय-जय जयकार निकल पड़ा॥११-१२॥ तिलराशिसे विष्णुजी प्रकट हुए अतः उसी क्षण आकाशसे सुन्दर पुष्प वर्षा हुई॥ १३॥ इसी कारण इनका नाम तिलमाधव पड़ा। जो नर पृथ्वीपर तिलमाधवका दर्शन करते हैं नारायण प्रसन्नतासे स्वयं उन्हें अपना धाम देते हैं। तिलमाधवके लिए जो जल-पत्र-पुष्प-फल भक्तिसे चढ़ाते हैं। वे अक्षय फल पाते हैं॥ संक्रान्तिके दिन जो भक्त उन्हें दूधसे स्नान कराते हैं। तिलमाधव उनके मथोरथ पूर्ण करते हैं। द्वादशीको जो नर पत्र-पुष्प भेंट करते हैं। उन्हें निःसन्देह वैकुण्ठ वास मिलता है। मैंने तुमसे पुण्यप्रद तिलमाधव

तत् सर्वं कथयिष्यामि यदन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।
अन्यानि शिवलिङ्गानि श्लेष्मान्तकवने मुने ॥ १९ ॥

जैमिनिरुवाच—

तानि मुख्यानि कथय श्रोतुमुत्कण्ठितं मनः ।
अन्यानि कथयिष्मामि शृणु सावहितो मुने ॥ २० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

मुख्यस्थानानि सर्वाणि कथयिष्यामि ते पुनः ।
ऋष्याश्रमस्था मुनयो दृष्ट्वा गुणनिधेः सुतम् ॥ २१ ॥
मृतं च जीवितं दृष्ट्वा शिवभक्तिपरा ययुः ।
ऋष्याश्रमस्था मुनयः समस्ता धर्मकोविदाः ॥ २२ ॥
किञ्चिद्दूरं ततो दृष्ट्वा समारुह्यैकपर्वतम् ।
स्थापयामासुरतुलं शिवलिङ्गं मनोहरम् ॥ २३ ॥
शिवभक्तिप्रभावज्ञा यथाविधिपुरस्सरम् ।
अनन्तैर्मुनिभिर्यस्मात् स्थापितं लिङ्गमुत्तमम् ॥ २४ ॥
तस्मादनन्तलिङ्गेति नाम तस्य व्यवस्थितम् ।
अनन्तलिङ्गमालोक्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २५ ॥
अनन्तलिङ्गं ये धीरा द्रक्ष्यन्ति सुमनोहरम् ।
प्राप्नुयुस्ते तदा लोके शिवभक्तिं सुदुर्लभाम् ॥ २६ ॥
अनन्तलिङ्गभक्ता ये भविष्यन्ति कलौ युगे ।
तेषां प्रीतो महादेवो दास्यतीह मनोरथान् ॥ २७ ॥

उत्पत्ति कह दी । अब तुम जो अन्य बात पूछना चाहो पूछो उसे भी बता दूँगा । हे मु हे मार्कण्डेय, श्लेष्मान्तक वनमें अन्य जो शिवलिङ्ग हैं उनमें मुख्य-मुख्य श्रवण कर चाहता हूँ । मेरा मन उत्कण्ठित है । मार्कण्डेयने कहा—हे ऋषि–जैमिने, सावधानी सुनो, अन्य मुख्य स्थानोंको बताता हूँ ॥ १४-२० ॥ मैं तुम्हें मुख्य सब स्थानो बादमें बताऊँगा । पहले एक बात सुनो—ऋष्याश्रमस्थमुनि गुणनिधिके पुत्र प्राणनाथको होकर जीवित होनेका दृश्य देखकर शिवभक्तिपरायण हो गये । ऋष्याश्रस्थ समस्त मु धर्मपण्डित थे ॥ २१-२२ ॥ थोड़ी दूरपर उन्होंने एक पर्वत देखा उसपर जाकर उन् अतुल मनोहर शिवलिङ्ग स्थापन कर दिया ॥ २३ ॥ शिवभक्तिके प्रभावके ज्ञा असंख्य मुनियोंने यथाविधि उत्तम लिङ्गकी स्थापना की । अतः उस लिङ्गका न अनन्त-लिङ्ग पड़ा । अनन्त-लिङ्गके दर्शनसे सब पाप नष्ट होते हैं ॥ २४-२५ ॥ धीरगण, मनोहर अनन्त लिङ्गका दर्शन करते हैं वे लोग अति दुर्लभ शिव पाते हैं ॥ २६ ॥ कलियुगमें 'जो अनन्तलिङ्ग भक्त होते हैं उनपर शिवजी प्र

चतुर्दश्यामथाष्टम्यां संक्रान्तिदिवसे तदा ।
अनन्तलिङ्गं द्रक्ष्यन्ति तान् यास्यति महेश्वरः ॥ २८ ॥
स्वर्णश्रृङ्गेश्वरो देवः कृष्णेन स्थापितः पुरा ।
कीलेश्वरोऽपि कृष्णेन स्थापितः स्वयमेव हि ॥ २९ ॥
महेन्द्रदमनो दैत्यः प्रद्युम्नेन यदा हतः ।

जैमिनिरुवाच—

महेन्द्रदमनो दैत्यः प्रद्युम्नेन कथं हतः ॥ ३० ॥
स्वर्णश्रृङ्गेश्वरो देवस्तथा कीलेश्वरः प्रभुः ।
कथं वाऽस्थापि तल्लिङ्गद्वयं कृष्णेन मे वद ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

वक्ष्याम्यहमशेषेण कीलेश्वरसमुद्भवम् ।
स्वर्णश्रृङ्गेश्वरोत्पत्तिं दैत्योऽपि च यथा हतः ॥ ३२ ॥
चम्पकारण्यविषये नगरी श्वेतकाभिधा ।
अस्ति सर्वगुणैर्युक्ता शक्रस्येवामरावती ॥ ३३ ॥
तादृशी नगरी पृथ्व्यां दुर्लभा हि तपोधन ।
तस्यां पुर्यां महीपालः सूर्यकेतुर्नृपोत्तमः ॥ ३४ ॥
विष्णुभक्तोऽतिधर्मात्मा प्रजापालनतत्परः ।
दाता प्रियम्वदो धीरः सत्यवाक् प्रियदर्शनः ॥ ३५ ॥
रिपुस्तस्याभवद्वीरो मिथिलाधिपतिर्महान् ।
हंसध्वज इति ख्यातो महाबलपराक्रमः ॥ ३६ ॥

होकर उनके मनोरथ पूर्ण करते हैं । ॥ २७ ॥ अष्टमी, चतुर्दशी, संक्रान्तिको जो अनन्त-देवका दर्शन करते हैं उन्हें महेश्वर सद्गति देते हैं ॥ २८ ॥ प्राचीन कालमें जब महेन्द्रदमन दैत्य प्रद्युम्न द्वारा मारा गया था । तब कृष्ण भगवान्ने स्वर्ण श्रृंगेश्वर लिङ्ग, कीलेश्वर लिङ्गकी स्थापना की थी । हे मार्कण्डेय, जैमिनिने पूछा—प्रद्युम्नने कैसे महेन्द्रदमनको मारा तथा कीलेश्वर लिङ्ग और स्वर्णश्रृङ्गेश्वर लिङ्गकी स्थापना कृष्णद्वारा कैसे हुई ? हे मुने, मार्कण्डेय, मुझे स्पष्ट बताइये ॥ २९-३१ ॥ मार्कण्डेयने कहा—हे जैमिने मैं कीलेश्वर, स्वर्णशृङ्गेश्वरकी स्थापना तथा महेन्द्रदमन दैत्यके हननको अभी बता रहा हूँ ॥ ३२ ॥ चम्पकारण्य मण्डलमें श्वेतका नामक एक नगरी थी । वह सर्वगुणयुक्ता इन्द्रकी नगरी अमरावतीके तुल्या थी । हे तपोधन, पृथ्वीपर—वह नगरी उस कालमें श्रेष्ठा थी । हे तपोधन, पृथ्वीपर—ऐसी नगरी दुर्लभ थी । उस नगरीका राजा सूर्यकेतु था जो राजाओंमें उत्तम था ॥ ३३-३४ ॥ वह विष्णुभक्त, अति धर्मात्मा, प्रजापालनतत्पर, दाता, प्रियम्वद, धीर, सत्यवादी, प्रियदर्शन था ॥ ३५ ॥ उसका

आगत्य मिथिलाधीशो नगरीमुपरुध्य वै ।
संग्राममकरोदुग्रं सूर्यकेतुनृपेण हि ॥ ३७ ॥
पुराद्बहिर्विनिर्गत्य सूर्यकेतुर्नराधिपः ।
युयोधानेन बलिना मिथिलापतिना तदा ॥ ३८ ॥
हंसध्वजेन भूपेन सूर्यकेतुर्नरेश्वरः ।
पराजितोऽतिबलिना हत्वा वीराननेकशः ॥ ३९ ॥
हतान् वीराँस्ततो दृष्ट्वा सूर्यकेतुर्नराधिपः ।
पलायनपरो भूत्वा विवेश नगरीं स्वकाम् ॥ ४० ॥
प्रविश्य नगरीं राजा सूर्यकेतुर्हतप्रभः ।
चिन्तयामास हृदये कान्दिशीको मुहुर्मुहुः ॥ ४१ ॥
किं कर्त्तव्यं क्व गन्तव्यं क्व स्थातव्यमतः परम् ।
हंसध्वजो महावैरी पुररोधं चकार ह ॥ ४२ ॥
पराजितोऽस्मि शूरेण क्व गन्तव्यमतः परम् ।
यावच्चिन्तां नरपतिः करोति बहुधा मुने ॥ ४३ ॥
तावत् खलु समायातो नारदो मुनिसत्तमः ।
आगतं नारदं दृष्ट्वा सूर्यकेतुर्महीपतिः ॥ ४४ ॥
विधिवत् पूजयामास भक्तिमन्नम्रकन्धरः ।
विश्रान्तं नारदं वीक्ष्य राजा प्राहातिदुःखितः ॥ ४५ ॥
हंसध्वजेन नगरी रुद्धा मे मुनिसत्तम ।
भग्नश्च नगरो जातः स्थातुमत्र न शक्यते ॥ ४६ ॥

महान् शत्रु मिथिलेश था जो वीर था, महापराक्रमी था। उसका नाम हं
था ॥ ३६ ॥ मिथिलेशने आकर उसकी नगरी घेर ली तथा सूर्यकेतुके साथ
संग्राम किया। नगरसे बाहर निकलकर सूर्यकेतु राजाने बली मिथिलेशके सा
किया ॥ ३७-३८ ॥ अति बली हंसध्वजने सूर्यकेतुको जीत लिया तथा अनेक योद्
मार डाला। हत वीरोंको देखकर सूर्यकेतु भागा और अपनी नगरीमें प्रवि
गया ॥ ३९-४० ॥ हतप्रभ सूर्यकेतु नगरीमें आकर घबड़ाया सा होकर चित्तमें
बार विचारने लगा। क्या करूँ? कहा जाऊँ? कहाँ रहूँ? महा-शत्रु हंस
नगरी घेर ली है ॥४१-४२॥ मैं, उस हंसध्वज योधासे, हार गया हूँ। अब कहाँ
सूर्यकेतु ऐसा बार-बार सोच रहा था। हे मुने, उसी समय मुनिश्रेष्ठ नारदजी
नारदजीको आये हुये देखकर सूर्यकेतुने भक्तिसे झुककर विधिवत् उनकी पूजा की।
नारदजीको विश्रान्त देखकर अति दुःखी उस राजाने कहा—॥४३-४५॥ हे मुने हंस
मेरी नगरी घेर ली है और तोड़-फोड़ भी शुरू है। यहाँ रहना कठिन है। मैं कहाँ
हे मुने, आप बतायें। राजाके वचन श्रवणकर नारदजीने राजासे कहा—॥ ४६-

कस्मिस्थले निवासो मे कर्तव्यस्तद्वदस्व मे ।
राज्ञो वचनमाकर्ण्य नारदः प्राह तं नृपम् ॥ ४७ ॥

नारद उवाच—

मृगेन्द्रशिखरं गत्वा निवासं कुरु पार्थिव ।
यत्रोत्पन्ना महारम्या वाग्वती सरितां वरा ।
तस्मिन् स्थाने सुगुप्तं च निवासं कुरु भूपते ॥ ४८ ॥

सूर्यकेतुरुवाच—

मृगेन्द्रशिखरे रम्ये वाग्वती सरितां वरा ॥ ४९ ॥
मुनीन्द्र कथमुत्पन्ना ,तदाख्याहि विशेषतः ।

नारद उवाच—

मृगेन्द्ररूपमास्थाय भगवान् हरिरीश्वरः ॥ ५० ॥
हिरण्यकशिपुं दैत्यं जघान नृपसत्तम ।
प्रह्लादं तु परित्रातुं भक्तिवश्यो जनार्दनः ॥ ५१ ॥
दैत्यं हत्वा परिश्रान्तो हिमवच्छिखरं ययौ ।
तमन्वेष्टुं महाभक्तो हिरण्यकशिपोः सुतः ॥ ५२ ॥
जपन् नृसिंहनामानि हिमवच्छिखरं ययौ ।
मृगेन्द्ररूपमास्थाय हिमवच्छिखरे हरिः ॥ ५३ ॥
स्थितो यस्मादतः शैलं मृगेन्द्रशिखरं विदुः ।
प्रह्लादोऽपि ततो गत्वा मृगेन्द्रशिखरं नृप ॥ ५४ ॥
अदृष्ट्वा नरसिंहं तु तप उग्रं चकार ह ।
समाः सहस्रं दैत्येन्द्रस्तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ ५५ ॥

नारदजीने कहा—हे पार्थिव मृगेन्द्र-शिखरपर जाकर रहो। जहाँसे नदी-श्रेष्ठा, बड़ी मनोहर, वाङ्मतीका प्रादुर्भाव हुआ है। वहाँ सुगुप्त रूपसे निवास करो। राजाने पूछा—हे मुनीन्द्र, नदीश्रेष्ठ वाङ्मती वहाँ कैसे उत्पन्न हुई? कृपया, बतायें। देवर्षिने कहा जब भगवान् विष्णुने सिंहरूप धरकर, प्रह्लादको बचानेके लिये, हिरण्यकशिपु दैत्यको मारा था। भक्तिसे वशीभूत होनेवाले भगवान् विष्णु उस समय थककर हिमालयपर गये। प्रह्लाद भी उन्हें खोजनेके लिये, बड़ी भक्तिसे नृसिंह नाम जपते हुए हिमालयपर गये। मृगेन्द्ररूप धरकर हरि वहाँपर स्थित हुए। अतः हिमालयके उस खण्डका नाम मृगेन्द्र-शिखर है। प्रह्लादने मृगेन्द्र-शिखरपर जाकर जब हरिको न देखा। तब वे नृसिंह-नाम जपने लगे। इस प्रकार सहस्र वर्ष प्रह्लादने जप किया। बड़ी कड़ी तपस्या की ॥ ४८-५५ ॥ उसकी तपस्या देखकर महादेवजी-तक प्रसन्न हो

ततस्तुष्टो महादेवो हास्यमुच्चैश्चकार हि ।
हरहाससमुद्भूता निर्गता गिरिगह्वरात् ॥ ५६ ॥
फेनोर्मिमालाधवला नदी पुण्यजलाऽमला ।
शङ्करो वचनं चेदं प्राह दानवपुङ्गवम् ॥ ५७ ॥
वचनान्मम दैत्येन्द्र बहिर्याता यतो नदी ।
अतोऽस्या वाग्वती नाम भविष्यति न संशयः ॥ ५८ ॥
मृगेन्द्ररूपमास्थाय विष्णुरत्र यतः स्थितः ।
अतस्तु वैष्णवं क्षेत्रमिदं लोके भविष्यति ॥ ५९ ॥
अस्योर्ध्वभागे मत्स्थानं शिवलिङ्गमयं शुभम् ।
भविष्यति यतो लोकास्ततः शिवपुरीं जगुः ॥ ६० ॥
प्रह्लाद गच्छ दैत्येन्द्र विष्णुभक्तिर्दृढाऽस्तु ते ।
दैत्यराजाधिपो भूत्वा राज्यं कुरुष्व पैतृकम् ॥ ६१ ॥
एतत् तु वैष्णवं स्थानं मृगेन्द्रशिखराह्वयम् ।
हिरण्यकशिपुं हत्वा विश्रान्तो नृहरिर्यतः ॥ ६२ ॥
त्वया दैत्यपते तेपे विष्णुभक्तेन दारुणम् ।
मम हास्याच्च संभूता वाग्वती परमा नदी ॥ ६३ ॥
अस्योर्ध्वभागे जातानि लिङ्गानि मम शक्तितः ।
वाग्वतीप्रभवे स्नात्वा दृष्ट्वा शिवपुरीं नरः ॥ ६४ ॥
जन्मान्तरकृतात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्हितो देवः सगणो हि वृषध्वजः ॥ ६५ ॥

गये और उच्च अट्टहास किया । महादेव के हाससे हिमालयकी कन्दरासे फेन—त माला युक्ता, पुण्यजला, अमला (निर्मला) वाङ्मती नदी निकली । तब शंकर कहा—हे दैत्येन्द्र (प्रह्लाद) मेरे वचनसे यह नदी निकली है (बाहर आयी है) अ निःसन्देह इसका नाम वाङ्मती है ॥ ५६-५८ ॥ भगवान् विष्णु यहाँ मृगेन्द्ररूप ध स्थित हुए । अतः इसका (इस खण्डका) नाम वैष्णवक्षेत्र होगा ॥ ५९ ॥ इ ऊर्ध्व भागमें शिवलिङ्गमय शुभस्थान है । जो संसारमें शिवपुरी करके प्रसिद्ध होगा ॥६ हे प्रह्लाद, जाओ तुम्हारी विष्णु-भक्ति दृढ़ हो । दैत्यपति होकर पैतृक र करो ॥ ६१ ॥ यह वैष्णव स्थान है । इस स्थानका शिखर मृगेन्द्रशिखर है । यहाँ हरिने हिरण्यकशिपुको मारकर, स्थित होकर, विश्राम किया । हे दैत्यपते, तुमने घनघोर तप किया । मेरे हाससे यहाँ वाङ्मती उत्तम नदी निकली । इसके ऊ भागमें मेरी शक्तिसे शिवलिङ्ग उत्पन्न हुए । वाङ्मतीके उद्गमस्थलपर जो स्न करके शिवपुरीके दर्शन करेगा । उसके जन्मान्तरकृत पाप निःसन्देह नष्ट हो जाये ऐसा कहकर महादेवजी गणोंके साथ अन्तर्हित हो गये ॥ ६२-६५ ॥ दैत्य प्रह्लाद

तुष्टः प्रह्लाददैत्योऽपि जगाम भवनं स्वकम् ।
मृगेन्द्रशिखरं याहि सूर्यकेतो नरेश्वर ॥ ६६ ॥
श्रीकृष्णस्यानुभावेन पुनरेष्यसि श्वेतकाम् ।
सशरीरो दिवं गन्ता भवानन्ते न संशयः ॥ ६७ ॥
इत्युक्त्वा नारदो यातो नृपेण परिपूजितः ।
नारदस्योपदेशेन सूर्यकेतुर्नरेश्वरः ॥ ६८ ॥
चन्द्रावत्या दुहित्रा च भार्यया च समन्वितः ।
शूरैरनेकैः संयुक्तो मृगेन्द्रशिखरं ययौ ॥ ६९ ॥
दृष्ट्वा मृगेन्द्रशिखरं वाग्वतीं प्रविलोक्य च ।
तत्रैव वसतिं चक्रे मुदा परमया युतः ॥ ७० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

सन्तुष्ट होकर अपने गृह चले गये । हे सूर्यकेतो, नरेश्वर, मृगेन्द्र-शिखर पर जाओ । श्रीकृष्णजीके प्रसादसे पुन: श्वेतका नगरी आओगे । अन्त समयमें तुम सशरीर स्वर्ग जाओगे—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६६-६७ ॥ ऐसा कहकर राजासे पूजित होकर, नारदजी चले गये । नारदजीके उपदेशसे सूर्यकेतु राजा, अपनी पत्नी, पुत्री चन्द्रावती और अनेक योधाओंके साथ मृगेन्द्रशिखरको चले गये ॥ ६८-६९ ॥ सूर्यकेतुने मृगेन्द्रशिखर तथा वाङ्मतीके दर्शनकर आनन्दके साथ वहीं निवास किया ॥ ७० ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच ।

एतस्मिन्नन्तरे दैत्यो महेन्द्रदमनाभिधः ।
हरमाराध्य तपसा त्रैलोक्ये दुर्जयोऽभवत् ॥ १ ॥
जित्वा महेन्द्रसहितान् देवान् समरदुर्जयः ।
अधस्ताच्चन्दनाशैलोत्तरस्यां दिशि सुप्रभाम् ॥ २ ॥

इसके पश्चात् महेन्द्रदमन दैत्य शिवजीकी आराधना करके तपस्याके बलसे तीनों लोकोंमें दुर्जय हो गया ॥ १ ॥ उसने इन्द्र सहित सब देवताओंको जीतकर, चन्द्रनपर्वतके अध:प्रदेशमें (नीचे भागमें) चन्दनपर्वतकी उत्तर दिशामें, अनेक रत्नोंसे भूषित सुन्दर

दैत्यश्चक्रे पुरीं रम्यां नानारत्नचयैर्युताम् ।
महेन्द्रदमनस्यासीद्भगिनी मृगलोचना ॥ ३ ॥
नाम्ना प्रभावती देवी तत्तुल्या नैव भामिनी ।
आराधिता तया देवी वत्सला सुरपूजिता ॥ ४ ॥
संतुष्टा हिमवत्कन्या प्राह देवीं प्रभावतीम् ।
वरं वरय सुश्रोणि यत् ते मनसि काङ्क्षितम् ॥ ५ ॥
श्रुत्वा नगेन्द्रजावाक्यं प्राह देवीं प्रभावती ।
त्वमेव देवि जानासि प्राणिनां हृदयस्थितम् ॥ ६ ॥
श्रुत्वा प्रभावतीवाक्यं तां प्राह गिरिनन्दिनी ।
त्वच्चित्तस्थो मया ज्ञातः पुरुषो मृगलोचने ॥ ७ ॥
प्रद्युम्नः कृष्णतनयः स ते भर्त्ता भविष्यति ।
इति दत्वा वरं देवी सद्योऽन्तर्धानमागता ॥ ८ ॥
प्रभावती वरं लब्ध्वा सुप्रभां नगरीं ययौ ।
उद्यानं दानवश्चक्रे चन्दनागिरिमूर्धनि ॥ ९ ॥
प्रभावतीविनोदाय नन्दनाकारसुन्दरम् ।
मृगेन्द्रशिखराद्रम्याद्बहिर्यातां तु वाग्वतीम् ॥ १० ॥
रुरोध दानवो दर्पाद्गिरिणा गिरिसन्निभः ।
वाग्वत्यां चावरुद्धायां श्लेष्मान्तकवनं महत् ॥ ११ ॥
ह्रदीभूतं सुप्रभस्थो मुमुदे दानवो भृशम् ।
महेन्द्रदमनो दैत्यः सुप्रभायां स्वयं स्थितः ॥ १२ ॥

सुप्रभापुरी बनायी । महेन्द्रदमनकी बहिन मृगलोचना थी, जिसका नाम प्रभावती था उसके समान सुन्दर महारानी भी नहीं थीं । उसने देवपूजिता वत्सलादेवीकी आराधन की॰॥ २--४ ॥ हिमालयपुत्री वत्सलादेवी सन्तुष्ट होकर प्रभावतीसे बोलीं—हे सुश्रो (सुन्दर कटि-धारिणी) मन चाहा वर माँगो ॥ ५ ॥ पर्वतपुत्रीके वचन सुनक प्रभावतीने कहा—हे देवि, आप प्राणियोंके चित्तकी बातें जानती हैं । प्रभावतीके वच श्रवणकर पर्वतपुत्री वत्सला बोलीं—हे मृगनेत्रि, तुम्हारे चित्तमें स्थित पुरुषको जान गयी ॥ ६-७ ॥

कृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्न तुम्हारे पति होंगे । देवी ऐसा वरदान देकर अन्तर्हित गयीं ॥ ८ ॥ प्रभावती वरदान प्राप्तकर सुप्रभानगरीको गयी । दैत्य महेन्द्र-दमने चन्द पर्वतके ऊपर—शिखरपर एक उद्यान बनाया था ॥ ९ ॥ वह उद्यान नन्दनवनके सम था तथा प्रभावतीके मनोरञ्जनके लिये था । रम्य मृगेन्द्रपर्वतसे बाहर बहनेवा वाङ्मती नदीके वेगको उस पर्वत तुल्य दैत्यने रोक दिया । अवरुद्ध वाङ्मतीके जल श्लेष्मान्तक वन बड़े तालाबके समान हो गया । जिसे देखकर, सुप्रभानगरी निवा

मृगेन्द्रशिखरे चैव सूर्यकेतुर्नृपः स्थितः।
एतन्मध्ये जलमयं कुमुदोत्पलमण्डितम् ॥ १३ ॥
तडागवच्च तज्जातं श्लेष्मान्तकवनं महत्।
महेन्द्रदमनं दैत्यं दृष्ट्वा परमदुर्जयम् ॥ १४ ॥
रत्नानि दिव्यान्यादाय स्वयं भेजे नृपस्तदा।
सूर्यकेतुस्तदा ज्ञात्वा निर्भयो वसति स्म ह ॥ १५ ॥
कश्चिद्दैत्यो दानवस्य मृगेन्द्रशिखरं ययौ।
तेन दृष्टा सुता तस्य सूर्यकेतोर्महीभुजः ॥ १६ ॥
क्रीडन्ती विपिने बाला रम्भातोऽप्यतिसुन्दरी।
दृष्ट्वा कन्यां नरपतेर्दानवस्त्वरितस्तदा।
महेन्द्रदमनस्याग्रे कथयामास विस्तरात् ॥ १७ ॥

दानव उवाच—

श्रृणु दैत्येन्द्र मद्वाक्यं मृगेन्द्रशिखरे मया ॥ १८ ॥
भ्रमता सूर्यकेतोस्तु कन्या दृष्टा मनोहरा।
नैतादृशी मानुषीषु सुन्दरी वर्त्तते क्वचित् ॥ १९ ॥
स्त्रीरत्नमतुलं कन्या सूर्यकेतोर्महीभुजः।
रत्नभोक्ता भवाँल्लोके सा च स्त्रीरत्नमुत्तमम् ॥ २० ॥
तस्या योग्यो भवान् भर्त्ता नान्यः कश्चिन्महीतले।
इति तस्य वचः श्रुत्वा महैन्द्रदमनो मुदा ॥ २१ ॥
युक्तः परमया प्राह तं दैत्यं दृढविक्रमम्।

दैत्य अति हर्षित हुआ, वह महेन्द्र-दमन दैत्य सुप्रभामें रहता था ॥१०-१२॥ मृगेन्द्रगिरिपर सूर्यकेतु नृप रहता था। इन दोनोंके (महेन्द्रदमन और सूर्यकेतुके) बीचमें जलमय श्लेष्मान्तक वन, खिले हुए कमलोंसे युक्त बड़े भारी तालाबसा ज्ञात होता था। परम दुर्जय महेन्द्रदमनको देखकर सूर्यकेतुने उसके पास दिव्य रत्नोंको स्वयं एकत्रकर शिघ्र यत्नसे भेजा और तब अपनेको सुरक्षित तथा निर्भय माना ॥ १३-१५ ॥ एक दिन एक दैत्य, महेन्द्रदमनका सेवक उस मृगेन्द्र शिखरपर आया और उसने राजा सूर्यकेतुकी पुत्री चन्द्रावतीको देखा ॥१६॥ वह उस समय वनमें खेल रही थी तथा रम्भा अप्सरासे भी अधिक सुन्दर थी। राजाकी पुत्री देखकर वह दैत्य तुरत लौटा और महेन्द्रदमनसे विस्तृत वर्णन किया। दैत्यने कहा—हे दैत्येन्द्र, सुनिये—मेरे वचन सुनिये। राजा सूर्यकेतुकीं सुन्दर पुत्रीको मैने घूमते देखा। ऐसी सुन्दरी मनुष्योमें कहीं नहीं है ॥ १७-१९ ॥ सूर्यकेतुकी पुत्री अमूल्य स्त्री रत्न है। आप लोकमें रत्नभोक्ता हैं और वह उत्तमस्त्री रत्न है। पृथ्वीतलपर कोई दूसरा व्यक्ति आपके अतिरिक्त, उसके पति योग्य नहीं है। उसके ऐसे

महेन्द्रदमन उवाच—

साधु साधु त्वया प्रोक्तं मत्पुरो दनुजोत्तम ॥ २२ ॥
सूर्यकेतुः सुतां मह्यं ददाति च यथा किल ।
तथा प्रकारो भवता क्रियतां दानवोत्तम ॥ २३ ॥
मगेन्द्रशिखरं गत्वा त्वया दानवसत्तम ।
मदर्थे याच्यतां कन्या सूर्यकेतुं नराधिपम् ॥ २४ ॥
तस्याज्ञां प्राप्य दैत्योऽसौ मृगेन्द्रशिखरं ययौ ।
ददर्श भूपं दैत्योऽसौ सभायां मन्त्रिभिर्युतम् ॥ ·५ ॥
मन्त्रिभिर्दानवं दृष्ट्वा निषीदेति वचोऽब्रवीत् ।
किमर्थमागतं दैत्य त्वया तदिह कथ्यताम् ॥ २६ ॥
नृपतेर्वचनं श्रुत्वा दानवो वाक्यमब्रवीत् ।
महेन्द्रदमनो राजा दैत्यानां वाणनन्दनः ॥ २७ ॥
ते कन्यां प्रार्थयत्येनां तस्मै दातुं त्वमर्हसि ।
महेन्द्रदमनो रत्नभोक्ता शम्भोः प्रसादतः ॥ २८ ॥
चन्द्रावती च स्त्रीरत्नं तस्माद्दातुं त्वमर्हसि ।
इति दूतवचःश्रुत्वा सूर्यकेतुर्भयान्वितः ॥ २९ ॥

सूर्यकेतुरुवाच—

विचार्य मनसा वाक्यं दूतमेवमुवाच ह ।
भवान् यदाह तत् सर्वं सत्यमेव न संशयः ॥ ३० ॥
महेन्द्रदमनो राजा त्रैलोक्याधिपतिः प्रभुः ।
स चेत् प्रार्थयते कन्यां कोऽस्ति धन्यतरो मम ॥ ३१ ॥

वचन सुनकर महेन्द्रदमनने परम हर्षके साथ उस बलिष्ठ दैत्यसे कहा—हे दैत्योंमें उत्त[म] दैत्य, तुमने ठीक कहा—धन्य है ॥ २०-२२ ॥ सूर्यकेतु मुझे जिस प्रकारसे अपनी पु[त्री] दे दें—ऐसा उपाय, हे दानवोत्तम, तुम करो ॥ २३ ॥ मृगेन्द्रगिरिपर जाकर मेरे लि[ये] हे दानवसत्तम, सूर्यकेतुसे कन्या माँगो । महेन्द्रदमनकी आज्ञा पाकर दैत्य मृगेन्द्र-शिखर पर गया । वहाँ मन्त्रियोंके साथ स्थित सभामें सूर्यकेतु नृपको उसने देखा ॥ २४-२५ ॥ मन्त्रियोंने दानवको देखकर कहा—बैठ जाओ । राजाने पूछा हे दैत्य, तुम क्यों आये हो ? बताओ ॥ २६ ॥ तब राजाके पूछनेपर दैत्यने कहा—बाणपुत्र, दैत्योंके स्वामी, महेन्द्रदम[न] हैं । वे आपकी पुत्रीको चाहते हैं । आप उन्हें कन्या दे दें । महेन्द्रदमन शिवप्रसाद[से] रत्नोंके भोक्ता हैं । चन्द्रावती स्त्रीरत्न है अतः देने योग्य । है इस प्रकार दूत-वच[न] श्रवणकर भयान्वित सूर्यकेतुने विचारकर दूतसे यह वाक्य कहा—आपने जो कहा व[ह] निःसन्देह सत्य है । ॥ २७-३० ॥ महेन्द्रदमन नृप, तीनों लोकके स्वामी हैं । वे य[दि] कन्या माँगते हैं तो इससे अधिक सौभाग्यकी बात अन्य नहीं है । मैं धन्य हूँ किन्तु, मेरी

चन्द्रावती च मे कन्या परमत्यन्तवालिका ।
यदा विवाहसमयो मत्कन्याया भविष्यति ॥ ३२ ॥
महेन्द्रदमनस्याज्ञा कर्तव्यैव न संशयः ।
इति भूपवचः श्रुत्वा दूतः संहृष्टमानसः ॥ ३३ ॥
महेन्द्रदमनं गत्वा ततः सर्वं न्यवेदयत् ।
सूर्यकेतुर्महीपालश्चिन्तयामास दुःखितः ॥ ३४ ॥
कष्टात् कष्टतरं लब्धं किं कर्तव्यमतः परम् ।
श्वेतकायाः परित्यागो दैत्यः प्रार्थयते सुताम् ॥ ३५ ॥
स्थातुं नैव मया शक्यं मृगेन्द्रशिखरे पुनः ।
इति चिन्ताकुलो यावत् सूर्यकेतुर्नराधिपः ॥ ३६ ॥
तावत् तत्र समायातो नारदो मुनिसत्तमः ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य सूर्यकेतुर्नराधिपाः ॥ ३७ ॥
भक्तितः पूजयामास यथाशास्त्रपुरस्सरम् ।
उवाच नारदं भूपः कृतासनपरिग्रहम् ॥ ३८ ॥
महेन्द्रदमनो दैत्यः कन्यां प्रार्थयते मम ।
मृगेन्द्रशिखरे स्थित्वा कथं दैत्येन विग्रहः ॥ ३९ ॥
नारदात्र प्रतीकारः कर्तव्यस्तु कथं मया ।
इति भूपवचः श्रुत्वा नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

नारद उवाच—

सूर्यकेतो नृपश्रेष्ठ न भेतव्यं त्वया पुनः ।
चन्द्रावती तव सुता प्रद्युम्नाय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

पुत्री चन्द्रावती अत्यन्त बालिका है । जब मेरी कन्याके विवाहका समय होगा । निःसन्देह महेन्द्र-दमनकी आज्ञा पालूँगा । इस प्रकार नृपके वचन श्रवणकर दूत प्रसन्न होकर महेन्द्र-दमनके समीप गया और सारा वृत्तान्त कह दिया । ततः दुःखी सूर्यकेतुने विचार किया ॥३१-३४ ॥ उसे कष्टसे कष्ट प्राप्त हुआ । अब आगे क्या करना चाहिए । श्वेतका नगरीका त्याग कष्टप्रद था । अब तो दैत्यका माँगना और भी कष्ट प्रद है ॥ ३५-३६ ॥ इतनेमें नारदजी वहाँ आ गये । सूर्यकेतु चिन्ताकुल थे ही । उन्होंने यथाशास्त्र भक्तिसे उनका पूजन किया । आसनपर बैठनेपर सूर्यकेतुने कहा—हे मुनिसत्तम, महेन्द्रदमन मेरी पुत्रीको माँगता है । मृगेन्द्र-शिखरपर रहकर उससे विरोध भी उचित नहीं है ॥ ३७-३९ ॥ हे नारदजी, उसका प्रतीकार कैसे करूँ ? नृपके वचन श्रवण कर नारदजी बोले—हे नृपश्रेष्ठ, सूर्यकेतु राजन् ! मत डरिये । अपनी पुत्री चन्द्रावतीको प्रद्युम्न-को दे दीजिये ॥ ४०-४१ ॥ मैं द्वारका, श्रीकृष्णके समीप जाकर उनका दर्शन करके

द्वारकायां मया गत्वा दृष्ट्वा च मधुसूदनम् ।
रौक्मिणेय इहानेयो भयमुत्सृज्यतामिति ॥ ४२ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा सूर्यकेतुर्नरेश्वरः ।
प्राह तं नारद मुनिं त्रातोऽस्मि भवता सदा ॥ ४३ ॥
भूपमामन्त्र्य स मुनिर्जगामाकाशवर्त्मना ।
गच्छता तेन मुनिना चन्दनागिरिमूर्धनि ॥ ४४ ॥
उद्यानविषये दृष्टा दैत्यकन्या प्रभावती ।
प्रभावत्याश्च सविधे आजगाम स नारदः ॥ ४५ ॥
प्रभावती नमस्कृत्य नारदं प्राह सुन्दरी ।
किमागमनकृत्यं ते तपोधन वदस्व मे ॥ ४६ ॥

नारद उवाच—

तुभ्यं दत्तो वरो देव्या प्रद्युम्नस्ते पतिः पुरा ।
भविष्यति न चाद्यापि नैति त्वां कृष्णनन्दनः ॥ ४७ ॥
चन्द्रावती सूर्यकेतोः कन्या परमसुन्दरी ।
कल्पिता कृष्णपुत्राय भ्राता तां याचते तव ॥ ४८ ॥
प्रद्युम्नानयनार्थाय गम्यते द्वारकापुरी ।
प्रद्युम्नोऽपि समागत्य त्वया योगमुपैष्यति ॥ ४९ ॥

प्रभावत्युवाच—

नारदस्य वचः श्रुत्वा मुनिं प्राह प्रभावती ।
सर्वं त्वं हि विजानासि त्रिकालज्ञ मुनीश्वर ॥ ५० ॥

प्रद्युम्नको (रुक्मिणी-पुत्रको) यहाँ ले आऊँगा, भय त्याग दो ॥ ४२ ॥ नारदजीके वचन श्रवणकर सूर्यकेतुने कहा आपने सदा मेरी रक्षा की है ॥ ४३ ॥ राजासे बात करके नारदजी चले गये । आकाश मार्गसे जाते हुए उन्होंने चन्दनागिरिके शिखरपर उद्यानमें दैत्यकन्या प्रभावतीको देखा । वे नारदजी प्रभावतीके समीप आये ॥ ४४-४५ ॥ सुन्दरी प्रभावतीने नारदजीको प्रणाम करके कहा—हे तपोधन, आपके आगमनका क्या कारण है ? कृपया, बतलायें ॥ ४६ ॥ नारदजीने उत्तर दिया—हे प्रभावति, देवीने तुम्हें वर दे दिया है कि, तुम्हारे पति प्रद्युम्न होंगे परन्तु, अभीतक वे कृष्णपुत्र नहीं आये । सूर्यकेतुकी पुत्री चन्द्रावती परम सुन्दरी है । उसने उसे प्रद्युम्नको देनेको निश्चय किया है । उस चन्द्रावतीको तुम्हारा भाई महेन्द्रदमन चाहता है ॥ ४७-४८ ॥ प्रद्युम्नको लेनेके लिये मैं द्वारकापुरी जा रहा हूँ । प्रद्युम्न भी आकर तुम्हारे साथ संबंधित होगा । नारदजीके वचन श्रवणकर प्रभावतीने नारदजीसे कहा—हे त्रिकालज्ञ, मुनीश्वर आप सब कुछ जानते हैं ॥ ४९-५० ॥ बिलद्वारपर, हे मुने, शंखनामक महान असुर मह

विलद्वारि महाभीमः शङ्खनामा महासुरः ।
वाग्वतीद्वारबन्धस्य रक्षकः कच्छपासुरः ॥ ५१ ॥
भ्राताऽपि मम दुर्द्धर्षः प्रद्युम्नः कथमेष्यति ।
प्रभावतीवचः श्रुत्वा नारदः प्राह तां पुनः ॥ ५२ ॥

नारद उवाच—

यत् प्रोक्तं मृगशावाक्षि सत्यमेव न संशयः ।
सुप्रभा नैव गन्तव्या स्थीयतामत्र भामिनि ॥ ५३ ॥
तव भ्रातुः प्रतापेन भयमत्र न विद्यते ।
इत्युक्त्वा प्रययौ धीमान् नारदो द्वारकां पुरीम् ॥ ५४ ॥
प्रभावती स्थिता तत्र चन्दनागिरिमूर्धनि ।
स गत्वा द्वारकां शीघ्रं सभायां कृष्णमास्थितम् ॥ ५५ ॥
ददर्श नारदो धीमान् यदुभिः परिवारितम् ।
आगतं नारदं वीक्ष्य यथाविधिपुरस्सरम् ॥ ५६ ॥
पूजयित्वा च गोविन्दः स्मितं कृत्वाऽब्रवीद्वचः ।

गोविन्द उवाच—

कुत आगम्यते ब्रह्मन् किमपूर्वं विलोकितम् ॥ ५७ ॥
पवित्रीकृतमस्माक भवनं मुनिसत्तम ।
पावितं नः कुलं सर्वं किमागमनकारणम् ॥ ५८ ॥
गोविन्दस्य वचः श्रुत्वा नारदो हृष्टमानसः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

पराक्रमी स्थित हैं। बाङ्मतीद्वारबन्धपर कच्छपासुर रक्षक रहता हैं। मेरा भाई भी बड़ा बलिष्ठ है। प्रद्युम्नजी कैसे आ सकते हैं ? प्रभावतीके वचन सुनकर नारदजीने फिर उससे कहा—मृगके बच्चेके समान नेत्रवाली, जो तुमने कहा वह, सन्देह रहित सत्य है। हे प्रभावतति, हे भामिनि, तुम यहाँ पर ही रहो, सुप्रभानगरी मत जाना ॥ ५१-५३ ॥ तुम्हारे भ्राताके प्रतापसे यहाँ कुछ भय नहीं है। ऐसा कहकर, बुद्धिमान् नारदजी द्वारकापुरी चले गये। प्रभावती चन्दन-पर्वतकी चोटीपर वहीं स्थित रही। मुनि नारदजीने शीघ्र द्वारका जाकर यदुवंशियोंसे सेवित सभामें स्थित श्रीकृष्णको देखा। नारदजीको आये हुए देखकर गोविन्दभगवान्ने यथाशास्त्र उनकी पूजा करके हंसकर पूछा—हे भगवन् नारद, आप कहाँसे आ रहे हैं तथा क्या-क्या अपूर्व घटनाएँ आपने देखीं ? ॥ ५४-५७ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ; आपने मेरा गृह पवित्र कर दिया। मेरा कुल भी पवित्र कर दिया। अपने आनेका कारण आप बतायें। गोविन्द-जीके वचन श्रवणकर प्रसन्नचित्त नारदजीने हाथ जोड़कर यह बात कही ॥ ५८-५९ ॥

नारद उवाच—

श्रृणु गोविन्द वक्ष्यामि यदर्थमहमागतः ।
हंसध्वजभयाद्भीतः सूर्यकेतुर्नराधिपः ॥ ६० ॥
विहाय श्वेतकां शीघ्रं मृगेन्द्रशिखरं ययौ ।
चन्द्रावती तस्य कन्या प्रद्युम्नाय प्रकल्पिता ॥ ६१ ॥
तां याचते महाभीमो महेन्द्रदमनोऽसुरः ।
दैत्यस्य भगिनी दिव्या नाम्ना देवी प्रभावती ॥ ६२ ॥
तस्यै पतिः पुरा क्लृप्तः प्रद्युम्नो गिरिकन्यया ।
प्रद्युम्नः प्रेष्यतां तत्र महेन्द्रदमनोऽसुरः ॥ ६३ ॥
हन्तव्यस्तव पुत्रेण नात्र कार्या विचारणा ।
प्रद्युम्नः प्रेष्यतामत्र मया साकं सुरेश्वर ॥ ६४ ॥
प्रभावत्या विवाहश्च चन्द्रावत्यास्तथैव च ।
महेन्द्रदमनश्चैव हन्तव्यस्तव सूनुना ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

अहत्वा दुर्जयं दैत्यं चन्द्रावत्यास्तपोधन ।
कथं विवाहो भविता प्रद्युम्नेन सुतेन मे ॥ ६६ ॥

नारद उवाच—

भूया गत्वा स हन्तव्यस्त्वया साकं मुनीश्वर ।
महेन्द्रदमनो दैत्यस्तव वध्यो न माधव ॥ ६७ ॥

हे गोविन्दजी, जिस कारणसे मैं आया हूँ वह सुनें-हंसध्वजसे भययुक्त होकर राजा सत्यकेतु श्वेतका नगरी छोड़कर शीघ्र मृगेन्द्र-शिखरपर चले गये ॥ चन्द्रावती नामक पुत्रीको उन्होंने प्रद्युम्नजीको देना निश्चय कर लिया है ॥ ६०-६१ ॥ महाबली महेन्द्र-दमन नामक असुर उसे माँग रहा है । उस महेन्द्रदमनकी बहन प्रभावती है ॥ ६२ ॥ पर्वतपुत्रीने प्रद्युम्न तुम्हारा पति होंगे । ऐसा प्रभावतीको पहले ही दे दिया है । अतः प्रद्युम्नको वहाँ भेजना चाहिये । आपके पुत्र प्रद्युम्नजी वहाँ जाकर असुर महेन्द्र-दमनको मार डालें । इसमें विचार-विमर्शकी आवश्यकता नहीं है । मेरे साथ हे देवेश्वर प्रद्युम्न वहाँ भेजे जायँ । वहाँ आपके पुत्र प्रद्युम्नजी महेन्द्र दमनको मारें तथा प्रभावती और चन्द्रावतीके साथ विवाह करें ॥ ६३-६५ ॥ तब गोविन्दजीने कहा—मेरे पुत्र प्रद्युम्नका परिणय चन्द्रावतीके साथ बिना दुर्जय महेन्द्रदमनको मारे कैसे हो सकता है ? हे तपोधन, हे मुनीश्वर, आपके साथ मुझे वहाँ जाना चाहिये तथा महेन्द्रदमनको मार डालना चाहिये । तब नारदजीने कहा—हे माधव, आप महेन्द्रदमन दैत्यको नहीं मार सकते हैं । वह प्रद्युम्नके द्वारा ही मारा जा सकता है ऐसा मैंने ब्रह्माजीसे सुना है । गोविन्दने पूछा—हे विप्र, आपने कैसे ब्रह्माजीसे सुना ।

श्रीकृष्ण उवाच—

प्रद्युम्नस्यैव वध्योऽसौ ब्रह्मणो वदनाच्छ्रुतम् ।
कथं ब्रह्ममुखाद्विप्र श्रुतं तत् कथ्यतां मम ॥ ६८ ॥
महेन्द्रदमनो दैत्यः कस्य पुत्रश्च कीदृशः ।
कथं महेन्द्रो विजितस्तदाचक्ष्व पुरो मम ॥ ६९ ॥

नारद उवाच—

वाणासुरो दैत्यराजः शोणिताख्ये पुरेऽभवत् ।
भार्या च रोहिणी तस्य पतिभक्तिपरायणा ॥ ७० ॥
तस्यां पुत्रः समुत्पन्नः सर्वदेवभयावहः ।
तस्मिन् संजातमात्रे तु प्रचचाल मही भृशम् ॥ ७१ ॥
वामं चक्षुः प्रास्फुरच्च सहस्राक्षस्य तत्क्षणात् ।
इन्द्रस्य दमन यस्मात् करिष्यति महाबलः ॥ ७२ ॥
अतो महेन्द्रदमनो नाम चक्रे तु भार्गवः ।
संप्राप्तयौवनो दैत्यः शुक्रं पप्रच्छ भक्तितः ॥ ७३ ॥
शक्रो जेतुं कथं शक्यस्तदाचक्ष्व गुरो मम ।
श्रुत्वा तस्य वचः शुक्रः प्राह दानवपुङ्गवम् ॥ ७४ ॥

शुक्र उवाच—

तपसा लभ्यते सिद्धिस्तपस्यां कुरु दानव ।
शक्रं जेष्यसि सङ्ग्रामे तपस्यायां सुदुर्जयम् ॥ ७५ ॥
गुरूपदेशमासाद्य महेन्द्रदमनोऽसुरः ।
रुद्रधारोदये तीर्थे चकार विमलं तपः ॥ ७६ ॥

वह बात सुनाइये। महेन्द्रदमन दैत्य कैसा है? किसका पुत्र है? कैसे महेन्द्र विजित है? कुल बातें मेरे समक्ष कहें--॥ ६६-६९ ॥ नारदजीने कहा--शोणितपुरमें दैत्येश वाणासुर रहता था। उसकी पत्नी रोहिणी पतिभक्ता थी। उसका पुत्र सर्वदेवभयदायक उत्पन्न हुआ। उसकी उत्पत्तिपर पृथ्वीमें बड़ा भूकम्प आया ॥ ७०-७१ ॥ इन्द्रका वाम नेत्र फड़क उठा था। शुक्राचार्यने उसका नाम इस कारणसे महेन्द्रदमन रखा कि, इससे इन्द्र हारेगा--इन्द्रका दमन होगा। अर्थात्--महाबली महेन्द्रदमन इन्द्रको हरायेगा। युवक होनेपर महेन्द्रदमनने शुक्राचार्यसे भक्तिसे पूछा—हे गुरो, मैं इन्द्रको कैसे जीतूँ? यह बात मुझे बतायें। उसकी बात श्रवणकर शुक्राचार्यने कहा--हे दानवश्रेष्ठ, तपस्यासे सिद्धि होती है। अतः तपस्या करो। तपस्यासे दुर्जय इन्द्रको तुम जीत लोगे ॥७२-७५॥ असुर महेन्द्रदमनने गुरुके उपदेशको मानकर रुद्रधारोदयतीर्थमें विमल तप किया ॥७६॥

सहस्रं शरदां तत्र वायुभक्षो जितेन्द्रियः ।
तपस्यया घोरया तु समाहृष्टो जगद्गुरुः ।। ७७ ।।
विमानेनार्कवर्णेन प्रादुरासीच्चतुर्मुखः ।
पितामहं समालोक्य दण्डवत् प्रणिपत्य च ।। ७८ ।।
महेन्द्रदमनो दैत्य इदं वचनमब्रवीत् ।
यदि तुष्टोऽसि देवेन्द्र वरं देहि ममेप्सितम् ।। ७९ ।।
अजेयः सर्वदेवैश्च भविष्यामि सदा रणे ।
दैत्यस्य वचनं श्रुत्वा प्राह वाक्यं पितामहः ।। ८० ।।
यदीप्सितं मनसि ते तत् तथाऽस्त्विति दानव ।
इति तस्मै वरं दत्वा यथाभिलषितं प्रभुः ।। ८१ ।।
विमानेनार्कवर्णेन ब्रह्मलोकं जगाम ह ।
ततो लब्धवरो दैत्यो वीरैर्दैत्यैः समन्वितः ।। ८२ ।।
भार्गवेणाभिषिक्तस्तु दैत्यराज्ये रराज ह ।
संमन्त्र्य सचिवैः सार्धं महेन्द्रदमनाऽसुरः ।। ८३ ।।
कूष्माण्डं प्रेषयामास दूतं देवेन्द्रसन्निधौ ।
ततो गत्वा शक्रसभां कूष्माण्डो घोरविक्रमः ।। ८४ ।।
पुरन्दरं जगादेदं देवानां तत्र पश्यताम् ।
स्वयम्भुवा स्वामिनो मे राज्यं दत्तं पुरन्दर ।। ८५ ।।
राज्यानि वीरभोग्यानि त्यक्तुं तस्मात् त्वमर्हसि ।
कूष्माण्डवचनं श्रुत्वा रोषाकुलितमानसः ।। ८६ ।।

जितेन्द्रिय असुरने सहस्र वर्ष तक पवन पीकर बिताया । उसकी घोर तपस्यापर जगद्गु
ब्रह्माजी प्रसन्न हो गये ।। ७७ ।। चतुर्मुख ब्रह्माजी सूर्यवर्णी विमानसे प्रकट हो गये
पितामहको देखकर दण्डवत् प्रणाम करके महेन्द्रदमन दैत्य यह वचन बोला—हे देवे
ब्रह्माजी, यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे मनचाहा वर दें । मैं रणमें सब देवोंसे अजेय र
दैत्यके वचन सुनकर ब्रह्माजी बोले ।। ७८-८० ।। हे दानव, जो तुम्हारे मनमें अभि
षित है, वह सफल हो । इस प्रकार उसे मनचाहा वरदान देकर ब्रह्माजी—।। ८१
सूर्यवर्णी विमानसे ब्रह्मलोक गये । तब प्राप्त वरदानवाला वह दैत्य दैत्यवीरोंके स
।। ८२ ।। शुक्राचार्यसे अभिषिक्त होकर दैत्यराज गद्दीपर बैठा । मन्त्रियोंके साथ वि
करके महेन्द्रदमनने कूष्माण्ड दूतको देवेन्द्रके समीप भेजा । घोरपराक्रमी कूष्मा
इन्द्रसभामें जाकर देवतोंके समक्ष इन्द्रसे बोला—हे इन्द्र ! स्वामी महेन्द्रदमन
ब्रह्माजीने राज्य दिया हैं । इसलिए वीरभोग्यराज्यको आप छोड़ दें । कूष्माण्डके व
सुनकर रोषव्याकुल चित्तसे, इन्द्रने, सभामें उत्तर दिया । राज्य वीरोंसे भोगे जाने यो

अब्रवीदुत्तरं वाक्यं सभायां बलसूदनः ।
राज्यानि वीरभोग्यानि सत्यमेव न संशय ॥ ८७ ॥
राज्यं वोरा न त्यजन्ति विना युद्धेन दानव ।
बाणासुरसुतं ब्रूहि कूष्माण्ड वचनं मम ॥ ८८ ॥
यत् ते वीर्यं बलं तेजस्तद्दर्शय ममाग्रतः ।
इति शक्रवचः श्रुत्वा दूतः परमकोपनः ॥ ८९ ॥
आगत्य कथयामास दैत्याग्रे शक्रभाषितम् ।
दूतवाक्यं तदा श्रुत्वा महेन्द्रदमनोऽसुरः ॥ ९० ॥
शङ्खासुरं पुरस्कृत्य भ्रातरं कच्छपानुजम् ।
दैत्यसैन्यं पुरस्कृत्य ययौ शक्रपुरीं शुभाम् ॥ ९१ ॥
उपरुध्येन्द्रनगरीं महेन्द्रदमनोऽसुरः ।
नन्दनाधिष्ठितो भूत्वा तस्थौ संग्रामकामुकः ॥ ९२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये महेन्द्रदमनो-
पाख्यानं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

हैं। नि.सन्देह यह सत्य है ॥ ८३-८७ ॥ हे दानव, वीरगण युद्धके विना राज्य नहीं छोड़ते हैं। हे कूष्माण्ड, बाणासुरके पुत्रसे यह मेरी बात कह दो। जो तुम्हारा पराक्रम तेज है वह मुझे दिखाओ। इन्द्रके वचन श्रवणकर दूत परमकुपित होकर (लौटा) । ॥ ८८-८९ ॥ दूतने आकर दैत्यके सामने सब बातें कह दीं जो इन्द्रने कही थीं। महेन्द्रदमन असुरने सब बातें सुनकर भाई शंखासुर अनुज कच्छपासुरको आगे करके, दैत्यसेनाको भी आगे करके शुभ इन्द्रपुरीको प्रस्थान कर दिया। समरेच्छुक महेन्द्रदमनने इन्द्र नगरी घेर ली और नन्दन वनमें डेरा डाल दिया ॥ ९०-९२ ॥

●

नवमोऽध्यायः

नारद उवाच—

नन्दनाधिष्ठितं दृष्ट्वा महेन्द्रदमनासुरम् ।
देवसैन्यं पुरस्कृत्य निर्ययौ बलसूदनः ॥ १ ॥
रथदुन्दुभिनिर्घोषैर्हयानां ह्रेषितैस्तथा ।
गजानां बृंहितैश्चापि न चाश्रूयत किंचन ॥ २ ॥
ननादातिशयं शङ्खः स्वरेण महता तदा ।
पपात शरवृष्टिश्च सेनयोरुभयोरपि ॥ ३ ॥
तदा दैत्यबलैर्भग्नं देवसैन्यं दुरात्मभिः ।
पलायिते देवसैन्ये आजगाम पुरन्दरः ॥ ४ ॥
महता शरवर्षेण - च्छादयामास दानवान् ।
दानवानां च केषां चिच्चिच्छेद चरणद्वयम् ॥ ५ ॥
केषां चित् पातयामास शिरांसि निशितैः शरैः ।
प्रभग्नां वाहिनीं दृष्ट्वा स्वरेण महता नदन् ॥ ६ ॥
अभ्ययादतिसंक्रुद्धः शङ्खो दानवपुङ्गवः ।
पुरन्दरस्य शङ्खेन युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥ ७ ॥
कृते प्रतिकृतिं कुर्वन् शङ्खः परमदारुणः ।
विव्याध सप्तभिर्बाणैः शक्रस्य हृदयं दृढैः ॥ ८ ॥
विद्धोऽपि बलभित् क्रुद्धो दर्शयन् हस्तलाघवम् ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहान् शरेणैकेन सारथिम् ॥ ९ ॥

महेन्द्रदमनको नन्दनकाननमें अधिष्ठित देखकर, इन्द्रने देवसेना आगे करके प्रस्था[न] कर दिया ॥ १ ॥ रथ और दुन्दुभिके निर्घोषोंसे, घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे, हाथियो[ंकी] चिग्घाड़से, कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता था ॥ २ ॥ शंखासुर अत्यन्त गरजा तथा दो[नों] सेनाओंने प्रचुर बाण वर्षा की ॥ ३ ॥ दुरात्मा दैत्यकी सेनाने देवसेना भगा दी । उ[स] समय इन्द्र आये ॥ ४ ॥ उन्होंने प्रचण्ड बाण वर्षासे दानवोंको आच्छादित कर दि[या] तथा किन्हीं-किन्हीं दानवोंके दोनों पैर काट दिये ॥ ५ ॥ किन्हींके शिर तेज बाण[ोंसे] काट दिये । प्रभग्न सेनाको देखकर अत्यन्त चिल्लाता हुआ अति क्रोधके साथ शंखा[सुर] आया ॥ ६ ॥ दानवपति शंखके साथ इन्द्रका युद्ध छिड़ गया ॥ बाणसे बाण[का] शस्त्रसे शस्त्रका, बदला चुकाते हुए परम दारुण शंखासुरने सात दृढ़ बाणोंसे इन्द्रका हृ[दय] वेधा ॥ ७-८ ॥ विद्ध होनेपर भी इन्द्रने हस्तलाघव दिखाते हुए चार बाणोंसे चा[र] घोड़े तथा एक बाणसे शंखके सारथीको मार डाला ॥ ९ ॥ दश मर्मभेदी बा[णों]

विव्याध हृदयं तस्य दशभिर्मर्मभेदिभिः ।
शङ्खं च विकलं दृष्ट्वा महेन्द्रदमनो रुषा ॥ १० ॥
चूर्णयामास समरे रथं शक्रस्य सुन्दरम् ।
रथान्निपतितं शक्रं यावद्गृह्णाति दानवः ॥ ११ ॥
तावत् तस्य भयत्रस्ता मुक्तकेशोऽमराधिपः ।
उत्पपात नभस्तूर्णं परित्यज्य रणस्थलीम् ॥ १२ ॥
महेन्द्रदमनो दैत्यः प्रविवेशामरावतीम् ।
क्षणेन तत्र संप्राप्तो विमानेन चतुर्मुखः ॥ १३ ॥
रणे विजयिनं दृष्ट्वा दैत्येन्द्रमिदमब्रवीत् ।

ब्रह्मोवाच—

पुरन्दर पुरे धीर न स्थातव्यं ममाज्ञया ॥ १४ ॥
कीर्त्तिश्च परमा लब्धा नाम सत्यं त्वया कृतम् ।
सुप्रभायां त्वया स्थेयं दानवैः समरोद्धतैः ॥ १५ ॥
त्रैलोक्ये यानि रत्नानि वीरभोग्यानि दानव ।
सुप्रभायां गमिष्यन्ति सर्वाणि मम शासनात् ॥ १६ ॥
इति ब्रह्मवचः श्रुत्वा महेन्द्रदमनस्तदा ।
सुप्रभा नगरीं रम्यां ऽययौ दानवैर्वृतः ॥ १७ ॥
रणत्रस्तं सुरेन्द्रं च ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
प्रादुर्भूते शचीनाथ मथुरायां मधुद्विषि ॥ १८ ॥
प्रद्युम्नस्तनयस्तस्य भविष्यति मनोरथः ।
महेन्द्रदमनं हन्ता कामो दग्धो हरेण यः ॥ १९ ॥

शंखासुरके हृदयमें मारे । शंखासुरको विकल देखकर महेन्द्रदमनने, क्रोधसे, युद्धमें, इन्द्रके रथको चूर्णित कर दिया । रथसे गिरे हुए इन्द्रको, ज्योंही वह पकड़ने चला त्योंही उससे डरे हुए खुले बालवाले इन्द्र रणस्थल छोड़कर आकाशमें उड़ गये ॥ १०-१२ ॥ तब महेन्द्रदमन दैत्य अमरावतीमें प्रविष्ट हुआ । उसी क्षण विमानसे ब्रह्माजी वहाँपर आ पहुँचे । रणमें विजयी दैत्येन्द्रको देखकर यह शब्द बोले—हे धीर, दैत्य, मेरी आज्ञासे तुम इन्द्रकी नगरीमें मत रहो ॥ १३-१४ ॥ हे महेन्द्रदमन, तुमने परम कीर्ति पायी, तुमने सत्य कार्य किया । तुम समरोद्धत दानवोंके साथ सुप्रभा नगरीमें रहो । हे दानव, जो वीरभोग्य रत्न हैं वे तुम्हारे पास सुप्रभामें, मेरी आज्ञासे, जायेंगे ॥ १५-१६ ॥ तब ब्रह्माजीकी आज्ञाको श्रवणकर दानवोंसे परिवृत महेन्द्रदमन सुप्रभा नामक सुन्दर नगरीको चला गया ॥ १७ ॥ रणत्रस्त सुरेन्द्रसे ब्रह्माजीने यह वचन कहा—हे शचीनाथ, मथुरामें श्रीकृष्णजीके जन्मके पश्चात् शिवजीसे दग्ध कामदेव

गौतमस्य वधूर्भुक्ता त्वया कपटरूपिणा ।
अतः पुरा कृतं कर्म त्वया भुक्तं पुरन्दर ॥ २० ॥
पराजयः शत्रुहस्तान्मरणादतिरिच्यते ।
अतः संत्यज्यतां शक्र वैराग्यं मदनुज्ञया ॥ २१ ॥
आश्वस्तो ब्रह्मणा शक्रः प्रविवेशामरावतीम् ।

नारद उवाच—

अत एव हि गोविन्द महेन्द्रदमनोऽसुरः ॥ २२ ॥
प्रद्युम्नेनैव हन्तव्यो दारुणोऽपि न संशयः ।
प्रद्युम्नोऽपि मया साकमतो गच्छतु सुप्रभाम् ॥ २३ ॥
प्रातस्त्वयाऽपि गोविन्द समागन्तव्यमेव हि ।

मार्कण्डेय उवाच—

इति नारदवाक्यान्ते प्रद्युम्नं मधुसूदनः ॥ २४ ॥
सुप्रभां प्रेषयामास नारदेन समं तदा ।
आरुह्य गरुडं शीघ्रं प्रद्युम्नः प्राप तत्क्षणात् ॥ २५ ॥
चन्दनाशैलशिखरं यत्रास्ते हि प्रभावती ।
सर्वर्त्तुकुसुमाकीर्णे नानावृक्षमनोहरे ॥ २६ ॥
विचित्रमण्डपे खट्वासुप्ता देवी प्रभावती ।
आविलोक्य शरज्ज्योत्स्नां हृदयेन विदूयता ॥ २७ ॥
संचिन्तयन्ती प्रद्युम्नं गिरिजावरदानतः ।
शशाङ्कं निन्दयामास कामबाणप्रपीडिता ॥ २८ ॥

महेन्द्रदमन दैत्यका नाशक उन, श्रीकृष्णके पुत्ररूपमें उत्पन्न होगा ॥ १८-१९ ॥ तुमने कपटरूप धारणकर गौतम-पत्नीसे सम्भोग किया था । अतः पहले किये पाप फल भोगना पड़ा । शत्रुके हाथसे प्राप्त पराजय मरणसे भी अधिक कष्टदायक है अतः हे देवेन्द्र, तुम मेरे आदेशसे वैराग्य छोड़ दो । तब ब्रह्माजीसे आश्वस्त अमरावतीमें प्रविष्ट हुए । ततः नारदजीने कहा—हे गोविन्द, महेन्द्रदमन असुर होनेपर भी निःसन्देह प्रद्युम्न द्वारा ही मारा जायगा । अतः प्रद्युम्न भी, हे गोविन्द, सुप्रभा नगरी चलें ॥२०-२३॥ आप भी प्रातः वहाँ आवें । इस प्रकार नारदजीके पश्चात् मधुसूदनने प्रद्युम्नको नारदजीके साथ भेज दिया । गरुड़पर चढ़कर तत्क्षण चन्दनागिरिपर पहुँचे—जहाँ प्रभावती थी । वह गिरि समस्त ऋतुओं व्याप्त तथा अनेक मनोहर वृक्षोंसे व्याप्त था । वहाँ विचित्र मण्डपमें खटिया हुई प्रभावती शरत्की चाँदनी देखकर गिरिजाके वरदानसे आश्वस्त प्रद्युम्नको हुई, कामबाणपीडित होकर खिन्न चित्तसे चन्द्रको कोसने लगी ॥ २४-२८ ॥

प्रभावत्युवाच—

जन्म क्षीरपयोनिधौ निवसतिः शम्भोः सदा मस्तके
पीयूषाम्बुधितां गतः क्रतुभुजां शैत्यं स्वभावस्तव।
भूत्वा चण्डकरो निहंसि कुपितो बालामनाथां भृशं
नो जानामि कलानिधान भवता किं कारणं कथ्यताम्॥२९॥
चकोरनेत्रसुखद चन्द्र चन्दनशीतल।
जगदाह्लादको भूत्वा मां हंसि कृपणां कथम् ॥ ३० ॥
मम कान्तमुखेन त्वं जितोऽसि शशलाञ्छन।
अतस्तस्य प्रियां हंसि करैरतिसुदुस्सहैः ॥ ३१ ॥
शशाङ्क क्षीणतामेषि वियोगिजनपीडनात्।
तथाऽपि जायते चित्ते न घृणा ते वधूवधे ॥ ३२ ॥
कृतान्ततुल्यः शशलाञ्छन त्वं करोमि किं वा सविधे न कान्तः।
प्राणापहर्त्ता मदनो दुरन्तः सत्यं भविष्यत्यचिरान्मदन्तः ॥ ३३ ॥
कुसुमानि दहन्ति मानसं विपरीतः पवनोऽपि दक्षिणः।
भ्रमतामलिनां हि सुस्वरैर्बधिरे मे श्रवणे कृते भृशम् ॥ ३४ ॥
कोकिलाकलरवेन मानसं जायते हि भृशमाकुलं मम।
पार्श्वमेषि न हि माधवात्मजः किं करोमि मदनः सुदारुणः ॥ ३५ ॥
शिरीषसुकुमाराङ्गी बालाऽहं नवयौवना।
चाण्डालादधिकश्चण्डो धनुःपाणिर्मनोभवः ॥ ३६ ॥

आपका जन्म क्षीर समुद्रमें हुआ है। सदा शिवजीके शिरपर निवास करते हैं। क्रतुभुजोंकी, देवोंकी, पीयूषाम्बुधिता प्राप्त, आपका स्वभाव शीतलतासे युक्त है। तब भी आप, न जाने क्यों, तीक्ष्ण किरणोंसे, कुपित होकर, अनाथ बालाओंको अति पीडित करते हैं। हे कलानाथ, आप इसका कारण बतायें ॥ २९ ॥ हे चकोर—नेत्र, सुखदाता, चन्दनके समान शीतल, संसारमोहक होकर भी मुझ कृपणा (दीना) को क्यों मारते हैं? ॥ ३० ॥ हे चन्द्र, आप मेरे पतिके मुखसे ताड़ित हैं। अतः उनकी प्रियाको कठोर किरणोंसे—दुःसह किरणोंसे—सता रहे हैं? ॥ ३१ ॥ हे चन्द्र, वियोगियोंको पीड़ा देनेसे आप क्षीणता प्राप्त करते हैं, तो भी, वियोगियोंको पीड़ा देनेमें आपके चित्तमें घृणा नहीं? हे चन्द्र, आप यमराज सदृश हैं। मैं क्या करूँ मैं अपने पतिके समीप नहीं हूँ। प्राणोंके अपहरण करनेवाला कामदेव सचमुच शीघ्र ही मेरा अन्त करेगा ॥३२-३३॥ हाय पुष्प चित्तको जलाते हैं। दक्षिण पवन भी विपरीत है। भ्रमण करते हुए भौरोंके शब्द मेरे दोनों कानोंको अत्यन्त बहरा कर रहे हैं ॥ ३४ ॥ मेरा चित्त कोयलोंकी ध्वनिसे अति व्याकुल हो रहा है। माधवके पुत्र प्रद्युम्न मेरे पार्श्व (बगल) में नहीं है। हाय, कामदेव अति दारुण हो रहा है ॥ ३५ ॥ चाण्डालसे भी अधिक प्रचण्ड,

वरो दत्तो गिरिजया प्रद्युम्नो दयितस्तव ।
नाद्यापि स समायाति किं कर्त्तव्यमतः परम् ॥ ३७ ॥
इत्थं बहुविधैर्वाक्यैर्यावच्चन्द्रं विनिन्दति ।
तावदाकाशमार्गेण प्रद्युम्नो मुनिना सह ॥ ३८ ॥
ददृशे च तयाऽत्यन्तभीतया मुनिसत्तम ।
किमयं भास्करो देवः किमुताग्निः समागतः ॥ ३९ ॥
एवं प्रभावती यावन्निरूपयति सत्वरम् ।
तावत् प्रद्युम्नसहितो नारदः पुरतः स्थितः ॥ ४० ॥
वीणापाणिं मुनिं दृष्ट्वा प्रद्युम्नसहितं स्वयम् ।
उत्थाय प्रणतिं चक्रे तदा देवी प्रभावती ॥ ४१ ॥

नारद उवाच—

तावत् प्रभावतीं प्राह नारदो मुनिसत्तमः ।
अयं ते पतिरायातः प्रभावति हरेः सुतः ॥ ४२ ॥
यो निर्दिष्टो गिरिजया सौन्दर्यालयतां गतः ।
गान्धर्वेण विवाहेन भजस्वामुं हरेः सुतम् ॥ ४३ ॥
पूर्णो मनोरथो चास्तु तवाद्य हरिणेक्षणे ।

मार्कण्डेय उवाच—

जैमिने नारदवचः श्रुत्वा देवी प्रभावती ॥ ४४ ॥
कृताञ्जलिपुटा भूत्वा भूयः प्रोवाच नारदम् ।

धनुष हाथमें धारण किये हुए वह कामदेव यहाँ स्थित है । मैं नव यौवना बाला शिरी
पुष्पके समान सुकुमार शरीरवाली हूँ—क्या करूँ ? कैसे सहूँ पीडा ? ॥३६॥ हे
पार्वतीसे वरदानित आपका प्रिय प्रद्युम्न अभीतक नहीं आया है । अब मैं क्या करूँ—
अब क्या करना चाहिये ? ॥३७॥ इस प्रकारसे, बहुत प्रकारके वाक्योंसे, जब वह चं
निन्दा कर रही थी तब ही (उसी समय) आकाश मार्गसे (विमानसे) मुनि नार
साथ प्रद्युम्नजी आ गये ॥ ३८ ॥ उस प्रभावतीने अति भयपूर्वक देखा और कहा
क्या यह सूर्य है ? अथवा अग्नि है । इस प्रकार प्रभावती निरूपित कर रही थी ।
समय शीघ्रतासे प्रद्युम्नके साथ नारदजी सामने स्थित दिखायी पड़े ॥ ३९-४०
प्रद्युम्नके साथ वीणापाणि (नारदको) देखकर प्रभावतीदेवीने उठकर प्र
किया ॥ ४१ ॥ मुनिश्रेष्ठ नारदजीने प्रभावतीसे कहा—हे देवि, ये हरिके पुत्र तुम
पति प्रद्युम्नजी आ गये हैं ॥ ४२ ॥ जैसा पार्वतीने पर्वतपर सूचित किया था, ये
हरिके पुत्र, प्रद्युम्न हैं । इनके साथ गान्धर्व विवाह करके इनकी सेवा करो ॥ ४३
हे हरिणनेत्रि, आज तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ । मार्कंडेयमुनि कहा—हे जैमिने, नार

प्रभावत्युवाच—

मुने प्रज्ञप्तुमिच्छामि श्रूयतां मुनिसत्तम ॥ ४५ ॥
महेन्द्रदमनो भ्राता ममास्ति बलवान् प्रभुः ।
वासवो येन समरे विजितः स्वेन तेजसा ॥ ४६ ॥
अयं च सुकुमाराङ्गः सम्यगप्राप्तयौवनः ।
यदि जानाति दैत्येन्द्रः कथं स्वस्ति भविष्यति ॥ ४७ ॥
श्रुत्वा प्रभावतीवाक्यं पुनः प्रोवाच तां मुनिः ।
श्रूयतां मृगशावाक्षि हितं यत् ते वदाम्यहम् ॥ ४८ ॥

नारद उवाच—

महेन्द्रदमनाद्भ्रातुर्मा भयं कुरु भामिनि ।
अनेन निहतः सङ्ख्ये दुर्जेयः कालशम्बरः ॥ ४९ ॥
महेन्द्रदमनं दैत्यमयमेव हनिष्यति ।
देवि प्रभाते विमले महद्युद्धं भविष्यति ॥ ५० ॥
आगमिष्यति ते देवि श्वशुरो गरुडासनः ।
प्रद्युम्नस्य सहायार्थं श्वः प्रभाते न संशयः ॥ ५१ ॥
हत्वा महेन्द्रदमनं दुर्जयं देवकण्टकम् ।
चन्द्रावत्या विवाहोऽपि कर्त्तव्योऽनेन भामिनि ॥ ५२ ॥
द्वारवत्यां त्वया गत्वा पत्याऽनेन मृगेक्षणे ।
भोक्तव्या विविधा भोगा देवैरपि सुदुर्लभाः ॥ ५३ ॥

वचन श्रवणकर प्रभावतीदेवी दोनों हाथ जोड़कर नारदजीसे पुनः बोली—हे मुनिश्रेष्ठ, हे मुने, आपसे कुछ विज्ञापित करना चाहती हूँ ॥ ४४-४५ ॥ मेरा बलवान्, समर्थ, भाई महेन्द्रदमन है । जिससे तेजस्वी बलशाली इन्द्र युद्धमें पराजित हो गये हैं ॥ ४६ ॥ ये सुकुमाराङ्ग हैं पूर्ण युवक भी नहीं हैं । यदि वह दैत्येन्द्र जान जायगा तो कुशल कैसे होगी ?—कुशल नहीं ॥ ४७ ॥ प्रभावतीके वाक्य सुनकर नारदजीने उससे फिर कहा—हे मृगशावाक्षि, सुनो, तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ ॥ ४८ ॥ हे भामिनि, महेन्द्रदमन भाईसे मत डरो । इन प्रद्युम्नने संग्राममें दुर्जय कालरूपशम्बर दैत्य मार डाला है ॥ ४९ ॥ हे प्रभावतीदेवि, प्रातःकाल महान्युद्ध होगा तथा ये ही प्रद्युम्नजी महेन्द्रदमनको मारेंगे ॥ ५० ॥ हे देवि, तुम्हारे श्वसुर श्रीकृष्णजी प्रद्युम्नके सहायार्थं कल प्रभातमें आयेंगे । इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५१ ॥ हे भामिनि, देवकण्टक, दुर्जय महेन्द्रदमनको मारकर चन्द्रावतीके साथ भी ये प्रद्युम्नजी विवाह करेंगे ॥ ५२ ॥ हे प्रभावति, हे मृगनयनि, इन प्रद्युम्नपतिके साथ तुम द्वारका जाकर अनेक देवतोंको दुर्लभ भोग भोगो ॥ ५३ ॥ तब प्रभावतीने कहा—हे नारदमुने, यदि ये प्रद्युम्नजी

प्रभावत्युवाच—

इति नारदवाक्यान्ते पुनः प्राह प्रभावती ।
पत्याऽनेन मम भ्राता हन्तव्यो यदि नारद ॥ ५४ ॥
जीवनेन सुखेनापि न कार्यं विद्यते मम ।
अकीर्त्तिः सर्वलोकेषु भविष्यति न संशयः ॥ ५५ ॥
प्रभावत्या हि पत्यर्थे स्वभ्राता विनिपातितः ।
अतो नारद नेच्छामि प्रद्युम्नं पतिमुत्तमम् ॥ ५६ ॥
अकीर्तितः परं भीत्या यात्वयं स्वगृहं मुने ।
इति वाक्यं तदा श्रुत्वा पुनः प्रोवाच नारदः ॥ ५७ ॥

नारद उवाच—

अस्मिन्नर्थे मा विषादस्तवास्तु वरवर्णिनि ।
पितुः कुलाधिकं कान्तमिच्छन्ति च वरस्त्रियः ॥ ५८ ॥
भवितव्यं भवत्येव प्रयासस्तु निरर्थकः ।
अत एवं न शोचन्ति पण्डिता मृगलोचने ॥ ५९ ॥
इदं विधात्रा रचितं श्रूयतां वरवर्णिनि ।
प्रद्युम्नस्ते पतिर्भावी सत्यं पङ्कजलोचने ॥ ६० ॥
महेन्द्रदमनो दैत्यो हन्तव्योऽनेन सर्वथा ।
इति ज्ञात्वा वरारोहे विषादं मुञ्च भामिनि ॥ ६१ ॥
मृगेन्द्रशिखरं यामि प्रातरेष्यामि तेऽन्तिके ।
इत्युक्त्वा नारदमुनिमृगेन्द्राशखरं ययौ ॥ ६२ ॥

मेरे भाईको मारेंगे तो मेरे इस सुखमय जीवनसे क्या लाभ ? निःसन्देह मेरे विवा मेरी अकीर्ति सर्वलोकोंमें फैलेगी ॥ ५४-५५ ॥ "अपने विवाहके लिये (पतिकी प्रा लिये) प्रभावतीने अपने भाईको मरवा डाला ।" हे नारद, इस कारणसे मैं प्र उत्तम पतिको नहीं प्राप्त करना चाहती हूँ ॥ ५६ ॥ हे नारद, दुष्कीर्तिके अति ये प्रद्युम्नजी अपने गृहको जायें । इस प्रकार ऐसे वाक्य श्रवणकर नारदमुनि बोले—॥ ५७ ॥ हे वरवर्णिनि, इस विषयमें तुम्हारा विषाद वृथा है । पिताके कु भी अधिक उत्तम कुलवाले पतिको उत्तम महिलायें चाहती हैं ॥ ५८ ॥ भवित होकर ही रहती है । उसके विषयमें प्रयास व्यर्थ होता है । हे मृगलोचने, इसी पण्डितगण इस विषयमें सोच नहीं करते हैं ॥ ५९ ॥ हे वरवर्णिनि, विधाताने यह है । सुनो, हे पङ्कजलोचने, तुम्हारे पति ये प्रद्युम्न होंगे ॥ ६० ॥ महेन्द्रदमन दै प्रद्युम्नजी अवश्य मारेंगे । हे वरारोहे, हे भामिनि, यह बात ज्ञातकर विषाद करो ॥ ६१ ॥ मैं मृगेन्द्रशिखरको जाता हूँ प्रातः तुम्हारे समीप आऊँगा । ऐसा क

मार्कण्डेय उवाच—

गत्वा तत् कथयामास सूर्यकेतोः प्रभोः पुरः ।
गते मुनिवरे देवी प्रद्युम्नाय स्वमासनम् ॥ ६३ ॥
ददौ च लज्जिता भूत्वा न हि प्रोवाच किं चन ।
त्रपानतमुखीं देवीं प्रद्युम्नः प्राह सादरम् ॥ ६४ ॥
त्वद्रूपसम्पदं श्रुत्वा नारदस्य मुखान्मया ।
लब्धा निद्रा मया नैव सदा त्वद्गतचेतसा ॥ ६५ ॥
इत्यादिविविधं वाक्यमुक्त्वा माधवबालकः ।
उपयेमे विवाहेन गान्धर्वेण प्रभावती ॥ ६६ ॥
ततोऽङ्कमध्यमारोप्य राजपुत्रीं प्रभावतीम् ।
प्रद्युम्नो रूपिणां श्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६७ ॥
कान्तिमान् नयनानन्दजननो जनमोहनः ।
प्रयाति पश्य पूर्णेन्दुस्त्वद्वक्त्रस्योपमां प्रिये ॥ ६८ ॥
संकुचत्यब्जनिकरं विहाय कमलोत्पलम् ।
प्रयाति मधुलिट् कोऽपि विकसत्कुमुदोदरम् ॥ ६९ ॥
भृङ्गराजभराक्रान्तकेशरं कुमुदं प्रिये ।
पीताधरमिवाभाति रत्यन्ते कामिनीमुखम् ॥ ७० ॥
मन्दमारुतविक्षिप्तैः प्रचलद्भिः सुकोमलैः ।
पल्लवाञ्जलिभिः पुष्पं क्षिपन्ति तरवः प्रिये ॥ ७१ ॥

नारदमुनि मृगेन्द्रशिखरको चले गये ॥ ६२ ॥ वहाँ जाकर नारदजीने सूर्यकेतुराजाके सामने वे सब बातें कह दीं। नारदमुनिके चले जानेपर प्रभावतीने अपना आसन प्रद्युम्नजीको दे दिया और लज्जासे नम्रमुखी प्रभावतीसे प्रद्युम्नने आदरके साथ कहा—॥ ६३-६४ ॥ हे प्रिये, तुम्हारी रूपसम्पत्ति नारदजीके मुखसे श्रवणकर, सदा तुम्हारे समीप गये चित्तवाले, हमने निद्रा भीन प्राप्त की। (सदा तुम्हारी यादमें लीन रहा) ॥ ६५ ॥ माधवपुत्रने इस प्रकार अनेक बातें कहकर गान्धर्व विवाह प्रभावतीके साथ कर लिया ॥६६॥ तब रूपवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नने राजकुमारी प्रभावतीको गोदमें बिठाकर यह बात कही ॥ ६७ ॥ हे प्रिये, तुम्हारे मुखके समान, कान्तिमान, नयनोंको आनन्ददायक, जनमोहक चन्द्रमा आ रहा है—देखो ॥ ६८ ॥ हे प्रिये, कोई भ्रमर, मुकुलित कमल समूहको त्यागकर पुष्पित कुमुदोंपर आ रहा है ॥ ६९ ॥ हे प्रिये, भ्रमरराजोंके भारसे आक्रान्त केशरवाला कुमुद, रति (रमण) के पश्चात् पिये हुए अधरवाले, कामिनी मुखके समान शोभित हो रहा है ॥ ७० ॥ हे प्रिये, मन्द-मन्द पवनसे चालित, सुकोमल रूपसे—हिलते-डोलते वृक्षगण पल्लवरूपी अञ्जलिके पुष्प फेंक

स्मितपुष्पोद्गममयं रुचिराधरपल्लवम् ।
भ्रूलतानृत्यबहुलमुद्यानमिव त्वन्मुखम् ॥ ७२ ॥
इत्युक्त्वा प्रियवाक्येन प्रियां प्रेमप्रवर्त्तकः ।
रेमे स रुक्मिणीसूनू रम्ये गिरिवरे तदा ॥ ७३ ॥
ततः स्फुरत्पद्मपरागपिञ्जरा
तरङ्गमालारुचिरा कलावृता ।
प्रभावती हंसकलप्रतापिनी
सरोरुहिण्या उपमानतां ययौ ॥ ७४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

रहे हैं ॥ ७१ ॥ हे प्रिये, पुष्पोद्गममय स्मित (मुसकान) वाला, सुन्दरपल्लवरूप अधरवाला, भ्रू (भौंह) लतारूप नृत्यप्रचुरवाला तुम्हारा मुख उद्यानके समान शोभित हो रहा है ॥ ७२ ॥ प्रेमप्रवर्त्तक रुक्मिणीका पुत्र उस गिरिवरपर प्रियाके प्रति ऐसे वाक्य कहकर--प्रिय वाक्योंके सहित--उसके साथ (प्रभावतीके साथ) रमण करने लगा ॥ ७३ ॥ ततः वह प्रभावती पुष्पितकमलके परागसे पीली, जलतरंगमालासे सुन्दर-कला (किरण) सहिता, हंसोंके समान बोलने वाली, (हंसोंकी शब्दावलीयुक्ता) कमलिनीके समान दीख पड़ी ॥ ७४ ॥

दशमोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

वारुणीदिशमापन्ने शशाङ्के फेनसन्निभे ।
संप्राप्तं नारदं दृष्ट्वा प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
कथं जेयः स देवर्षे दानवेन्द्रः सुदुर्जयः ।
सुव्यक्तं बालभावेन स्वल्पवीर्येण वै मया ॥ २ ॥

मार्कण्डेयमुनिने कहा--फेनके समान शुभ्र चन्द्रमा जब पश्चिम दिशामें अस्त हो रहा था । तब नारदजीको आया हुआ देखकर प्रद्युम्नजी ने कहा--॥१॥ हे देवर्षे, अति दुर्जय वह दानवेन्द्र महेन्द्रदमन, सुव्यक्त (स्पष्ट) बालभावयुक्त, अल्पपराक्रमवाले मुझसे

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
अब्रवीदीदृशं वाक्यं भगवान् नारदो मुनिः ॥ ३ ॥
जेष्यसि त्वं महाबाहो दानवेन्द्रं सुदुर्जयम् ॥ ४ ॥
ब्रह्मणो वचनादेव दैत्येन्द्रेण दुरात्मना ।
जितं लोकत्रयं तेन लोकपालाभिरक्षितम् ॥ ५ ॥
ततः प्रहृष्टहृदयो हर्षाद्रोमाञ्चितः प्रियाम् ।
अब्रवदीदृशं वाक्यं श्रीमान् मकरकेतनः ॥ ६ ॥
महर्षेर्वचनं चैतच्छ्रुतं ते कमलानने ।
क्रियतां मङ्गलं देवि जयार्थं मम सर्वथा ॥ ७ ॥
ततः प्रभावती देवी वाष्पपूर्णविलोचना ।
मङ्गलं रचयामास पत्युर्जयविधायिनी ॥ ८ ॥
मङ्गलं रचितं देव्या दृष्ट्वा मकरकेतनम् ।
अब्रवीद्धृष्टहृदयो नारदो मुनिसत्तमः ॥ ९ ॥
त्वत्पिता भगवान् विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ।
अद्य त्वद्विजयं द्रष्टुं गरुडेनागमिष्यति ॥ १० ॥
तवैव विजयं द्रष्टुं प्रहृष्टस्त्रिदशैः सह ।
आगमिष्यति भो वत्स भगवान् पाकशासनः ॥ ११ ॥
शङ्खो नाम दुराधर्षः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनः ।
सेतुं संरक्ष्य यत्नेन वर्तते देवकण्टकः ॥ १२ ॥

कैसे पराजित किया जायगा ? ॥ २ ॥ उन महात्मा प्रद्युम्नके ऐसे वचन श्रवणकर, भगवान् नारदमुनिने इस प्रकार वचन कहा—॥ ३ ॥ हे महाबाहो, प्रद्युम्न, तुम, ब्रह्माजीके कथनानुसार अति दुर्जयशील दानवेन्द्रको पराजित करोगे क्योंकि, उस दुरात्मा दैत्येशने लोकपालोंसे सुरक्षित तीनों लोकोंको जीत लिया है ॥४–५॥ तत्पश्चात्—हर्षसे रोमाञ्चित, प्रसन्नचित्त, श्रीमान्, प्रद्युम्नजीने अपनी प्रियतमा प्रभावतीसे यह वचन कहा—॥६॥ हे कमलानने, महर्षि नारदके इन वचनोंको आपने श्रवण किया । हे देवि, जयार्थ मेरा मंगल-कुशल (तिलक आदि) पूर्णतया करें—॥ ७ ॥ तब पतिकी जय चाहनेवाली, अश्रुपूर्णनेत्रवाली, प्रभावती देवीने—रोरी-चन्दन-पुष्पादिसे मंगल विधान किया ॥ ८ ॥ प्रभावतीदेवीके द्वारा मंगलविधानसे विभूषित प्रद्युम्नको देखकर मुनिश्रेष्ठ प्रसन्नचित्त नारदमुनिने कहा—॥ ९ ॥ हे प्रद्युम्न, तुम्हारे पिता विष्णुभगवान् शंख-चक्र-गदाधारी आज तुम्हारी विजयके दर्शनार्थ गरुड़पर चढ़कर आयेंगे ॥ १० ॥ तुम्हारे ही विजयदर्शनार्थ प्रसन्न देवोंके साथ, हे वत्स, इन्द्र भी आयेंगे ॥ ११ ॥ शंखन दुन्दुभिशब्दवाला, दुराधर्ष, देवकण्टक, शंखासुर सेतुकी रक्षा करके स्थित है—बैठा

बलात् पादेन संपीड्य जयार्थेनात्मनस्त्वया ।
पूरणीयो दुराचारो यथा जायेत वै स्वनः ॥ १३ ॥
तस्य नादेन घोरेण वज्रनिर्ह्रादवर्चसा ।
भविष्यति महात्रासो दानवानां दुरात्मनाम् ॥ १४ ॥
हत्वा दैत्यं दुरात्मानं सानुजं बलदर्पितम् ।
पूरणीयस्त्वया पुत्र देवेन्द्रस्य मनोरथः ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा मुनिना शीघ्रं जयाशीर्भिः प्रपूजितः ।
प्रययौ रुक्मिणीसूनू रम्यं शङ्खालयं गिरिम् ॥ १६ ॥
स्थित्वा शङ्खविलद्वारे कृतनादो महाबलः ।
सेतोर्विदारणारम्भं चकार मकरध्वजः ॥ १७ ॥
ततः शङ्खो विनिष्क्रम्य स्वविलाद्बलदर्पितः ।
अब्रवीद्भीषणं वाक्यं दंष्ट्रादीप्तविलोचनः ॥ १८ ॥
कस्याज्ञया त्वया क्रूर मम वीर्याभिरक्षितम् ।
अगम्यं त्रिदशैश्चापि क्रियते सेतुदारणम् ॥ १९ ॥
इत्युक्त्वा सहसा दैत्यो रक्तास्यो रक्तलोचनः ।
तलेनाहत्य प्रद्युम्नं चकारातीव विह्वलम् ॥ २० ॥
ततः क्षणात् समुत्थाय बाहुयुद्धेन दानवम् ।
भूमौ निपातयामास प्रद्युम्नो बलिनां वरः ॥ २१ ॥
भूमौ निपतितं शङ्खं विष्णुशङ्खसमस्वनम् ।
पादेनाक्रम्य जठरे पुपूरेऽतिशयं तदा ॥ २२ ॥

है ॥ १२ ॥ हे प्रद्युम्न, अपनी जयके लिये इच्छुक तुम्हारे चरणकी चोटसे इस प्रकार ताडित किया जाय, जिससे वह शब्द करने लगे ॥ १३ ॥ उसके वज्रके समान भयंकर शब्दसे दुरात्मा दानवोंको महान् कष्ट होगा ॥ १४ ॥ बलदर्पित, उस दुरात्मा दैत्यको (उसके) अनुजके साथ मारकर, हे पुत्र, तुम देवेन्द्रका मनोरथ पूर्ण करो ॥ १५ ॥ ऐसा कहकर नारदजीने शीघ्र जयशील आशीर्वादोंसे रुक्मिणी-पुत्रकी पूजा की । तब वे प्रद्युम्नजी शंखासुर निवासी सुन्दर पर्वतको गये ॥ १६ ॥ शंखदैत्यके बिलद्वारपर बड़ा भयंकर शब्द किया । प्रद्युम्नने सेतुविदारण करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १७ ॥ दंष्ट्रासे दीप्तविलोचनवाले बलदर्पित शंखदैत्यने अपने बिलसे निकलकर भीषण वाक्य कहा॥१८॥ हे दुष्ट, तुम किसकी आज्ञासे, देवताओंसे अगम्य, मेरे बलसे सुरक्षित इससेतुका विदारण कर रहे हो ? ॥१९॥ ऐसा कहकर रक्तनेत्री, रक्तमुखी उस दैत्यने एकाएक एक थप्पड़ मारकर प्रद्युम्नको अति विह्वल कर दिया ॥२०॥ तब शूरश्रेष्ठ प्रद्युम्नने क्षणभरमें उठकर बाहुयुद्धसे दानवको पृथ्वीपर पटक दिया ॥ २१ ॥ विष्णुशंखके सदृश शंखध्वनिवाले ़ो पर निपतित उस शङ्ख दैत्यको पैरोंसे पेटपर ताड़न करते हुए उसका पेट

शङ्खनादेन घोरेण प्रबुद्धः कच्छपासुरः ।
जलान्निष्क्रम्य बलवान् ननादातिशयं भयात् ॥ २३ ॥
ततो विराधं घनघोरनिःस्वनं
महामुखं मण्डललोचनद्वयम् ।
ददर्श वीरो मधुसूदनात्मजो
जलोषितं शैलसमानविग्रहम् ॥ २४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः शङ्खनिनादेन विराधस्य स्वनेन च ।
विलं प्रकम्पितं दृष्ट्वा किमेतज्जातविभ्रमः ॥ २५ ॥
परिशङ्क्य रिपोः किंचिद्भयं भयविधायिभिः ।
निमित्तैः सहसा राजा खड्गबाणधनुर्धरः ॥ २६ ॥
सन्नद्धकवचो घोरैर्योधैः कतिपयैर्वृतः ।
शैलशृङ्गप्रतीकाशो भिन्नवैडूर्यसुप्रभः ॥ २७ ॥
ममाज्ञातप्रभावः को विराधाख्यं ममानुजम् ।
विरोधयति दुर्बुद्धिरित्युक्त्वा क्रोधमूर्छितः ॥ २८ ॥
निष्क्रम्य स्वविलात् तस्थौ श्रीमानसुरसत्तमः ।
समक्षमागतं दृष्ट्वा महेन्द्रदमनं रुषा ॥ २९ ॥
ततो विरोधिनं त्यक्त्वा विराधं कूर्मरूपिणम् ।
दैत्येन्द्राभिमुखस्तस्थौ रथमारुह्य कैशविः ॥ ३० ॥

अत्यन्त फुला दिया ॥ २२ ॥ घोर शंखनादसे कच्छपासुर जाग गया । मुखको जलके बाहर निकालकर अति भयसे पीडित वह अत्यन्त चिल्लाया ॥ २३ ॥ तत्पश्चात्—जलनिवासी, शैलसमान शरीरधारी, मेघोंके समान शब्दवाले, विशालमुखी, मण्डलाकारनेत्रवाले विराधदैत्यको श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नने देखा ॥ २४ ॥ ततः शंखासुरके शब्दसे, विराधकी ध्वनिसे, बिलको प्रकम्पित देखकर उत्पन्न शंकावाले (दैत्यराजने) कहा—यह क्या है ? ॥ २५ ॥ भयदायक अपशुकनोंसे शत्रुके भयकी कुछ शंका की । तत्काल राजा, खड्ग-बाण धनु धारणकर, कवचयुक्त कुछ भयप्रद योधाओंके साथ, शैलकी चोटीके समान भयंकर भिन्न वैडूर्यमणिके समान प्रभाशाली होकर, आया और कहा—कौन नीच मेरे प्रभावसे अनभिज्ञ, मेरे अनुज विराधका विरोध कर रहा है ? ऐसा कहकर क्रोधसे मूर्च्छित होकर, असुरराज अपने बिलसे बाहर आया । तब समक्ष आये हुए महेन्द्रदमनको देखकर, क्रोधसे कछुआ रूपधारी शत्रु विराधको छोड़कर, प्रद्युम्नजी केशवपुत्र (कैशवि) रथपर बैठकर दैत्य महेन्द्रदमनके अभिमुख होकर स्थित हुए ॥२६-३०॥

समक्षमागतं दृष्ट्वा प्रद्युम्नं युद्धकाङ्क्षिणम् ।
वाक्यं क्रूरतरं प्राह श्रीमानसुरसत्तमः ॥ ३१ ॥
कस्याज्ञया त्वया क्रूर बाध्यते मम कच्छपः ।
कस्य पुत्र इति त्वं च ज्ञातुमिच्छामि तद्वद ॥ ३२ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दैत्येन्द्रस्य महात्मनः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं प्रद्युम्नो बलिनां वरः ॥ ३३ ॥
निपातितो मया शङ्खः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनः ।
विराधं पातयिष्यामि दुरात्मानं जलोषितम् ॥ ३४ ॥
प्रद्युम्न इति विख्यातो विष्णोर्भगवतः सुतः ।
प्राप्तो युष्मद्विनाशाय देवेन्द्रस्य शुभेच्छया ॥ ३५ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रोषाद्रक्तविलोचनः ।
उवाच निष्ठुरं वाक्यं विहस्यासुरसत्तमः ॥ ३६ ॥
यदि केशवपुत्रस्त्वं संप्राप्तो भद्रकं कृतम् ।
चिरकालं मया ध्यातं लब्धं सदर्शनं तव ॥ ३७ ॥
त्वां विलोक्य रणे सुप्तं रुधिरश्रावविप्लुतम् ।
शम्बरस्य वधाज्जातो मन्युर्मे शान्तिमेष्यति ॥ ३८ ॥
इत्युक्त्वा दमनैस्तीव्रैरभिपोड्याधरं स्वकम् ।
ववर्ष शरवर्षौघं श्रीमानसुरसत्तमः ॥ ३९ ॥
ततस्तस्मिन् क्षणे शीघ्रं प्रद्युम्नोऽपि महाबलः ।
जगाद कुपितो वाक्यं मुदितादित्य सन्निभः ॥ ४० ॥

युद्धाकांक्षी प्रद्युम्नजीको समक्ष आये हुए देखकर असुरराज क्रूरतर वाक्य बोला—॥३१॥ हे दुष्ट, किसकी आज्ञासे तुम मेरे कछुएभाईको पीडित कर रहे हो ? तुम किसके पुत्र हो ? यह बात मैं जानना चाहता हूँ, बतलाओ ? ॥ ३२ ॥ महात्मा दैत्येन्द्रके उस वचनको श्रवणकर, बलिष्ठोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नजी मधुर वचन बोले—॥ ३३ ॥ हे महेन्द्रदमन, शंख दुन्दुभिशब्दके समान शब्द करने वाले, शंखासुरको मैंने मार डाला है। जलोषित दुरात्मा विराधको मैं मार डालूगा। विष्णु भगवान्का पुत्र मैं प्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध हूँ। देवेन्द्रकी शुभ इच्छासे तुम्हारे विनाशके लिये प्राप्त हुआ हूँ—आया हूँ॥ प्रद्युम्नके उक्त वचनोंको श्रवणकर क्रोधसे लाल नेत्रवाला, असुरराज; हँसकर कठोर वाणी बोला—॥ ३४-३६ ॥ यदि तुम केशव पुत्र हो तो तुमने अच्छा किया—तुम मुझे प्राप्त हो गये। मैंने बहुत दिनसे तुम्हारा चिन्तन किया, आज तुम्हारा दर्शन पाया ॥ ३७ ॥ रणमें रक्तसे लथपथ तुम्हें देखकर, हे प्रद्युम्न, शम्बरासुरके वधसे उत्पन्न मेरा क्रोध शान्त हो जायगा ॥३८॥ ऐसा कहकर दाँतोंसे अपने अधर चबाकर वह असुरराज बाण वर्षा करने लगा ॥ ३९ ॥ ततः उसी क्षणमें महाबली प्रद्युम्नने जो चमकते सूर्यके समान प्रभावाले थे। कुपित

त्वां निपात्य दुरात्मानं त्रिदशाधिपकण्टकम् ।
चन्द्रावत्या विवाहं च निर्विघ्नं वर्तयाम्यहम् ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वा रुक्मिणीसूनुः कृतगाण्डीवमण्डलः ।
मुमाच सहसा बाणं रुक्मपुङ्खविभूषणम् ॥ ४२ ॥
ततस्तस्मिन् क्षणे घोरे वर्तमाने रणोत्सवे ।
गरुडेनागतः शीघ्रं शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टैस्त्रिदशैः सार्धमप्सरोगणवेष्टितः ।
पूजार्थं रुक्मिणीसूनोः संप्राप्तस्त्रिदशेश्वरः ॥ ४४ ॥
ततो मुमोच दैत्येन्द्रो ज्वलत्कोपानलाकुलः ।
उल्कामुखं बिडालास्यं ज्वालामालातिभीषणम् ॥ ४५ ॥
तच्छस्त्रं वारयामास प्रद्युम्नोऽपि महाबलः ।
गृद्ध्रकङ्कमुखं चैव काकोलूकमुखं शरम् ॥ ४६ ॥
मुमोच स महाबाहुर्महेन्द्रदमनस्तथा ।
व्याघ्रसिंहश्रृगालास्यैः सारमेयमुखैस्तथा ॥ ४७ ॥
तच्छरं वारयामास प्रद्युम्नो बलिनां वरः ।
एकेकैनास्त्रमृख्येन वीरमेकैकमुत्तमम् ॥ ४८ ॥
प्रद्युम्नः पातयामास तत्क्षणात् समरान्तरे ।
स्तोकावशिष्टं स्वबलं प्रसमीक्ष्य महासुरः ॥ ४९ ॥
प्रद्युम्नस्य विनाशाय नागास्त्रं सन्दधे तदा ।
ततो मुमोच दैत्येन्द्रो महेन्द्रदमनो रुषा ॥ ५० ॥

होकर इस वचनको कहा—॥४०॥ हे असुर, देवपतिके कण्टक, दुरात्मा, तुमको मारकर मैं चन्द्रावतीके साथ निर्विघ्न विवाह करूँगा । इस प्रकार कहकर अपने धनुषको गाण्डीव-धनुषके समान मण्डलाकार करके स्वर्णपंखसे भूषित बाणोंको तत्काल छोड़ा ॥ ४१-४२॥ तब उसी भयंकर संग्रामके समय उस रणोत्सवमें शंखचक्रगदाधारी विष्णु भगवान् गरुड़के साथ आ गये ॥ ४३ ॥ प्रसन्न देवोंके साथ अप्सराओंसे घिरे हुए, इन्द्र प्रद्युम्नके पूजाके लिये पधारे ॥ ४४ ॥ तब दैत्येशने, जो जलती हुई क्रोधाग्निसे व्याकुल था, ज्वालाकी लपटोंसे (मालाओंसे) भयंकर मार्जार (बिल्ली) मुखवाले अग्निमुख भीषण शस्त्रको छोड़ा ॥ ४५ ॥ उस शस्त्रको महाबलवात् प्रद्युम्नने गृध्रकंकमुख, काक-उलूक (उल्लू) मुख बाणसे रोक दिया ॥ ४६ ॥ विशालबाहु महेन्द्रदमनने—व्याघ्र, सिंह, सियार और कुक्कुर मुखवाले शस्त्र चलाये । उन शस्त्रोंको शूरश्रेष्ठ प्रद्युम्नने रोक दिया । एक-एक मुख्य शस्त्रसे प्रद्युम्नने युद्धमें उत्तम एक-एक वीर मार डाला । समरमें थोड़ी सेना बची देखकर महान असुर महेन्द्रदमनने—॥ ४७-४९ ॥ प्रद्युम्नके विनाशार्थ नागास्त्र धनुषपर चढ़ाया और बड़े क्रोधके साथ उस अस्त्रको महेन्द्रदमनने

विषाग्निज्वलिताकाशं नागास्त्रं घोररूपिणम् ।
नागास्त्रं पतितं दृष्ट्वा विषवह्निकलापिनम् ॥ ५१ ॥
हाहाशब्दो महाञ्जातो देवता समरे तदा ।
नागास्त्रदग्धः प्रद्युम्नः पतितश्चातिविह्वलः ॥ ५२ ॥
पक्षवातेन तार्क्ष्यस्य लब्धचेता बभूव ह ।
नागास्त्रोऽपि दुरावर्षस्तार्क्ष्यपक्षनिपीडितः ॥ ५३ ॥
पपात सहसा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ।
एवंविधे महद्युद्धे नारदो मुनिसत्तमः ॥ ५४ ॥
प्रद्युम्नं प्राह चागत्य वधोपायं शृणुष्व मे ।
ब्रह्मणा भाषितं पूर्वं स्मर वाक्यं मनोभव ॥ ५५ ॥
मागा विह्वलतां वीर पुत्रोऽसि मधुविद्विषः ।
शस्त्रेणायं त्वया जेतुं न शक्यो दानवोत्तमः ॥ ५६ ॥
मुष्टिमुद्यम्य वेगेन हन्यतामस्य मूर्धनि ।
इति नारदवाक्येन वेगान्निःसृत्य कैशविः ॥ ५७ ॥
मुष्टिमुद्यम्य वेगेन शिरस्येनमताडयत् ।
ततः पपात दैत्येन्द्रः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ५८ ॥
उद्वमन् रुधिरोद्गारं मुखेन नयनेन च ।
सुप्रभावासिनः सर्वे संहते शक्रतापने ॥

छोड़ दिया ॥ ५० ॥ विषाग्निसे ज्वलित आकाशवाले विषरूप अग्निकलापवा[ले] नागास्त्रको छोड़ा हुआ देखकर—॥ ५१ ॥ देवोंके समरमें, महान्, हाहा[का]र मच गया। नागास्त्र दग्ध प्रद्युम्न अति विह्वल होकर गिर पड़े ॥ ५२ ॥ पु[न:] गरुड़के पंखोंकी पवनसे चेतनायुक्त हो गये। दुरावर्ष नागास्त्र भी गरुड़के पंखसे निपीडि[त] होकर भूमिपर जड़ कटे वृक्षके समान सहसा गिर पड़ा। इस प्रकारके महायुद्धमें मुनि[-] श्रेष्ठ नारदजीने—॥ ५३-५४ ॥ आकर प्रद्युम्नजीसे कहा—हे प्रद्युम्न, इस महेन्द्रदम[न अ]सुरके वधके उपायको मुझसे सुनो। प्राचीन कालमें ब्रह्माजीके द्वारा भाषित वाक्य[को] हे मनोभव, प्रद्युम्न, स्मरण करो ॥ ५५ ॥ हे वीर! तुम श्रीकृष्णके पुत्र हो। विह्वल मत करो। यह उत्तमदानव तुम्हारे द्वारा शस्त्रसे पराजित करने योग्य नहीं है ॥ ५६ [॥] वेगसे मुक्का तानकर इसके शिरपर मारो। इस प्रकार नारदजीके वाक्य श्रवण[कर] कैशवि (प्रद्युम्न) ने वेगसे, निकलकर, मुक्का तानकर, अति वेगसे उसके शिरपर मारा[।] तब पृथ्वीको कँपाता हुआ-सा वह दैत्येश गिर पड़ा ॥ ५७-५८ ॥ मुख और आँ[खोंसे] खून फेंकता हुआ वह दैत्येश (मर गया)। इन्द्रतापक, उसके मरनेपर, सब सुप्रभान[गर] वासी, प्रद्युम्नपीडित, दैत्यगण, सुन्दर पाताललोकमें चले गये और वहीं रहने लगे-

पातालं विविशू रम्यं प्रद्युम्नभयपीडिताः ॥ ५९ ॥
विचित्रपुष्पाणि निपेतुरम्बरा-
द्धते सुरेन्द्रे हरिबालकेन ।
नेदुस्तदा दुन्दुभयो मनोज्ञा
जयेति देवा अपि चुक्रुशुर्मुदा ॥ ६० ॥
हते तस्मिन् महादैत्ये वाग्वती सरितां वरा ।
नारीरूपधरा भूत्वा जगाम मधुसूदनम् ॥ ६१ ॥
विष्णो जिष्णो हृषीकेश चक्रपाणे चतुर्भुज ।
उपेन्द्र देवकीपुत्र भद्रकीर्ते नमोऽस्तु ते ॥ ६२ ॥
केशवो रुक्मिणीनाथो माधवो मधुसूदनः ।
सत्यभामापतिश्चासि द्वारकावासि सुप्रिय ॥ ६३ ॥
कंसासुररिपुश्चासि रुक्मणीपतिरेव च ।
नमोऽस्तु लक्ष्मीपतये धरणीपतये नमः ॥ ६४ ॥
स्थूलं कूर्मवपुः कृत्वा मन्दरं विधृतं त्वया ।
वराहरूपमास्थाय त्वयैव धरणी धृता ॥ ६५ ॥
कार्त्तवीर्यनिहन्ताऽसि त्वं हि भार्गवनन्दनः ।
निहन्ता रावणस्यापि त्वमेव रघुवंशजः ॥ ६६ ॥
त्राता त्राणार्थिनां चासि दाता सर्वसुखस्य च ।
स्थितिकर्ता च लोकानां त्वमेव परिवर्तसे ॥ ६७ ॥
समर्थोऽसि हृषीकेश सेतुबन्धविदारणे ।
गङ्गां द्रष्टुं गमिष्यामि त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ ६८ ॥

(जैसे मोदमान गज रहते हैं) ॥ ५९ ॥ उस असुरेन्द्रकी, हरिपुत्र (प्रद्युम्न) के द्वारा मृत्यु होनेपर आकाशसे विचित्र पुष्प वर्षा हुई। मनोज्ञ दुन्दुभियाँ बजीं। आनन्दसे सुरगण जय-जयकार करने लगे ॥ ६० ॥ उसके मर जानेसे श्रेष्ठा वाङ्मती नारीरूप धारणकर मधुसूदनके समीप आयी ॥ ६१ ॥ हे विष्णो, हृषीकेश, चक्रपाणे, चतुर्भुज, उपेन्द्र, देवकी पुत्र, भद्रकीर्ते आपको नमस्कार है ॥ ६२ ॥ हे केशव, हे रुक्मिणी नाथ, माधव, मधुसूदन, द्वारकावासि, सुप्रिय, आप सत्यभामा पति भी हैं ॥ ६३ ॥ आप कंसारि हैं या कंसासुरारि हैं। आप रुक्मिणी पति हैं। लक्ष्मीपति तथा धरणीपति आपको नमस्कार है ॥ ६४ ॥ स्थूल कूर्मशरीर करके आपने मन्दराचल उठाया। वाराह-रूप धारण करके आपने पृथ्वी भी उठायी ॥ ६५ ॥ आप ही कार्त्तवीर्यनिहन्ता भार्गवनन्दन हैं। (परशुराम हैं) रावणके हन्ता आप रघुवंशी–राम हैं ॥ ६६ ॥ आप शरणार्थियोंके रक्षक हैं। सर्वशुभ कार्योंके दाता हैं। लोकोंके स्थितिकर्ता तथा परिवर्तनकर्ता भी आप ही हैं ॥ ६७ ॥ हे हृषीकेश, सेतुबन्ध विदारणमें आप समर्थ हैं।

वाग्वत्या वचनं श्रुत्वा हर्षोत्फुल्लविलोचनः ।
सेतुं विदारयामास चक्रेण भगवान् हरिः ॥ ६९ ॥
सेतुबन्धे प्रभिन्ने तु विष्णुना प्रभविष्णुना ।
उत्पपात महाघोरो विराधः कच्छपासुरः ॥ ७० ॥
प्रभिन्नसेतुमालोक्य स क्रूरः कच्छपासुरः ।
वामहस्तेन दोलाद्रिं स्वर्णश्रृङ्गं परेण तु ॥ ७१ ॥
धृत्वा पातितुमारेभे सेतुबन्धस्य कारणात् ।
शैलद्वयं दानवेन धृतं वीक्ष्य चतुर्भुजः ॥ ७२ ॥
मनसाऽप्यतिवेगेन गत्वा दोलाचलं प्रभुः ।
कीलेश्वरं स्थापयित्वा स्वर्णश्रृङ्गं जगाम ह ॥ ७३ ॥
तत्र स्वर्णेश्वरं लिङ्गं स्थापयित्वा जनार्दनः ।
भूयो जगाम तत्रैव यत्रास्ते कच्छपासुरः ॥ ७४ ॥
एवं लिङ्गद्वयं विप्र कृष्णेन स्थापित स्वयम् ।
लिङ्गद्वयस्य ये भक्ता भविष्यन्ति नरा भुवि ॥ ७५ ॥
तेषां मनोरथप्राप्तिर्भविष्यति न संशयः ।
चैत्रकृष्णचतुर्दश्यां कीलेश्वरमनुत्तमम् ॥ ७६ ॥
पूजयिष्यन्ति ये लोकास्ते वै कैलासवासिनः ।
शिवरात्रिचतुर्दश्यां स्वर्णश्रृङ्गेश्वरान्तिके ॥ ७७ ॥

(जो सेतुबन्ध महेन्द्रदमनने विराधसे बनवाया था) हे जनार्दन, आपके अनुग्र[illegible] गङ्गाजीके दर्शनार्थ जा रही हूँ । वाङ्मतीके वचन श्रवणकर हर्षसे प्रफुल्लित नेत्रवा[illegible] भगवान् हरिने चक्रसे सेतुबन्ध तोड़ दिया । विष्णु–महाविष्णुसे सेतुबन्ध विदीर्ण होनेपर कच्छपासुर विराधनामक दैत्य उत्पात करने लगा ॥ ६८-७० ॥ सेतुबन्ध विदीर्ण दे[illegible] कर उस क्रूर कच्छपासुरने, बायें हाथसे दोलापर्वतको और दाहिने हाथसे स्वर्णश्रृंग प[illegible] लेकर पटकना प्रारम्भ किया । पर्वतद्वयको दानवने उठा लिया है । यह देखकर चतु[illegible] भगवान्ने—॥७१-७२॥ मनसे भी अधिक वेगसे जाकर, दोलागिरिपर कीलेश्वर लिंग स्थापित करके स्वर्णश्रृङ्गको गये । वहाँ स्वर्णेश्वर लिंगको स्थापित करके जनार्दन जहाँ कच्छपासुर था वहाँ गये ॥ ७३-७४ ॥ मार्कण्डेयजीने कहा—हे जैमिने, इस प्रक[illegible] श्रीकृष्णजीने लिंगद्वय स्वयं स्थापित किया—और कहा—पृथ्वीपर जो नर लिंगद्व[illegible] भक्त होंगे । उनकी मनोरथप्राप्ति निःसन्देह होगी । चैत्रकृष्ण चतुर्दशीको जो लो[illegible] उत्तम कीलेश्वरपूजन करेंगे । वे लोग कैलासवास करेंगे । शिवरात्रि और चतुर्दशी जो स्वर्णश्रृंगेश्वरके समीप दीपमाला धरेंगे उन्हें सूर्यसे भी भय न होगा । स्वर्णश्रृङ्गे तथा कीलेश्वर देवोंका जो नर भक्तिसे दर्शन करेंगे । वे निःसन्देह कृतार्थ होंगे । स्व[illegible]

दीपमालां करिष्यन्ति भयं तेषां न भास्करेः ।
स्वर्णश्रृङ्गेश्वरं देवं तथा कीलेश्वराभिधम् ॥ ७८ ॥
द्रक्ष्यन्ति ये नरा विप्र ते कृतार्था न संशयः ।
स्वर्णश्रृङ्गेश्वरोत्पत्तिं तथा कीलेशसम्भवम् ॥ ७९ ॥
श्रोष्यन्ति ये नरा भक्त्या तेषां पापं विनश्यति ।
विद्यालाभो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥ ८० ॥
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः कामानवाप्नुयात् ।
विद्यार्थी लभते वद्यां धनार्थी लभते धनम् ॥ ८१ ॥
गुर्विणो जनयेत् पुत्रं मोक्षार्थी मोक्षमाप्नुयात् ।
बहुनोक्तेन किं कार्यं यं यं प्रार्थयते नरः ।
तं तं काममवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ८२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रृङ्गेश्वर और कीलेश्वरकी यह उत्पत्ति जो नर भक्तिसे श्रवण करेंगे वे पापरहित हो जायेंगे ॥ ब्राह्मणको विद्यालाभ, क्षत्रियको विजय लाभ, होगा ॥७५-८०॥ वैश्य धनसमृद्ध होता है । शूद्र इच्छाएँ पूर्ण करता है । मन चाहा धनादि पाता हैं । विद्यार्थो विद्या, धनार्थीं धन, पाता है । गर्भिणी पुत्र ही पाती है । मोक्षार्थी मोक्ष पाता है । अधिक कहनेसे क्या जो-जो इच्छा करता है उसे ही मनुष्य पाता है । इसमें सन्देह न करना चाहिये ॥ ८१-८२ ॥

एकादशोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच—

मार्कण्डेय मुनिश्रेष्ठ लिङ्गं कीलेश्वराभिधम् ।
स्वर्णश्रृङ्गेश्वरं लिङ्गं स्थापयित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥
किं चकार तदाख्याहि कच्छपोऽपि चकार यत् ।
महेन्द्रदमनस्यापि कथाऽत्यन्तमनोहरा ॥ २ ॥

जैमिनि मुनिने कहा—जनार्दन भगवान्ने—हे मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेयजी, कीलेश्वर और स्वर्णश्रृंगेश्वरलिंग स्थापित करके क्या किया ? तथा कच्छपासुरने क्या किया ?

मार्कण्डेय उवाच—

श्रुत्वा त्वत्तो महाभाग न तृप्तिमधियाम्यहम् ।
साधु साधु महाभाग जैमिने मुनिसत्तम ॥ ३ ॥
श्रूयतामभिधास्यामि यच्चकार जनार्दनः ।
लिङ्गद्वये स्थापिते तु विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४ ॥
पर्वतद्वयमूलं तु गतं पातालमेव च ।
उत्पातुं न च शक्तोऽभूत् तौ शैलो कच्छपासुरः ॥ ५ ॥
बाहुयुद्धेन युयुधे प्रद्युम्नेन बलीयसा ।
नारदोऽपि तदा शीघ्रं प्रद्युम्नमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥
कृत्वोत्तानं दुरात्मानं विराधं दानवाधमम् ।
अस्य कुक्षिगतं रत्नं शीघ्रमादातुमर्हसि ॥ ७ ॥
महर्षेर्वचनं श्रुत्वा कृत्वोत्तान बलेन तम् ।
आददे सर्वरत्नानि खड्गेन लघुविक्रमः ॥ ८ ॥
परिवृत्त्य पुनः शीघ्रं संक्रुद्धः कच्छपासुरः ।
प्रद्युम्नं त्रासयामास नर्दमानं पुनः पुनः ॥ ९ ॥
अत्यक्तजीवितं दृष्ट्वा संक्रुद्धं कच्छपासुरम् ।
हरिपुत्रं पुनः प्राह नारदो मुनिपुङ्गवः ॥ १० ॥
अत्र दानववीराणा प्रसादाच्छूलधारिणः ।
वाग्वतीजलसंश्लेषात् वधस्तेषां न विद्यते ॥ ११ ॥

महेन्द्रदमनकी कथा भी रोचक है—अति मनोहर है ॥ १-२ ॥ हे महाभाग, मार्कण्डेय आपसे कथा श्रवणकर तृप्ति नहीं होती है । मार्कण्डेयमुनिने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ जैमिने, धन्य हो, धन्य हो ॥३॥ सुनो, जनार्दनने जो किया उसे कहता हूँ । विष्णु भगवान्ने लि द्वयकी स्थापना की । ततः दोनों पर्वत की, दोलागिरि और स्वर्णशृंगकी नींव, पाताल चली गयी । उन दोनों पर्वतोंको कच्छपासुर उखाड़नेमें समर्थं नहीं हुआ ॥ ४-५ बलवान् प्रद्युम्नके साथ वह बाहुयुद्ध करने लगा । उसी समय नारदजीने प्रद्युम्नसे कहा—॥ ६ ॥ हे प्रद्युम्न, इस विराधको, अधम दानवको चित्त करके इसके कु स्थित रत्नको शीघ्र ले लो ॥ ७ ॥ नारदमुनिके वचनसे–बलपूर्वक प्रद्युम्नने उसे चि करके खड्गसे थोड़ा परिश्रम करके सब रत्न निकाल लिये ॥ ८ ॥ पुनः उल उस कच्छपासुरने क्रोध करके प्रद्युम्नको त्रास दिया और वह बार-बार चिल लगा ॥ ९ ॥ अत्यक्त जीवनवाले, क्रोधित, कच्छपासुरको देखकर मुनिराज नारद पुनः प्रद्युम्नजीसे कहा—शंकरजीके प्रसादसे यहाँ वाङ्मतीके जलस्पर्शसे दानवोंका नहीं हो सकता ॥ १०-११ ॥ अतः गरुड़के पंखसे भय दिखाकर इन्हें दूर ले जा

तस्माद्विक्षेप यत्नेन पक्षेन गरुडस्य च ।
पश्चाच्छिरोऽस्य च्छेतव्यं चक्रेण मकरध्वज ॥ १२ ॥
महर्षेर्वचनं श्रुत्वा गरुडेन महौजसा ।
कच्छपः प्रापितः सद्यः स्थलं पक्षधरेण तु ॥ १३ ॥
स्थलस्थं कच्छपं दृष्ट्वा तरुणादित्यवर्चसम् ।
शिरश्चिच्छेद कूर्मस्य पेतुश्चक्रेण कैशविः ॥ १४ ॥
विराधं निहतं दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
ववर्षुः कुसुमं देवाः प्रद्युम्नोपरि हर्षिताः ॥ १५ ॥
बभूव सन्ध्यासमये कुङ्कुमारुणसुन्दरः ।
तमसा पूरिते व्योम्नि ज्योत्स्नानिकरसंवृतः ॥ १६ ॥
तदुत्सवादिवोद्भूतो रराज रजनीकरः ।
तस्यां रात्रौ चक्रपाणिर्वासं तत्र चकार हि ॥ १७ ॥
नारदोऽपि महाहृष्टो मृगेन्द्रशिखरं ययौ ।
सूर्यकेतोर्नृपस्याग्रे सर्वामाचष्ट तां कथाम् ॥ १८ ॥
हर्षनिर्भरसंयुक्तः सर्यकेतुर्नराधिपः ।
तस्यां रजन्यां सगणो विष्णुमभ्युद्भवस्थलीम् ॥ १९ ॥
अधित्यकां ययौ शीघ्रं नारदेन समन्वितः ।
सन्तुष्टं भूपतिं प्राह नारदो मुनिसत्तमः ॥ २० ॥
अद्य नायास्यति विभुर्नृपते मधुसूदनः ।
त्वया मयाऽत्र स्थातव्यं विष्णुदर्शनवाञ्छया ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् हे प्रद्युम्न, चक्रसे इसका शिर काट दो ॥ १२ ॥ महर्षिके वचन श्रवणकर, प्रद्युम्नने तेजस्वी गरुड़के पंखके द्वारा तुरत ही कच्छपासुरको स्थलपर लाकर—जलसे दूर हटाकर—स्थित किया ॥ १३ ॥ तरुण सूर्यके समान चमकदार कच्छपासुरको पृथ्वीपर—जलसे दूर—देखकर, प्रद्युम्नने उसका शिर चक्र द्वारा काट दिया ॥ १४ ॥ विस्मयफुल्लनेत्रोंसे विराधको मरा देखकर हर्षित होकर देवोंने प्रद्युम्नपर पुष्पवृष्टि की ॥ १५ ॥ सन्ध्या समय, तमसापूरित आकाश कुंकुम सा लाल हो गया। ततः चाँदनी फैल गयी। उस उत्सवसे अद्भुत रूपधारीके समान चन्द्र शोभित हुआ। उस रातमें श्रीकृष्ण वहीं रहे ॥ १६-१७ ॥ प्रसन्न होकर नारदजी मृगेन्द्रशिखर गये और सूर्यकेतु नृपके सामने सारी कथा कह दी ॥ १८ ॥ हर्षित सूर्यकेतु नृप, उस रात्रिमें अपने गणोंके साथ विष्णुकी उद्भवस्थलीवाली अधित्यका (पहाड़के ऊपरी स्थलमें) को नारदजीके साथ गये। सन्तुष्ट राजासे श्रेष्ठमुनि नारदजीने कहा—हे नृपते, आज श्रीकृष्णजी यहाँ नहीं पधारेंगे। तुम्हें और मुझे विष्णुदर्शनकी इच्छासे यहाँ ठहरना

नारदस्य वचः श्रुत्वा प्राह भूपतिसत्तमः ।
श्रीकृष्णदर्शनोत्कण्ठा जायते महती मम ॥ २२ ॥
नारायणस्य प्रतिमा कर्तव्याऽत्र मया मुने ।
नान्यथा चित्तशान्तिर्मे भविष्यति तपोधन ॥ २३ ॥
नृपतेर्वचनं श्रुत्वा नारदः प्राह भूपतिम् ।
धन्योऽसि विष्णुभक्तोऽसि स्थापय प्रतिमां प्रभोः ॥ २४ ॥
प्रातर्द्रष्टासि गोविन्दं प्रद्युम्नसहितं नृप ।
इति नारदवाक्यान्ते प्रतिमां मधुविद्विषः ॥ २५ ॥
जलस्थां स्थपायामासानन्तस्थां नरपालकः ।
अनन्तभोगशयनं विष्णुं द्रक्ष्यन्ति ये नराः ॥ २६ ॥
तेषां नारायणस्तुष्टः स्वस्थानं दास्यति ध्रुवम् ।
विष्णुं संस्थाप्य नृपतिर्महाविभवविस्तरैः ॥ २७ ॥
महोत्सवेन रजनीं निनाय नरपालकः ।
ततः प्रभाते विमले सूर्यकेतुर्नराधिपः ॥ २८ ॥
जगाम मुनिसंयुक्तो यत्रास्ते मधुसूदनः ।
स विलोक्य जगन्नाथं सूर्यकेतुर्नराधिपः ॥ २९ ॥

सूर्यकेतुरुवाच—

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ रोमाञ्चाङ्कितविग्रहः ।
नमस्ते देवकीपुत्र नमस्ते मधुसूदन ॥ ३० ॥
नमोऽस्तु ते हृषीकेश कैटभारे नमोऽस्तु ते ।
नमस्ते भगवन् विष्णो जिष्णो कंसनिषूदन ॥ ३१ ॥

चाहिये ॥१९-२१॥ नारदजीके वचन श्रवणकर सूर्यकेतु श्रेष्ठ राजा बोले—श्रीकृष्ण दर्शनकी उत्कण्ठा मुझे बहुत है ॥ २२ ॥ हे मुने, मैं नारायणकी प्रतिमा यहां रचूंगा । हे तपोधन, अन्यथा, मेरे चित्तमें शान्ति नहीं होगी ॥ २३ ॥ हे राजन् ! आप धन्य हैं, आप विष्णु-भक्त हैं । प्रभुकी प्रतिमा स्थापित करें । नृपतिके वचन श्रवणकर नारदजीने उक्त वचन कहे ॥ २४ ॥ हे नृप, प्रातः प्रद्युम्न सहित गोविन्दका दर्शन करोगे । इस प्रकार नारद-जीके वाक्यान्तपर राजाने श्रीकृष्णकी अनन्तस्थ जलस्थ प्रतिमाको स्थापित कर दिया । अनन्तभोगशयन विष्णुका जो नर दर्शन करते हैं उनपर श्री नारायण सन्तुष्ट होकर प्रीतिसे अपना स्थान निवासार्थ देते हैं । बड़े विभवके साथ राजाने विष्णुमूर्ति स्थापित करके महोत्सवमें रात बितायी । ततः प्रभातमें राजा जहाँ मधुसूदन प्रभु थे वहाँ नारदजीके साथ गये । राजा सूर्यकेतुने जगन्नाथजीको देखकर रोमांचित शरीरसे भक्तिसे दण्डवत् प्रणाम करके प्रार्थना की—हे मधुसूदन, हे देवकीपुत्र, आपको नमस्कार है ॥ २५-३० ॥ हे हृषीकेश, हे कैटभारे, आपको नमस्कार । हे भगवन्, हे जिष्णो, हे विष्णो, हे कंस-

त्राहि मां शेषशयन जगदीश नमोऽस्तु ते ।
मुरारेऽस्तु नमस्तुभ्यं वामनाय नमोऽस्तु ते ॥ ३२ ॥
रामचन्द्र नमस्तेऽस्तु श्रीकृष्णाय नमोऽस्तु ते ।
नमस्ते कमलाकान्त नमस्ते धरणीधर ॥ ३३ ॥
नमः पङ्कजनेत्राय पद्मनाभाय ते नमः ।
नमो वराहरूपाय कूर्मरूपाय ते नमः ॥ ३४ ॥
नमस्ते जगदाधार नृसिंहाय नमोऽस्तु ते ।
इति स्तुत्वा सूर्यकेतुः श्रीकृष्णचरणद्वयम् ॥ ३५ ॥
शिरस्याधारयत् तस्थौ प्राञ्जलिर्भक्तिसंयुतः ।
ज्ञात्वा भक्तं सूर्यकेतुं प्रोवाच मधुसूदनः ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

सूर्यकेतो नृपोत्तिष्ठ भक्तोऽसि मम सर्वथा ।
वरं ब्रूहि महाभाग यत् ते मनसि वर्तते ॥ ३७ ॥
इति कृष्णवचः श्रुत्वा सूर्यकेतुर्जगाद ह ।

सूर्यकेतुरुवाच—

यदि तुष्टोऽसि गोविन्द मृगेन्द्रशिखरे त्वया ॥ ३८ ॥
मया साकं प्रगन्तव्यं मत्कार्यं समुपस्थितम् ।
प्रद्युम्नाय मया देया कन्या चन्द्रावती शुभा ॥ ३९ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

सम्पादयित्वा तत् कार्यं द्वारका गम्यतां प्रभो ।
तथेत्युक्त्वा मुनिवरः प्रतस्थे गरुडध्वजः ॥ ४० ॥

निषूदन, आपको नमस्कार है ॥ ३१ ॥ हे शेषशयन, मेरी रक्षा करो, हे जगदीश, नमस्कार । हे मुरारे, आपके लिये नमस्कार । वामनभगवान्को नमस्कार ॥ ३२ ॥ हे राम, आपको नमस्कार, श्रीकृष्णको नमस्कार । हे कमलाकान्त, तुम्हें नमस्कार । धरणीधरको नमस्कार ॥ ३३ ॥ हे पंकजनेत्र हे पद्मनाभ, हे वराहरूप, हे कूर्मरूपदेव, आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥ हे जगदाधार, हे नृसिंह, आपको नमस्कार । सूर्यकेतुने इस प्रकार स्तुति करके श्रीकृष्णके दोनों चरण शिरपर धारण कर लिये और प्राञ्जलि बाँधकर, भक्तिसे प्रणाम करके वहीं स्थित रहे । तब मधुसूदनने सूर्यकेतुको भक्त जानकर कहा—॥ ३५-३६ ॥ हे नृप, सूर्यकेतो उठो—तुम सर्वथा मेरे भक्त हो । हे महाभाग, मनचाहा वर माँगो । इस प्रकार कृष्णजीके वचन श्रवणकर, सूर्यकेतुने कहा—हे गोविन्द, यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरे कार्यके लिये मेरे साथ मृगेन्द्रशिखरपर शीघ्र चलें ॥ हे प्रभो, मैं अपनी पुत्री शुभा चन्द्रावती प्रद्युम्नको देना चाहता हूँ ॥ ३७-३९ ॥ हे प्रभो, वह कार्य पूर्ण करके आप द्वारका चले जायें । स्वीकार है, ऐसा कहकर श्रीकृष्णजी चल

गत्वा पशुपतिस्थानं स्नात्वा वै वाग्वतीजले ।
सन्ध्यामुपास्य विधिवत् संतर्प्य च पितामहान् ॥ ४१ ॥
विलोक्य वत्सलां देवीं ययौ पशुपतिं प्रभुः ।
दृष्ट्वा पशुपतिं देवं पूजयित्वा यथाविधि ॥ ४२ ॥
प्रदक्षिणं विधायापि दक्षिणद्वारमाययौ ।
तत्रोपविष्टो भगवान् जपं चक्रे समाहितः ॥ ४३ ॥
आगतं माधवं श्रुत्वा स्थाने पशुपतेः शुभे ।
आगता ब्राह्मणाः सर्वे दोलागिरिनिवासिनः ॥ ४४ ॥
तपः स्वाध्यायनिरता वेदवेदाङ्गपारगाः ।
ऋष्याश्रमस्था मुनयः सर्व एव समागताः ॥ ४५ ॥
आगता मुनयः सर्वे वागीश्वरनिवासिनः ।
ये च श्लेष्मान्तकवने संस्थिता मुनयः सदा ॥ ४६ ॥
ते सर्वेऽथ समायाताः कृष्णदर्शनकाङ्क्षया ।
तानागतान् मुनीन् दृष्ट्वा वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ४७ ॥
ब्रह्मण्यदेवो भगवान् ननाम च मुहुर्मुहुः ।
तेभ्यो दानान्यनेकानि ददौ च परमेश्वरः ॥ ४८ ॥
मुनिमध्ये महातेजा नेमिरुग्रतपोनिधिः ।
दक्षिणं बाहुमुत्थाप्य शास्त्रसारं वचो जगौ ॥ ४९ ॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं तपस्या सफला हि नः ।
एकत्र हि यतो दृष्टौ देवौ हरिहरौ प्रभू ॥ ५० ॥

पड़े ॥४०॥ पशुपति स्थान जाकर वाङ्मतीके जलमें स्नान करके सन्ध्यावन्दन करके पितरोंको विधानसे जल देकर—परितृप्तकर—वत्सलादेवीका दर्शन करके प्रभु, श्रीकृष्ण पशुपतिजीके मन्दिरको गये । पशुपतिजीका दर्शन करके यथाशास्त्र पूजन करके प्रदक्षिणा करके दक्षिण दिशाको आ गये । वहाँ स्थित होकर भगवान्‌ने एकाग्रचित्तसे जप किया ॥ ४१-४३ ॥ शुभ पशुपति स्थानमें माधवजी आये हैं—ऐसा श्रवणकर दोलागिरि निवासी सब ब्राह्मण वहाँ आ गये ॥ ४४ ॥ तपःस्वाध्यायमें निरत, वेदवेदांगपारंगत ऋष्याश्रमस्थ समस्त मुनिगण भक्तिसे वहाँ आये ॥ ४५ ॥ वागीश्वरनिवासी सभी मुनिगण तथा श्लेष्मान्तक-विपिन निवासी सभी मुनिगण कृष्णदर्शनके इच्छुक वहाँपर आये । उन, आगत, वेदवेदांगपारंगत मुनियोंको देखकर ब्राह्मणभक्त भगवान्‌ने बार-बार प्रणाम किया । उनको अनेक दान, श्रीकृष्णजीने, दिये ॥ ४६-४८ ॥ मुनियोंके मध्यमेंसे महातेजस्वी, उग्रतपोनिधि नेमि नामक मुनिने उठकर दक्षिण हाथ उठाकर शास्त्रके तत्त्वपूर्ण वचनको कहा—आज हमारी तपस्या सफल हुई आज हमारा बड़ा भाग्य है जो हमने हरि—हर दोनों भगवान्‌को एकत्र स्थित देखा ॥ ४९-५० ॥ हम कृतार्थ तथा

वयं कृतार्था धन्याश्च यद्दृष्टौ मांसचक्षुषा ।
देवौ हरिहरौ साक्षात् पुराणपुरुषावुभौ ॥ ५१ ॥
यो हरिं हररूपेण हरं च हरिरूपिणम् ।
यः पश्यति स एव स्याद्वैष्णवः शैव एव च ॥ ५२ ॥
हरौ हरे च ये भेदं कुर्वन्ति मनुजाधमाः ।
पाखण्डिनो वेदवाह्यास्ते वै निरयगामिनः ॥ ५३ ॥
गङ्गागौर्योरभेदं तु तथा शङ्करकृष्णयोः ।
ये पश्यन्ति नरा धन्यास्ते कृतार्था न संशयः ॥ ५४ ॥
इति नेमिवचः श्रुत्वा देवः पशुपतिर्हरिः ।
बभूवातीव मुदितो मुनीनामग्रतः स्थितः ॥ ५५ ॥
जैमिने मुनिशार्दूल श्रूयतां वचनं मम ।
ततःप्रोवाच सन्तुष्टो देवः पशुपतिर्मुनिम् ॥ ५६ ॥

श्रीपशुपतिरुवाच—

नेमे मुनिगणश्रेष्ठ तुष्टोऽहं ते वदाम्यहम् ।
अस्मिन् श्लेष्मान्तकवने मृगरूपेण वै मया ॥ ५७ ॥
यत्र भ्रान्तं जलं पीतं यत्र सुप्तं स्थितं मया ।
तत्र तत्रैव तीर्थं मे जातं ब्राह्मणसत्तम ॥ ५८ ॥
अस्मिन् श्लेष्मान्तकवने तपो वासुकिना पुरा ।
तप्तं वासुकिनाम्ना वै क्षेत्रमेतद्भविष्यति ॥ ५९ ॥

धन्य हैं । अहो, आज हम लोगोंने चर्मचक्षु (नेत्र) से हरि और हर दोनों देवोंको देखा — ये दोनों साक्षात् पुराण–पुरुष हैं । जो हरिको हररूपमें — हरको हरिरूपमें देखता है— दर्शन करता है वही वैष्णव—अथवा शैव है ॥ ५१-५२ ॥ जो हर और हरिमें भेद मानते हैं । वे अधम मनुष्य–पाखण्डी, वेदके न माननेवाले, घोर नरकमें जाते हैं ॥५३॥ जो नर गङ्गा और गौरी (वाङ्मती) को एक मानते हैं तथा उसी प्रकार विष्णु और शिवको एक मानते हैं । वे धन्य हैं तथा नि सन्देह कृतार्थ होते हैं ॥ ५४ ॥ इस प्रकार नेमि मुनिके वचन श्रवणकर पशुपति और हरि—मुनियोके सामने परमानन्दित हुए ॥ ५५ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ जैमिने, मेरे वचन सुनिये—इसके पश्चात् प्रसन्न पशुपति भगवान् मुनिसे बोले—हे नेमे, हे मुनिगण श्रेष्ठ, मैं प्रसन्न हूँ । मैं तुमसे कहता हूँ— मैं इस श्लेष्मान्तक वनमें मृगरूपधारणकर रहा—हे ब्राह्मण, उस दशामें जहाँ मैं घूमा, जहाँ मैंने जल पिया, जहाँ मैं सोया, जहाँ मैं ठहरा, वहाँ-वहाँ मेरे तीर्थ हैं ॥ ५६-५८ ॥ इस श्लेष्मान्तक वनमें वासुकिने प्राचीनकालमें तप किया है । अतः वासुकितस इस क्षेत्रका नाम—वासुकिक्षेत्र होगा ॥ ५९ ॥ हे नेमे, तुम इस क्षेत्रके मुनियोके अग्रणी

नेमे त्वमस्य क्षेत्रस्य मुनीनामग्रणीर्भव ।
पालनीयं त्वया क्षेत्रं वचनान्मे तपोधन ॥ ६० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततः प्रभृति तज्जातं क्षेत्रं नेपालसंज्ञकम् ।
नेमिना मुनिना यस्मात् पालितं पुण्यकर्मणा ॥ ६१ ॥
क्षेत्रं हिमवतः कुक्षावतो नेपालसंज्ञकम् ।
ततो नारदप्रद्युम्नसहितो मधुसूदनः ॥ ६२ ॥
युक्तः समस्तैर्मुनिभिः सूर्यकेतुनृपेण च ।
आज्ञां पशुपतेर्लब्ध्वा द्रष्टुं गुह्येश्वरीं ययौ ॥ ६३ ॥
दृष्ट्वा गुह्येश्वरीं देवीं गोकर्णेशं विलोक्य च ।
महोत्साहेन सहितो मृगेन्द्रशिखरं ययौ ॥ ६४ ॥
वाग्वतीप्रभवे स्नात्वा दत्वा दानान्यनेकशः ।
महेन्द्रस्यालयमिव सूर्यकेतोर्गृहं ययौ ॥ ६५ ॥
सूर्यकेतुर्ददौ कन्यां विधिना नारदान्वितः ।
प्रद्युम्नाय महाभागस्तदा चन्द्रावतीं शुभाम् ॥ ६६ ॥
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
माल्याम्बरैर्विचित्रैश्च चित्रैराभरणैस्तथा ॥ ६७ ॥
पूजयामास देवेन्द्रं सपुत्रं मधुसुदनम् ।
ननर्ताप्सरसां वृन्दो नूपुरध्वनिभिस्तदा ॥ ६८ ॥
गन्धर्वाः प्रजगुर्गीतं किन्नराश्च जगुर्मुदा ।
प्रववावनिलश्चापि पुण्यगन्धवहः शुचिः ॥ ६९ ॥

हो और हे तपोधन, मेरे वचनसे तुम्हें इस क्षेत्रका पालन-रक्षण करना चाहिये ॥ ६० ॥ उस कालसे इस क्षेत्रका नाम नेपाल हुआ । पुण्यकर्मशील नेमि मुनिद्वारा पालित होनेसे, हिमालयकी कुक्षिभागमें स्थित इस क्षेत्रका नाम नेपाल है ॥ ततः नारदजी और प्रद्युम्नके साथ मधुसूदनजी समस्त मुनि एवं सूर्यकेतुनृपके सहित पशुपतिसे आज्ञा लेकर गुह्येश्वरी देवीके दर्शनार्थ गये ॥ ६१-६३ ॥ गुह्येश्वरीदेवीके दर्शन करके तथा गोकर्णेशके दर्शन करके, बड़े उत्साहके साथ सब लोग मृगेन्द्रशिखरपर गये ॥ ६४ ॥ वाङ्मतीके उद्गमपर स्नान करके अनेक दान देकर इन्द्रनगरीके समान सूर्यकेतुके गृहपर गये ॥ ६५ ॥ महाभाग नारदजीके साथ सूर्यकेतुने उस समय अपनी शुभ कन्या चन्द्रावती प्रद्युम्नजीको विधानानुसार दे दी ॥ ६६ ॥ देवोंने दुन्दुभियाँ बजायीं तथा पुष्प-वृष्टि की । सुन्दर मालाओंसे, चित्र-विचित्र आभरणोंसे देवेन्द्रकी मधुसूदनकी प्रद्युम्नजीकी । सूर्यकेतुने पूजा की । अप्सराएँ नूपुरोंकी—(बिछिया नामक पैरका आभूषण) ध्वनिके साथ तथा गन्धर्व किन्नरगण आनन्दके साथ गाने लगे ॥ पवित्र-गन्धयुक्त पवन बही ।

वधूं चन्द्रावतीं दृष्ट्वा चन्द्रलेखामिवापराम्।
तुतोष भगवान् विष्णुर्विस्मयोत्फुल्लमानसः॥ ७०॥
देवी चन्द्रावती चापि विशेषकृतभूषणा।
रराज राजलक्ष्मीव प्रद्युम्नं समुपस्थिता॥ ७१॥
जामातरं समासाद्य प्रद्युम्नं बलिनां वरम्।
तुतोषातिशयं श्रीमान् सूर्यकेतुर्नराधिपः॥ ७२॥
हरिचन्दनलिप्ताङ्ग इन्द्रनीलसमप्रभः।
शङ्खचक्रगदापाणिर्देवगन्धर्वपूजितः॥ ७३॥
मुनिभि र्देवशब्देन सन्तुष्टो लोमहर्षणः।
आरुरोह गरुत्मन्तं भगवान् मधुसूदनः॥ ७४॥
देवीं चन्द्रावतीं चापि राजपुत्रीं प्रभावतीम्।
रथमारोपयामास प्रद्युम्नः केशवाज्ञया॥ ७५॥
स्त्रीरत्नैः सर्वरत्नौघैः पूरितं रथमुत्तमम्।
आरुरोह स प्रद्युम्नः कामगं हेमनिर्मितम्॥ ७६॥
सकुटुम्बः सूर्यकेतुः कामगं केशवाज्ञया।
आरुरोह रथं दिव्यं पुष्पकं धनदो यथा॥ ७७॥
उत्पपात तदाकाशमिन्द्रनीलसमप्रभम्।
मुनिना सहितो मारसंयुतो हर्षसंयुतः॥ ७८॥
विलोक्य क्षेत्रमतुलं वाग्वतीं सरितां शुभाम्।
प्रहृष्टो भगवान् विष्णुरिदं वचनमब्रवीत्॥ ७९॥

चन्द्ररेखाके समान वधू चन्द्रावतीको देखकर भगवान् विष्णु विस्मयसे प्रफुल्लित चित्त होकर आनन्दित हुए॥ ६७-७०॥ विशेषभूषणयुक्ता राजलक्ष्मीके समान शोभिता चन्द्रावती-देवी प्रद्युम्नके प्रति शोभित हुई। बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नको जामाता रूपमें पाकर नृप सूर्यकेतु अति आनन्दित हुए। इन्द्रनीलप्रभ, हरिचन्दनलिप्तांग, शंख, चक्र, गदापाणि (हाथ) वाले देवगन्धर्वपूजित, लोमहर्षण (लोमस मुनिको हर्ष देनेवाले या रोमाञ्चशरीरवाले) मुनियोंके द्वारा कृत वेदघोषसे सन्तुष्ट होनेवाले, भगवान् मधुसूदन गरुड़पर चढ़े॥ ७१-७४॥ केशवजीकी आज्ञासे राजपुत्री चन्द्रावती तथा प्रभावतीको प्रद्युम्नने रथपर बैठाया॥ ७५॥ सम्पूर्ण रत्नसमूहोंसे युक्त स्त्रीरत्नोंके साथ वे प्रद्युम्नजी निजेच्छानुसारी स्वर्ण निर्मित रथपर बैठे॥ सूर्यकेतुजी श्रीकृष्णकी आज्ञानुसार सकुटुम्ब कामग-दिव्य रथपर बैठे—जैसे—कुबेर दिव्य पुष्पकपर बैठता है॥ ७६-७७॥ फिर इन्द्रनीलमणिकी प्रभाके समान, आकाशमें, नारदजी और प्रद्युम्नके सहित हर्षयुक्त वह रथ चला–उड़ा॥ अतुल (अनुपम) क्षेत्रको तथा नदीश्रेष्ठ शुभ वाङ्मतीको देखकर, प्रसन्न भगवान् यह वचन बोले—॥ मृगश्रृंग पर्वतके दक्षिणभागमें यह चन्द्रदीसितट पुण्यशाली

पश्य दक्षिणभागेन मृगशृङ्गस्य भूभृतः ।
चन्द्रदीप्तितटः पुण्यः स मे स्थानं भविष्यति ॥ ८० ॥
सिंहवक्त्रवपुर्भूत्वा स्थितोऽहं यत्र सर्वदा ।
पूजयिष्यन्ति लोकाश्च मम भक्तिपरायणाः ॥ ८१ ॥
इन्द्रेश्वरं प्रतिष्ठाप्य शक्रनद्याः शुभे तटे ।
चकार भगवानिन्द्रो यत्र यज्ञं मनोहरम् ॥ ८२ ॥
वासो मे सर्वदा रम्ये दोलाशिखरमूर्धनि ।
शिखरं श्रेष्ठमित्येव कीर्तयिष्यन्ति भूतले ॥ ८३ ॥
पूजयिष्यन्ति लोकाश्च सुव्यक्तं मकरध्वज ।
ब्राह्मणा बहवोऽप्यत्र सन्ति स्वाध्यायशालिनः ॥ ८४ ॥
सान्निध्यं सर्वदा तत्र सन्ध्याकाले विशेषतः ।
पश्य कर्कोटकह्रदं सर्वौषधितले शुभे ॥ ८५ ॥
रमन्ते यत्र नागेन्द्रा कर्कोटकपुरस्सराः ।
वाग्वत्या मणिमत्याश्च संभेदे लोकपूजिते ॥ ८६ ॥
गच्छामीत्युक्तमात्रेण भूयात् पापप्रणाशनम् ।
संभेदे मणिमत्याश्च गर्भे यावत् कृतं पदम् ॥ ८७ ॥
तावत् वर्षशतं स्वर्गे मोदते शिवभक्तिमान् ।
वाग्वत्या मणिमत्याश्च संभेदे लोकपूजिते ॥ ८८ ॥
स्नायते सततं यस्तु पुण्यवान् कीर्त्यते स तु ।
तत्समीपे समुद्भूता रुद्रधारेति योच्यते ॥ ८९ ॥

है, हे देवर्षे, यह मेरा स्थान होगा । मैं नित्य सिंहमुखशरीर धारणकर यहाँ सर्वदा ही रहूँगा । कामभक्तिपरायण भक्तगण इसे पूजेंगे–(पूजतेहैं) । यहाँ इन्द्रनदीके शुभतटपर भगवान् इन्द्रने इन्द्रेश्वरकी स्थापना करके मनोहर यज्ञ किया ॥ ७८-८२ ॥ रम्य दोलाशिखरके ऊपर मेरा निवास सर्वदा रहेगा । भूतलपर "यह श्रेष्ठ शिखर है" ऐसा लोग गुणगान करेंगे ॥ इस पर्वतपर बहुतसे ब्राह्मण स्वाध्यायरत हैं । हे मकरध्वज (प्रद्युम्न) ! लोग इस दोलाशिखरको पूजेंगे ॥ यहाँ मेरा सर्वदा निवास रहेगा किन्तु सन्ध्या समयमें अधिकता से रहेगा ॥ देखो, सर्वौषधिके नीचे (इसी पर्वतपर) शुभ कर्कोटक कुण्ड है ॥ ८३-८५ ॥ लोकपूजित वाङ्मती और मणिमती नदियोंके स्थलमें कर्कोटक प्रमुख नागेन्द्रगण निवास करते हैं ॥ मणिमती और वाङ्मतीके संगम स्थलको "मैं जाता हूँ" ऐसा कथन-मात्रसे ही पाप नष्ट हो जाता है ॥ मणिमती और वाङ्मतीके संगमस्थलके मध्यस्थानमें ज्योंही नर जाते हैं त्योंही वे स्वर्गमें, शिवभक्त होकर, १०० वर्षोंतक निवास करते हैं । जो वाङ्मती और मणिमतीके लोकपूजित संगममें नित्य स्नान करते हैं । वे "पुण्यात्मा" कहे जाते हैं । उस स्थलके समीप उत्पन्न एक नदीकी धारा है जो रुद्रधारा कही जाती है ।

कल्पिता देवदेवेन लोकानुग्रहकारणात् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं शिवमायोपलक्षितम् ॥ ९० ॥
रुद्रं धारोदयं दृष्ट्वा सर्वपापैः प्रमुच्चते ।
गयाया नैमिषाद्वाऽपि कुरुक्षेत्राच्च पुष्करात् ॥ ९१ ॥
स्नानं दशगुणं ज्ञेयं मणिमत्याश्च सङ्गमे ।
वीरभद्रासङ्गमं च पश्य नारद सुन्दरम् ॥ ९२ ॥
लिङ्गं संस्थापितं यत्र स्वयं हनुमता पुरा ।
वीरावतरणे तीर्थे भद्रनद्याश्च सङ्गमे ॥ ९३ ॥
स्नायते विधिना यस्तु वीरलोकं स गच्छति ।
रामायणकथाऽप्यत्र कृता वाल्मीकिना पुरा ॥ ९४ ॥
चम्पानदीसङ्गमजं तीर्थं पापप्रणाशनम् ।
तिलमाधवतीर्थं तु मुनिभिः कथितं यतः ॥ ९५ ॥
इमां मनोहरां पश्य मनोहरजलां नदीम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णां चक्रवाकोपशोभिताम् ॥ ९६ ॥
मनोहराया वाग्वत्या मध्ये वा वर्तते मही ।
धर्मभूमिरियं ख्याता सदा धर्मविवर्धिनी ॥ ९७ ॥
इमां पुण्यजलां पश्य महापातकनाशिनीम् ।
वाग्वतीं सरितां श्रेष्ठां महादेवमुखोद्भवाम् । ९८ ॥

लोकानुग्रहकारणसे पूज्यशिवजीने उसे रचा है। शिवलीलासे उपलक्षित वह स्थान पुण्यप्रद भुक्ति मुक्तिदायक है ॥ ८६-९० ॥ रुद्रधाराके उद्‌गम स्थलको देखकर मनुष्य सर्वपापसे मुक्त हो जाते हैं। गया, नैमिष क्षेत्र, पुष्कर, कुरुक्षेत्रसे दशगुणा अधिक पुण्य मणिमती और वाङ्मतीके समीप रुद्रधारा तीनोंके संगमपर स्नान करनेसे होता है। हे नारदमुने, वीरभद्राके सुन्दर संगमको आप देखें ॥ ९१-९२ ॥ प्राचीनकालमें वीरभद्रानदी और भद्रशीलाके संगमपर हनुमान्‌जीने शिवलिङ्गकी स्थापना की थी। वीरभद्रा और भद्रानदीका जो संगम है वह "वीरावतरणतीर्थ" कहलाता है। वहाँपर जो स्नान करता है। वह वीरलोक जाता है। प्राचीनकालमें यहाँपर वाल्मीकिने रामायणकी कथा की थी ॥९३-९४॥ पापनाशक तीर्थ तिलमाधवतीर्थ चम्पानदीके संगमपर है। मुनियोंने इसे तिलमाधवतीर्थ कहा है ॥ हे नारद, हंस, कारण्डव, चक्रवाक् पक्षियोंसे शोभित मनोहर जलवाली इस मनोहरा नदीको देखो ॥ ९५-९६ ॥ मनोहरा और वाङ्मतीके मध्यभागस्थित यह पृथ्वी धर्मवर्द्धिनी है। इसका नाम धर्मभूमि है ॥ ९७ ॥ हे नारद, महादेवजीके मुखसे उत्पन्न, महापातक नाशिनी, पुण्यजला नदियोंमेंश्रेष्ठ वाङ्मतीको देखो। नदीश्रेष्ठ वाङ्मतीमें जहाँ कहीं भी नर स्नान करते हैं—वहाँ-वहाँ वे वाजपेय और अश्वमेध यज्ञका फल

वाग्वती सरितां श्रेष्ठा यत्र कुत्रावगाह्यते ।
तत्र तत्र फलं विद्याद्वाजपेयाश्वमेधयोः ॥ ९९ ॥
मनोहराया वाग्वत्याः सङ्गमं पश्य सुन्दरम् ।
यत्र स्नानेन मनुजो ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ १०० ॥
नदीं विष्णुपदी पश्य फेनोर्मिधवलां शुभाम् ।
यत्र स्नानेन मनुजो विष्णुलोकं प्रपश्यति ॥ १०१ ॥
वाग्वत्या विष्णुमत्याश्च मध्ये या वर्तते मही ।
सिद्धिभूमिस्तु सा प्रोक्ता तत्र पापं न विद्यते ॥ १०२ ॥
पुलहाश्रममूले तु रुद्रमत्याश्च सङ्गमे ।
अर्यमा तुष्यते तत्र सूर्यलोकं स गच्छति ॥ १०३ ॥
विष्णुनद्यास्तटे तीर्थे पश्य टङ्केश्वरं विभुम् ।
वाग्वत्या विष्णुमत्याश्च संभेदमतिपुण्यदम् ॥ १०४ ॥
यत्र लिङ्गानि पञ्चापि वर्तन्ते मकरध्वज ।
पञ्चलिङ्गाह्वयं तीर्थं नाम तस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १०५ ॥
पञ्चलिङ्गाह्वये तीर्थे सङ्गमे स्नानमाचरेत् ।
न तस्य वर्तते देहे पापं पुत्र कदा चन ॥ १०६ ॥
वाग्वत्या विष्णुमत्याश्च सङ्गमे सुमनोहरे ।
पुराऽत्र हरिणा छिन्नो जानुः सत्या हरार्थतः ॥ १०७ ॥
अस्मिन् पीठे ये जपन्ति कृतार्थास्ते न संशयः ।
सर्वौषधिगिरेश्चैव दक्षिणे गिरिगह्वरे ॥ १०८ ॥

पाते हैं ॥ ९८-९९ ॥ हे मुने, मनोहरा और वाङ्मतीके नदियोंके सुन्दर संगमको देखो। यहाँ स्नान करनेसे मनुष्य ब्रह्मलोक चले जाते हैं ॥ १०० ॥ फेनमालासे धवल शुभा विष्णु नदीको देखो, यहाँ स्नान करनेसे मनुष्य विष्णुलोक चले जाते हैं ॥ १०१ ॥ वाङ्मती और विष्णुमतीके मध्यकी भूमि पुण्यभूमि है। इसे सिद्धभूमि कहते हैं। यहाँ पाप नहीं रहता है ॥ १०२ ॥ पुलहाश्रमके मूलमें रुद्रमती और वाङ्मती नदीके संगमपर अर्यमा देवता हैं। अतः यहाँ स्नानसे मनुष्यको सूर्यलोक प्राप्त होता है ॥१०३॥ विष्णुमतीके तटपर स्थित टंकेश्वरप्रभुको देखो, यहाँ वाङ्मती-विष्णुमती संगम है जो पुण्यदायक दे ॥ १०४ ॥ यहाँ (एक स्थलपर) पाँच लिंग हैं। अतः हे प्रद्युम्न, वह स्थान पञ्चलिङ्ग तीर्थ नामसे प्रसिद्ध है। पञ्चलिंग तीर्थके संगमपर जो स्नान करता है। उसके शरीरमें पाप नहीं रहता है। प्राचीनकालमें—वाङ्मती और विष्णुमतीके मनोहर संगमपर विष्णुने शङ्करके (हितार्थ) सतीके जानु (टेहुना) भागको काटा था॥ इस पीठपर जो नर जप करते हैं। वे कृतार्थ होते हैं। इसमें सन्देह नहीं है। सर्वौषधि पर्वतके दक्षिणमें कन्दरामें, भी, हे प्रद्युम्न, मेरा आवास है। क्षेत्रपालके अनुग्रह (प्रभाव) से वहाँ जो

तत्रापि च मम वासो भविता मकरध्वज।
क्षेत्रपालप्रभावेण गोपितं लोकदुर्गमम् ॥ १०९ ॥
सुगमं चापि तत्रैकं भविष्यति झषध्वज।
पश्य त्वद्धस्तनिहतं विराधं कच्छपासुरम् ॥ ११० ॥
कूर्मपर्वतमित्येवं कीर्तयिष्यन्ति मानवाः।
परितं तस्य शैलस्य प्रभावादासुरात् तथा ॥ १११ ॥
शस्यवृद्धिविशेषेण भविष्यति न संशयः।
अस्मिन् कूर्मगिरौ पुण्ये पुण्यकृद्भिर्निषेविते ॥ ११२ ॥
यत्र यत्र स्थितं तोयं तीर्थं तत्र भविष्यति।
कच्छपाचलमूले हि वाग्वत्या जलसङ्गमे ॥ ११३ ॥
पश्चिम तटमासाद्य स्नात्वा कामफलं लभेत्।
अस्य कूर्मगिरेर्मूले वाग्वत्याः पश्चिमेन तु ॥ ११४ ॥
भविष्यति जलादन्तर्गणेशो लोकपूजितः।
तत्रापि च मम स्थानं दुर्विज्ञेयं भविष्यति ॥ ११५ ॥
स्नानादपि च वाग्वत्यां जायते पुण्यवान् नरः।
भिन्नसेतुतटे रम्ये पर्वते चन्दनागिरौ ॥ ११६ ॥
विष्णुतीर्थमिति ख्यातं स्थानं मम भविष्यति।
मीनचक्रह्रदे पुण्ये पुरतो मम सम्भवः ॥ ११७ ॥
द्वादश्यां स्नानमात्रेण मम लोके महीयते।
पतिव्रतासु नारीषु ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ ११८ ॥

लोक दुर्गम मार्ग था वह गोपित कर दिया गया है। अब केवल सुगम मार्ग ही रह गया है। वह यह है कि—हे प्रद्युम्न, जो नर तुमसे मारे हुए कच्छपासुर विराधको देख लेता है उसकी यात्रा सफल और सुगम हो जाती है ॥ १०५-११० ॥ इस स्थानको लोग कूर्मपर्वत कहते हैं। उस शैलके चारो तरफ उक्त दैत्यके प्रभावसे निःसन्देह धान्यवृद्धि विशेषतासे होती है। यह कूर्मपर्वत पुण्यात्माओंके द्वारा सेवन किया जाता है ॥ जहाँ-जहाँ उस पर्वपर जलस्थित है वहाँ-वहाँ तीर्थ हैं। कच्छपाचलके मूलप्रदेशमें वाङ्मती संगमपर पश्चिम तटकी ओर जो नर स्नान करते हैं वे मनचाहा फल पाते हैं ॥ इस कूर्मपर्वतके मूल भागमें वाङ्मतीके पश्चिमप्रदेशमें ॥ १११-११४ ॥ जलके मध्यभागसे लोकपूजित गणेशजीका प्राकट्य होगा जिसे "अन्तर्गणेश" कहा जायगा। वहाँपर मेरा स्थल भी दुर्विज्ञेय होगा ॥ ११५ ॥ वाङ्मतीके स्नानमात्रसे नर पुण्यात्मा हो जाता है। भिन्नसेतुके तटवाले रम्य चन्दनागिरिपर विष्णु तीर्थ नामक मेरा स्थल होगा। पुण्य मीनचक्रह्लद (कुण्डके) सामने मेरी उत्पत्ति होगी। वहाँ द्वादशीको स्नान करनेवाला विष्णुलोकमें जायगा। वेदपारङ्गत ब्राह्मणको पतिव्रता नारियोंको मेरे इस क्षेत्रमें दिया

मम क्षेत्रे च यद्दत्तं तदक्षयमिति स्मृतम् ।
चन्दनागिरिमूले तु पश्य तीर्थं प्रकामदम् ॥ ११९ ॥
अत्र पुत्र महादेव्या स्वयं घृष्टं च चन्दनम् ।
सुप्रभाभवनं भग्नं नानारत्नप्रभायुतम् ॥ १२० ॥
हतावशेषास्त्वसुरा गतवन्तो रसातलम् ।
इत्युक्त्वा भगवान् विष्णुः स्वगणो देवपूजितः ।
गरुडादवतीर्णोऽभूत् क्षेत्रे परमदुर्लभे ॥ १२१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

हुआ दान अक्षय होगा ॥ चन्दनागिरिके मूल भागमें मेरा प्रकामद नामक स्थान है वह सब इच्छा पूर्ण करता है । यहाँपर पार्वतीपुत्र गणेशने चन्दनागिरिको मर्दित किया था नानारत्न प्रभावाले सुप्रभा नगरीके भवन नष्ट किये थे—क्योंकि वहाँ दैत्योंका आवास हो गया था, वे लोग जनताको कष्ट देते थे । गणेशजीके भयसे बचे हुए दैत्य, पाताल भाग गये । ऐसा कहकर देवपूजित भगवान् विष्णु गणोंके साथ उस परम दुर्लभ क्षेत्रमें गरुड़से उतर गये । स्नान करके उन्होंने रत्न मोती सोना दान किया ॥ ११६-१२२ ॥

●

द्वादशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततोऽतितुष्टो गोविन्दः सपुत्रो मुनिसंयुतः ।
लिङ्गं संस्थापयामास गोपालेश्वरमुत्तमम् ॥ १ ॥
प्रद्युम्नश्चापि सन्तुष्टः पितृभक्तिसमन्वितः ।
शिवनारायणनाम्ना स्थापयामास यत्नतः ॥ २ ॥
कृष्णेन स्थापितं लिगं गोपालेश्वरमुत्तमम् ।
ये द्रक्ष्यन्ति नरा भाग्यास्ते कृतार्था न संशयः ॥ ३ ॥

मार्कण्डेयमुनिने कहा—इसके पश्चात् हे जैमिने, अतिप्रसन्न गोविन्ददेवने मुनिसहित पुत्रके साथ उत्तम गोपालेश्वर लिग स्थापित किया ॥ १ ॥ पितृभक्तिसे युक्त प्रसन्न प्रद्युम्नने यत्नसे शिवनारायण नामक लिंग स्थापित किया ॥ २ ॥ जो नर गोविन्दद्वारा स्थापित गोपालेश्वर नामक उत्तम लिंगका दर्शन करेंगे । वे निःसन्देह भाग्यशाली कृतार्थ होंगे ॥ ३ ॥ प्रद्युम्न स्थापित विष्णुकी मूर्त्तिका जो दर्शन करेंगे । वे इस लोकमें

प्रद्युम्नस्थापितां विष्णुमूर्त्तिं द्रक्ष्यन्ति ये नराः ।
इह लोके सुखं स्थित्वा यान्ति ते परमां गतिम् ॥ ४ ॥
नेपाले दुर्लभे क्षेत्रे कृष्णेन स्थापितं स्वयम् ।
गोपालेश्वरनामानं ये द्रक्ष्यन्ति कलौ युगे ॥ ५ ॥
तेषां तुष्टो मुररिपुर्विष्णोर्लोकं प्रयच्छति ।
संस्थाप्य लिङ्गं गोविन्दो नारद वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
गच्छ द्वारावतीं विप्र वेगेन महता पुनः ।
प्रद्युम्नविजयः शीघ्रमुग्रसेनाय कथ्यताम् ॥ ७ ॥
श्वेतकायामहं गत्वा सपुत्रो धातृनन्दन ।
करिष्यामि च राजानं सूर्यकेतु मदाश्रयम् ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति माधववाक्यान्ते नारदो द्वारकां ययौ ।
गत्वा च कथयामास राज्ञे सर्वं विशेषतः ॥ ९ ॥
आदिदेश ततो राजा पुरशोभा विधीयताम् ।
रुक्मिण्यपि तदा श्रुत्वा सुतस्य जयमुत्तमम् ॥ १० ॥
आहूय च सखीः सर्वा हर्षाद्वचनमब्रवीत् ।
महेन्द्रदमनं हत्वा दुर्जयं देवकण्टकम् ॥ ११ ॥
प्रभावतीमुपादाय दैत्यस्य भगिनीं शुभाम् ।
सूर्यकेतोः सुतां रम्यां नाम्ना चन्द्रावतीं शुभाम् ॥ १२ ॥
गृहीत्वा हि समायाति प्रद्युम्नस्तनयो मम ।
प्रद्युम्नं यदि द्रक्ष्यामि मृत्योरास्यादुपागतम् ॥ १३ ॥

सुख भोग करके परलोक जायँगे परमगति प्राप्त करेंगे ॥ ४ ॥ दुर्लभ क्षेत्र नेपालमें गोविन्दद्वारा स्थापितलिंग गोपालेश्वरका दर्शन जो नर इस कलियुगमें करेंगे उनपर प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण उन्हें विष्णुलोक देते हैं। गोविन्ददेवने लिंग स्थापित करके नारदजीसे यह वाक्य कहा ॥५-६॥ हे ब्राह्मण, शीघ्र द्वारका जाओ, उग्रसेनसे प्रद्युम्नविजय कहो ॥ ७ ॥ मैं सपुत्र, हे नारद, श्वेतकामें जाकर मेरे आश्रित सूर्यकेतुको वहाँका राजा बनाउँगा ॥ ८ ॥ इस प्रकार माधवके वचनके पश्चात् नारदजी द्वारका गये। जाकर उन्होंने राजा उग्रसेनसे सब बातें कह दीं ॥ ९ ॥ तब राजाने आदेश दिया नगरको सजाया जाय। रुक्मिणीने भी पुत्रकी उत्तम विजयको श्रवणकर, सब सखियोंको बुलाकर हर्षसे वचन कहें—देवकण्टक दुर्जय महेन्द्रदमनको मारकर दैत्यकी बहन शुभ प्रभावतीको प्राप्त करके, सूर्यकेतुनृपकी पुत्री शुभचन्द्रावतीको लेकर मेरा पुत्र प्रद्युम्न आ रहा है। यदि मैं, मृत्युमुखसे आये हुए, अपने पुत्रको देखूँ—तो बड़ा अच्छा हो ॥ १०-१३ ॥

क्रियतां मङ्गलं तस्मात् सर्वाभिर्वचनान्मम ।
अथ ता मङ्गलं चक्रू रुक्मिणीवचनात् तदा ॥ १४ ॥
गृहीतपूर्णकलशास्तस्थुः पङ्कजलोचनाः ।
दीपद्रुमकराः काश्चित् काश्चिद्धूपकरास्तथा ॥ १५ ॥
चित्रमाल्याम्बरधरा विलोलायतलोचनाः ।
रक्तभाजनहस्ताश्च स्थिताः काश्चिद्वराङ्गनाः ॥ १६ ॥
द्वारकावासिनः सर्वे विशेषकृतभूषणाः ।
सपुत्रं केशवं द्रष्टुं निर्ययुर्माल्यधारिणः ॥ १७ ॥
नानावादित्रनिर्घोषैः कम्पयन्तो वसुन्धराम् ।
निर्ययुर्यादवाः सर्वे बलभद्रपुरोगमाः ॥ १८ ॥
तस्थुः सर्वे पुरद्वारि कृष्णागमनकामुकाः ।
माधवोऽपि ततः शीघ्रं सूर्यकेतुसमन्वितः ॥ १९ ॥
सपुत्रः प्रययौ शीघ्रं श्वेतकां नगरीं शुभाम् ।
अवतीर्णः पुरद्वारि सगणो मधुसूदनः ॥ २० ॥
आगतं माधवं श्रुत्वा हंसध्वजमहीपतिः ।
प्रत्युद्यम्य चादरेण सपर्यापात्रसंयुतः ॥ २१ ॥
पूजयित्वा यथान्यायं गोविन्दं भूपतिस्तदा ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वचनं निजगाद ह ॥ २२ ॥

हंसध्वज उवाच—

सफलं जन्म गोविन्द तव दर्शनतो मम ।
प्रविश्य तां पुरीं शीघ्रं पवित्रीकुरु मे गृहम् ॥ २३ ॥

अब आप लोग मेरे अनुरोधसे मंगल कृत्य करें। तब उन लोगोंने रुक्मिणीके वचनसे मंगल कार्य करना आरम्भ किया ॥ १४ ॥ किसी कमलनेत्री सखीने पूर्णकलश हाथमें लिया, किसीने प्रज्वलित दीपयुक्त तुलसीके वृक्षयुक्त पात्र (गमले) को हाथमें लिया। किसीने धूपपात्रको हाथमें लिया, किसी चञ्चल-दीर्घलोचनाने चित्रविचित्र वस्त्र तथा मालाएं हाथमें लीं। किसीने शुभशकुनवाला लाल–रंगा हुआ–पात्र हाथमें लिया, किसी वरांगनाने अन्य नारियल—आदि शुभ पदार्थ लिये। सब द्वारकावासी विशेष-प्रकारसे भूषित होकर माला धारणकर सपुत्र केशवको देखनेके लिये बाहर गये ॥ १५-१७ ॥ अनेक प्रकारके बाजोंके शब्दोंसे युक्त सब यादवगण बलभद्रको आगे करके पृथ्वीको कम्पित करते हुए निकले ॥ १८ ॥ कृष्णके आगमनेच्छुक वे लोग सब नगरद्वारपर स्थित हो गये। माधव भी सूर्यकेतु राजाके साथ सपुत्र श्वेतका नगरीको गये। जब गणसहित श्रीकृष्ण नगरद्वारपर उपस्थित हुए। तब हंसध्वज राजाने श्रीकृष्ण-के आगमनको श्रवणकर पूजापात्रके साथ वहां आकर यथाशास्त्र गोविन्दजीको पूजकर

दासोऽहं तव गोविन्द कृपां कुरु दयानिधे ।
अद्य विश्राम्य गन्तासि प्रभाते द्वारकां पुरीम् ॥ २४ ॥
अजेयः सुरनाथेन महेन्द्रदमनोऽसुरः ।
तव प्रसादाद्गोविन्द प्रद्युम्नेन यतो हतः ॥ २५ ॥
सूर्यकेतुरयं धन्यो सम्बन्धी यस्य माधवः ।
इयं प्रभावती देवी देवी चन्द्रावती तथा ॥ २६ ॥
अन्तःपुरं प्रविश्याशु सत्कारं लभतामिति ।
आज्ञापय ऋषीकेश किं करोमि तव प्रभो ॥ २७ ॥

श्रीगोविन्द उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा गोविन्दः प्राह तं नृपम् ।
साधु साधु नृपश्रेष्ठ हंसध्वजमहीपते ॥ २८ ॥
श्रूयतां नृपशार्दूल यदर्थमहमागतः ।
सूर्यकेतुश्च सम्बन्धी मद्भक्तो नरसत्तमः ॥ २९ ॥
त्वयाऽस्य सकलं राज्यं हृतं बाहुबलेन च ।
तदस्मै दीयतां राज्यं हंसध्वजमहीपते ॥ ३० ॥
मम वाक्यान्महीपाल नात्र कार्या विचारणा ।
दत्वाऽस्मै श्वेतकाराज्य मिथिलां व्रज भूपते ॥ ३१ ॥

हंसध्वज उवाच—

गोदिन्दवचनं श्रुत्वा प्राह हंसध्वजो नृपः ।
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवनं मम ॥ ३२ ॥

दोनों हाथ जोड़कर ये वचन कहें—॥ १९-२२ ॥ हे गोविन्द, आपके दर्शनसे मेरा जन्म सफल हुआ । नगरीमें प्रवेश करके मेरा गृह पवित्र करें ॥ २३ ॥ हे गोविन्द, हे दया-निधे मैं सेवक हूँ । मेरे ऊपर कृपा करें । आज यहाँ विश्राम करके प्रातः द्वारकापुरीको जाइयेगा ॥ २४ ॥ सुरेन्द्रसे न जीता जानेवाला असुर महेन्द्रदमन आपके अनुग्रहसे प्रद्युम्नके द्वारा मारा गया ॥ २५ ॥ ये सूर्यकेतु धन्य हैं जिनके सम्बन्धी माधव हैं । ये प्रभावती देवी, चन्द्रावती देवी शीघ्र अन्तःपुरमें जाकर सत्कार स्वीकार करें । हे प्रभो, हे ऋषीकेश, आज्ञा दें मैं आपका क्या कार्य करूँ ? इस प्रकारके वचन श्रवणकर, गोविन्ददेवने उस नरपतिसे कहा—हे नृपश्रेष्ठ, हंसध्वज, राजन् ! धन्य-धन्य ॥२६-२८॥ हे नृपश्रेष्ठ, सुनिये जिस कार्यसे मैं यहाँ आया हूँ । हे नरश्रेष्ठ, मेरे भक्त ये सूर्यकेतु मेरे सम्बन्धी हैं । आपने भुजबलसे इनके समस्त राज्यको छीन लिया है । हे हंसध्वज, पृथ्वीपते, आप इन्हें मेरे वचनसे बिना विचारे राज्य देकर मिथिला चले जायें ॥ २९-३१ ॥ गोविन्दके वचन श्रवणकर हंसध्वजराजाने कहा—मैं धन्य हूँ । कृतकृत्य हूँ । मेरा जीवन सफल है । हे कृष्ण, शरीर-धन-प्राण आपको मैं समर्पित करता हूँ ।

शरीरमर्थं प्राणांश्च भवते विनिवेदये ।
सूर्यकेतुनृपायास्मै श्वेतका दीयते मया ॥ ३३ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

पवित्रीकुरु मद्गेहं सर्वथा गरुडध्वज ।
ततोऽतितुष्टो गोविन्दो हंसध्वजनृपालयम् ॥ ३४ ॥
प्रविवेश महाबाहुः सूर्यकेतुसमन्वितः ।
स्वर्णसिंहासने रम्ये निविष्टं मधुसूदनम् ॥ ३५ ॥
नृपतिः पूजयामास नानारत्नैरुदारधीः ।
सूर्यकेतुनृपायापि श्वेतकां प्रददौ नृपः ॥ ३६ ॥
अनुज्ञां प्राप्य गोविन्दात् ततो हंसध्वजो नृपः ।
मिथिलां प्रययौ धीमान् सगणः सपरिच्छदः ॥ ३७ ॥
सूर्यकेतुस्ततो लब्ध्वा राज्यं गोविन्दतेजसा ।
मेने कृतार्थयात्मानं परमानन्दसंयुतः ॥ ३८ ॥
पूजयामास गोविन्दं महाविभवविस्तरैः ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ कृताञ्जविपुटोऽब्रवीत् ॥ ३९ ॥

सूर्यकेतुरुवाच—

त्वया नाथेन गोविन्द राज्यं परमदुर्लभम् ।
मया लब्धं प्रयत्नेन कीर्त्तिः परमदुर्लभा ॥ ४० ॥
नाथवन्तो वयं जाता त्वया नाथेन माधव ।
इदानीं न यमस्यापि भयमस्ति मम प्रभो ॥ ४१ ॥
अद्य विश्राम्यतां नाथ गेहे मे मधुसूदन ।
प्रातर्गन्तासि नगरीं द्वारकां सह बान्धवैः ॥ ४२ ॥

सूर्यकेतुनृपको श्वेतकाका राज्य देता हूँ। हे गरुड़ध्वज, आप मेरा गृह पवित्र करें। तब विशालभुज—गोविन्दजी प्रसन्न होकर हंसध्वजके गृहको सूर्यकेतुके साथ गये॥ उदार धी—हंसध्वजने स्वर्णसिंहासनाधीन मधुसूदनकी नानारत्नोंसे पूजा की तथा सूर्यकेतुनृपको श्वेतका नगरी दे दी ॥ ३२-३६ ॥ गोविन्ददेवकी आज्ञाको प्राप्तकर बुद्धिमान हंसध्वजराजा, अपने सेवकोंके साथ—रानियोंके साथ मिथिला चला गया ॥ ३७ ॥ गोविन्ददेवके तेजसे सूर्यकेतु राजाने राज्य प्राप्तकर आनन्दमग्न हो अपनेको कृतकृत्य माना। विशाल वैभवसे उन्होंने गोविन्ददेवकी पूजा की। दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—॥ ३८-३९ ॥ हे गोविन्द, आपके प्रयत्नसे, मैंने, हे नाथ, परमदुर्लभ राज्य तथा परमदुर्लभा कीर्ति प्राप्त की ॥ हे माधव, आपको स्वामीरूपमें प्राप्तकर नाथवान् हो गया। हे प्रभो, अब मुझे यमराजका भी भय नहीं ॥ ४०-४१ ॥ हे नाथ,

पवित्रं कुरु मे वीर शिरश्चरणरेणुना ।
दासे कृपां कुरु सदा भक्तवत्सल माधव ॥ ४३ ॥
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य भूपतेर्मधुसूदनः ।
जगाद वचनं भूया मेघगम्भीरया गिरा ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

साधु साधु महाभाग सूर्यकेतुमहीपते ।
मद्भक्तोऽसि कृतज्ञोऽसि धन्योसि बलावानसि ॥ ४५ ॥
इह लोके सुखं भुक्त्वा महाविभवविस्तरैः ।
सशरीरो दिवं गन्ता भवानन्ते न संशयः ॥ ४६ ॥
सूर्यकेतुस्ततस्तुष्टो नानारत्नैर्मनोहरैः ।
पूजयामास गोविन्दं प्रद्युम्नं च विशेषतः ॥ ४७ ॥
प्रभावत्यै ददौ राजा दिव्यानि वसनानि च ।
रत्नानि च विचित्राणि दासीश्च समलंकृताः ॥ ४८ ॥
चन्द्रावत्यै महार्हाणि वसनाभरणानि च ।
निष्ककोटीः शत दासीः प्रददौ भूपसत्तमः ॥ ४९ ॥
सूर्यकेतुमहीपालपूजितं गरुडध्वजम् ।
पूजयामासुरत्युच्चैर्यादवा जातविस्मयाः ॥ ५० ॥
ततः सपुत्रः पुरकामिनीकरै-
र्विमुक्तमन्दाररजोरुणच्छविः ।
जनार्दनो दानवदर्पसूदनो
मनोरमां द्वारवतीं विवेश हि ॥ ५१ ॥

आज आप मेरे घर रहें—विश्राम करें। हे मधुसूदन प्रातः बान्धवोंके साथ द्वारका नगरीको जायें ॥ ४२ ॥ हे भक्तवत्सल, माधव, वीर, मेरा शिर निज चरणरजसे पवित्र करें। दासपर सदा दया करें ॥ ४३ ॥ इस प्रकार नृप सूर्यकेतुके वचन श्रवणकर मधुसूदनजी मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले—॥ ४४ ॥ हे सूर्यकेतुनृप, हे महाभाग, धन्य है धन्य है। आप धन्य हैं, बलवान् हैं, कृतज्ञ हैं और मेरे भक्त हैं ॥४५॥ आप विशाल वैभवके साथ यहाँ सुखभोगकर अन्तमें शरीर सहित स्वर्ग जायेंगे ॥ ४६ ॥ प्रसन्नचित्त सूर्यकेतुने मनोहर नाना रत्नोंसे गोविन्दकी और प्रद्युम्नकी विशेषतासे पूजा की ॥ ४७ ॥ प्रभावतीको सूर्यकेतु राजाने—दिव्य वस्त्र, विचित्र रत्न, सजी दासियां दीं ॥४८॥ चन्द्रावतीको बहुमूल्य वस्त्र करोड़ स्वर्णके रुपये सौ दासियां भेंट कीं ॥ ४९ ॥ सूर्यकेतुराजासे पूजित गरुड़ध्वजको अति विस्मययुक्त यादवोंने उत्कृष्टतासे पूजा—॥५०॥ तब पुत्र प्रद्युम्न सहित, नगरकी रमणियोंके द्वारा प्रक्षिप्त मन्दारपुष्परजसे अरुण, छविवाले, दानवदर्पनाशन, जनार्दन भगवान् मनोरमा द्वारकानगरीमें प्रविष्ट हुए ॥५१॥

मार्कण्डेय उवाच—

यः पठेत् प्रयतो नित्यं प्रद्युम्नविजयं शुभम् ।
नश्यन्ति रिपवस्तस्य संग्रामे जयमाप्नुयात् ॥ ५२ ॥
विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी धनमाप्नुयात् ।
कन्यार्थी लभते कन्यामपुत्रः पुत्रमाप्नुयात् ॥ ५३ ॥
प्रद्युम्नविजयं रम्यं क्षत्रियो यः शृणोति च ।
रिपून् सर्वान् विनिर्जित्य महाराजो भवेदिह ॥ ५४ ॥
प्रद्युम्नविजयं रम्यं यो वैश्यः शृणुयाच्छुभम् ।
धनधान्यसमृद्धः स्यादन्ते याति परां गतिम् ॥ ५५ ॥
शूद्रःशृणोति चेद्भक्त्या प्रद्युम्नविजयं शुभम् ।
इह लोके सुखं भुक्त्वाऽप्यन्ते याति परां गतिम् ॥ ५६ ॥
प्रद्युम्नविजयं श्रुत्वा गुर्विणी जनयेत् सुतम् ।
यं यं प्रार्थयते कामं तं तं काममवाप्नुयात् ॥ ५७ ॥
हृतराज्येन भूपेन श्रोतव्यं च विशेषतः ।
अलभ्यं लभते राज्यं नात्र कार्या विचारणा ॥ ५८ ॥
श्राद्धकाले पठेद्यस्तु प्रद्युम्नविजयं शुभम् ।
पितरस्तस्य तृप्यन्ति शरदामयुतं पुनः ॥ ५९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये प्रद्युम्नविजयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

जो नर प्रयत्नसे नित्य शुभप्रद प्रद्युम्न विजयको पढ़ता है उसके शत्रु नष्ट हो जाते हैं। संग्राममें जय प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥ विद्यार्थी विद्याको, धनार्थी धनको कन्यार्थी कन्याको, अपुत्रवान् पुत्रको पाता है ॥ ५३ ॥ जो क्षत्रिय रम्यप्रद्युम्न विजयको श्रवण करता है। वह सब शत्रुको नष्टकर महाराज हो जाता है ॥ ५४ ॥ जो वैश्य रम्य-प्रद्युम्न विजयको श्रवण करता है। वह धनधान्यसे समृद्ध होकर अन्तमें परमगति पाता है ॥ ५५ ॥ यदि शूद्र भक्तिसे प्रद्युम्न विजय सुनता है तो इस लोकमें सुख भोग-कर अन्तमें परमगति पाता है ॥ ५६ ॥ गर्भिणी प्रद्युम्नविजय श्रवणकर पुत्र उत्पन्न करती है। जो-जो कार्य सोचता है वही सब, नर, पाता जाता है ॥५७॥ सर्व राज्य रहित (हृतराज्य) वाला भूप इसके श्रवणसे राज्य पाता है। निःसन्देह अलभ्य राज्यको पाता है ॥ ५८ ॥ शुभ प्रद्युम्नविजय श्राद्धके समय पढ़नेसे पितृगण सहस्रवर्ष तक तृप्त होकर (स्वर्गमें) रहते हैं ॥ ५९ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच—

तपोधन मुनिश्रेष्ठ त्वद्वक्त्राम्बुजनिर्गतम् ।
प्रद्युम्नविजयं श्रुत्वा न तृप्तिमधियाम्यहम् ॥ १ ॥
नेपाले दुर्लभे क्षेत्रे यान्यन्यानि तपोधन ।
तानि लिङ्गानि कथय श्रोतुमिच्छा प्रजायते ॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

सन्ति लिङ्गान्यनेकानि नेपाल क्षेत्रसत्तमे ।
सोमलिङ्गसमं लिङ्गं न भूतं न भविष्यति ॥ ३ ॥
सोमेश्वरं कृतयुगे त्रेतायां सोमनाथकम् ।
सोमशम्भुं द्वापरे हि सोमलिङ्ग कलौ युगे ॥ ४ ॥
युगे युगे नाम तस्य वदन्ति मुनयो द्विज ।
गुप्तं मुने सोमलिङ्ग न सर्वो वेत्ति मानवः ॥ ५ ॥

जैमिनिरुवाच—

सोमेश्वरसमुत्पत्ति ब्रह्मन् कथय मे पुरः ।
श्रद्धा मे महती तस्मिन् सोमलिङ्गे द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

मारकण्डेय उवाच—

श्रृणु सावहितो वत्स सोमेश्वरसमुद्भवम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण नरो मुच्येत पातकात् ॥ ७ ॥

जैमिनिने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, हे तपोधन, आपके मुखकमलसे निःसृत प्रद्युम्नविजयको श्रवणकर, हे मार्कण्डेयजी, मुझे तृप्ति नहीं है ॥ १ ॥ हे तपोधन, दुर्लभक्षेत्र नेपालमें जो अन्य लिंग हैं। उन लिङ्गोंको आप बतलायें। मेरी श्रवणेच्छा बढ़ रही है ॥ २ ॥ हे जैमिने, उत्तम क्षेत्र (तीर्थ) नेपालमें अनेक लिंग हैं परन्तु, सोमलिङ्गके समान लिङ्ग न हुआ न होगा ॥ ३ ॥ सत्ययुगमें वह सोमेश्वर नामसे प्रसिद्ध था। त्रेतायुगमें उसका नाम सोमनाथ हुआ। द्वापरमें सोमशम्भु नाम था। कलियुगमें सोमलिङ्ग नामसे यह प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥ हे द्विज, मुनिगण उस लिङ्गका नाम युग-युगमें कहते हैं—रटते हैं। सभी मानव गुप्त सोमलिङ्गको नहीं जानते ॥ ५ ॥ हे मार्कण्डेय सोमेश्वरकी उत्पत्ति, हे ब्रह्मन् ! आप कहें—हे द्विजोत्तम मेरी महती श्रद्धा उन सोम लिङ्गमें है ॥ ६ ॥ हे जैमिने, मुने, हे वत्स, सावधान होकर सोमेश्वरकी उत्पत्ति सुनो—इस शुभ वृत्तके श्रवणमात्रसे नर पापसे दूर हो जाते हैं ॥ ७ ॥ हे मुने, पहले सत्ययुगमें ओषधियों-

ओषधीनामधिपतिः पुरा कृतयुगे मुने ।
सोमो बभूव राजेन्द्रः सर्वविद्याविशारदः ॥ ८ ॥
वशं चकार त्रैलोक्यं निजबाहुबलेन च ।
एकदा गुरुमाहूय चन्द्रमा बलदर्पितः ॥ ९ ॥
प्रश्रयावनतो भूत्वा वचनं चेदमब्रवीत् ।

चन्द्रमा उवाच—

बृहस्पते द्विजश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम ॥ १० ॥
राजसूयेन यज्ञेन यष्टुमिच्छामि सर्वथा ।
मां याजय गुरो भक्तं शरणं त्वामुपागतम् ॥ ११ ॥
श्रुत्वा चन्द्रमसो वाकय वाचस्पतिरुवाच ह ।

बृहस्पतिरुवाच—

राजसूयसमो यज्ञो कश्चिन्नान्योऽस्ति निश्चतम् ॥ १२ ॥
राजसूयेन यज्ञेन न यष्टव्यं त्वया विभा ।
राजसूये महाविघ्ना जेतव्या सकला मही ॥ १३ ॥
कर्ता दुःखमवाप्नोति याजकोऽपि ततोऽधिकम् ।
अत एव कलानाथ राजसूयो भयावहः ॥ १४ ॥
तस्मात् त्वया न यष्टव्यां राजसूयेन सर्वथा ।
श्रुत्वा वाकयं गुरोः सोमः पुनः प्रोवाच सादरम् ॥ १५ ॥

सोम उवाच—

अवश्यमेव यष्टव्यं राजसूयेन भो मया ।
त्वत्सहायस्य मे नाथ नासाध्यं विद्यते क्वचित् ॥ १६ ॥

का स्वामी सर्वविद्या विशारद, राजेन्द्र, सोम था ॥ ८ ॥ उसने (चन्द्रने) अपने भुजबलसे त्रिलोक वशमें कर लिया था । एकदा बलदर्पित चन्द्रने गुरुको बुलाकर—॥९॥ शरणागत होकर यह वचन कहा—हे द्विजश्रेष्ठ, बृहस्पते, मेरे वचन सुनो ॥ १० ॥ राजसूय यज्ञसे यज्ञ करना चाहता हूँ । हे गुरो मैं आप के शरण आया हूँ—मुझ भक्त से यज्ञ कराइये । मुझे दीक्षित करें । चन्द्रमाके वचन श्रवणकर वाचस्पति बोले—राजसूय यज्ञसे बढ़कर कोई अन्य पुण्यकार्य नहीं है । यह निश्चित बात है ॥ ११-१२ ॥ हे विभो, (चन्द्र) तुम राजसूय यज्ञ मत करो । राजसूय यज्ञमें अनेक विघ्न आते हैं। सकल पृथ्वीको जीतना पड़ता है । राजसूय यज्ञ से कर्त्ता दुःख पाता है । याजक उससे भी अधिक दुःख पाता है। अतएव हे कलानाथ (चन्द्र), राजसूय यज्ञ भयप्रद है ॥ १३-१४ ॥ इस कारण से तुम्हें राजसूय यज्ञ नहीं करना चाहिये । गुरुके वाक्य श्रवणकर चन्द्र पुनः आदरसे वचन बोले—हे गुरो, मुझे अवश्य ही राजसूय यज्ञ करना है । हे नाथ, आपकी सहायतासे मुझे कुछ असाध्य नहीं है ॥ १५-१६ ॥ आप हे गुरो,

त्वया श्रमेण मा मुञ्च जीव मे वरदो भव ।
बृहस्पतिः सोमवचः श्रुत्वा प्राह कलानिधिम् ॥ १७ ॥

बृहस्पतिरुवाच—

एवं ते निश्चयः सोम राजसूयक्रतुं शिवम् ।
अवश्यं याजयिष्यामि भवन्तं हि कलानिधे ॥ १८ ॥
निर्जित्य सकलां पृथ्वीं नानारत्नान्युपाहर ।

मारकण्डेय उवाच—

एक एव कलानाथो रथेनैकेन केवलम् ॥ १९ ॥
एकेन धनुषा चापि जित्वा च सकलां महीम् ।
ततः सुमरुनिकटे यज्ञशालां विधाय च ॥ २० ॥
सम्भारं कारयामास नक्षत्राणामधीश्वरः ।
यावन्ति यज्ञपात्राणि सौवर्णानि चकार हि ॥ २१ ॥
अन्नानां पर्वतांश्चक्रे: सुमेरुसदृशांस्तथा ।
नानाविधानां सूपानां नद्य एव विनिर्मिताः ॥ २२ ॥
मधुकुल्या दुग्धकुल्याः सर्पिःकुल्या विनिर्मिताः ।
दधिकुल्यास्तैलकुल्याः कोटिशो रचितास्तदा ॥ २३ ॥
आसनानि विचित्राणि राङ्कवास्तरणानि च ।
कम्बलानामसंख्यातं नानादेशाहृतं तथा ॥ २४ ॥
आजहार तदा सोमो निजबाहुबलेन च ।
स्वापभूमिः पानभूमिर्नानारत्नैर्विनिर्मिता ॥ २५ ॥

कठिनता त्याग दें । हे जीव (बृहस्पते) मुझे वरदान दें । बृहस्पतिने चन्द्रके वचन श्रवणकर चन्द्रसे पुनः कहा—॥ १७ ॥ हे चन्द्र, इस प्रकारसे आपका, कल्याणप्रद राजसूय यज्ञके प्रति, निश्चय है तो, मैं अवश्य उक्त यज्ञ कराऊँगा ॥ १८ ॥ तुम सब पृथ्वीको जीतकर अनेक रत्न लाओ । अकेले ही चन्द्रने एक ही रथपर बैठकर एक ही धनुषसे समस्त पृथ्वी जीत ली। ततः सुमेरु पर्वतके समीप यज्ञशाला रचाकर सब सामग्रियाँ नक्षत्रपति (चन्द्र) ने एकत्र कर दीं । सभी यज्ञपात्र स्वर्णके बनवाये ॥१९-२१॥ अन्नोंकी राशि सुमेरु पर्वत तुल्य बना दी । अनेक प्रकारके दालोंकी नदियाँ बना दी गयीं । मधु (शहद) की छोटी नदी, दुग्धकी छोटी नदी, घीकी छोटी, दधिकुल्या, तैलकुल्या, रेशमी विविध प्रकारके आसन गलीचे रचे गये । अनेक प्रकारके असंख्य कम्बल अनेक देशों से चन्द्र अपनी शक्तिसे ले आये । जलभाण्डारभूमि जलपानादि भूमि अनेक रत्नोंसे शोभित करके बनायी गयीं । तब बृहस्पतिने चन्द्रको दीक्षित कराया । इस प्रकार महाविधिसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञमें महादेव प्रमुख सब देवता सपत्नीक आये ।

ततो बृहस्पतिर्दीक्षां कारयामास तं विधुम् ।
एवं महाविधे यज्ञे प्रवृत्ते सर्वदेवताः ॥ २६ ॥
आजग्मुश्च सपत्नीका महादेवपुरोगमाः ।
हाहाहूहूप्रभृतयो गन्धर्वाः समुपागताः ॥ २७ ॥
विद्याधराः समायाता अप्सराभिः समन्विताः ।
आयाताश्च नृपाः सर्वे सप्तद्वीपनिवासिनः ॥ २८ ॥
आगता मुनयः सर्वे नानादेशनिवासिनः ।
वैदिकास्तार्किका ये च काव्यकोषविदस्तथा ॥ २९ ॥
वैद्या ज्योतिर्विदश्चापि सर्व एव समागताः ।
गायका नर्तकाश्चापि वादकाश्च समागताः ॥ ३० ॥
वाराङ्गनाः समायाता भिक्षुकाश्च तथैव च ।
दीयतां भुज्यतां चेति श्रूयते निनदो महान् ॥ ३१ ॥
शास्त्रचर्चा काव्यचर्चा वेदचर्चा तथैव च ।
पुराणानां तथा चर्चा नान्यचर्चा हि विद्यते ॥ ३२ ॥
आगतेभ्यो ददौ सोमो वाञ्छितादधिकं धनम् ।
ततो निवर्तयामास राजसूयं कलानिधिः ॥ ३३ ॥
ततोऽवभृथमारेभे नक्षत्राणामधीश्वरः ।
सौवर्णपूर्णकुम्भैश्च नानामन्त्राभिमन्त्रितैः ॥ ३४ ॥
चतुर्वेदोक्तमन्त्रैश्च जयघोषैर्मनोहरैः ।
नानावादित्रनिर्घोषैः स्नानं चक्रे कलानिधिः ॥ ३५ ॥
स्नानान्ते चन्द्रमास्तारां गुरोः पत्नीं मनोहराम् ।
वीक्ष्य कामाभिभूतोऽभूद्भाविनोऽर्थस्य गौरवात् ॥ ३६ ॥

हाहा, हूहू नामक गन्धर्वगण भी आये। अप्सराओंके साथ विद्याधर भी आ गये। सप्त द्वीप निवासी सभी राजे आये। नाना देश निवासी मुनिगण, वैदिक, तार्किक काव्यकोषविद्, वैद्य, ज्योतिषी, गायक, नर्त्तक, वादक, वारांगना, सबलोग आये। भिक्षुक भी आये तथा "दो" "खाओ" ऐसे शब्द सुनाई पड़ने लगे ॥ २२-३१ ॥ वहाँपर शास्त्रचर्चा, काव्यचर्चा, वेदचर्चा, पुराणचर्चाके अतिरिक्त अन्य चर्चाएँ नहीं सुनायी पड़ती थीं ॥ ३२ ॥ आगन्तुकोंको चन्द्रमाने इच्छित धनसे अधिक धन दिया। इस प्रकार दीक्षित चन्द्रने यज्ञ पूर्ण किया ॥ ३३ ॥ तब चन्द्रने अवभृथ स्नानका समारम्भ किया। उस समय अनेक प्रकारके बाजे बज रहे थे। अनेक प्रकारके जय घोष हो रहे थे। चारों वेदोंके अनेक मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित सुवर्ण कुम्भोंसे चन्द्रने स्नान किया। स्नानके पश्चात् चन्द्रमा मनोहर गुरु पत्नीको ताराको देखकर, भावी (भविष्यके) अर्थ

तारा चन्द्रमसं वीक्ष्य नेत्रानन्दकरं शुभम् ।
चकमे गुरुकामा च चाञ्चल्यं स्त्रीषु सर्वदा ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय उवाच ।

ततो जग्राह तां तारां गुरोरग्रे कलानिधिः ।
स्वाग्रे गृहीतां रमणीं वीक्ष्य प्राह गुरुस्तदा ॥ ३८ ॥

बृहस्पतिरुवाच ।

राजसूयक्रतुं कृत्वा गुरुपत्न्या विशेषतः ।
हरणे रजनीनाथ न ते धर्मभयं कथम् ॥ ३९ ॥
लज्जामपि परित्यज्य देवब्राह्मणन्निधौ ।
तेन धर्मविधैर्वाक्यैर्वारितोऽपि कलानिधिः ॥ ४० ॥
अन्तःपुरं विवेशाथ तारया वरहारया ।
हाहाकारो महानासीत् त्रिष्टपनिवासिनाम् ॥ ४१ ॥
रेमे तया कलानाथः कामशास्त्रविशारदः ।
जीवोऽपि दुःखसन्तप्तः सुरनाथं जगाद हि ॥ ४२ ॥
देवेन्द्र सर्वदेवस्य नियन्ताऽसि भवान् यतः ।
पुरोहितस्य विप्रस्य भवदग्रे विशेषतः ॥ ४३ ॥
चन्द्रेण ह्रियते पत्नी किं वदामि तवाग्रतः ।
त्रिविष्टपस्य रक्षार्थमिन्द्रत्वे स्थापितो भवान् ॥ ४४ ॥
ब्रह्मणा लोकगुरुणा सर्वप्राणिनमस्कृतः ।
बलिभिः पीड्यमानस्य राजा षष्ठांशमाहरन् ॥ ४५ ॥

गौरवके कारण, कामपीड़ित हो गये । तारा देवी भी शुभ नेत्रानन्दकर चन्द्रको देखकर कामप्राबल्यसे आकर्षित हो गयीं । स्त्रियोंमें सर्वदा चञ्चलता रहती ही है ।।३४-३७।। तब गुरुके आगे ही चन्द्रमाने ताराको पकड़ लिया । अपने सामने पकड़ी हुई रमणी ताराको देखकर गुरुजीने कहा—।। ३८ ।। हे चन्द्र, राजसूय यज्ञ करके, हे चन्द्र (रजनीनाथ), गुरुपत्नीके हरणमें तुम्हें धर्मका भय क्यों नहीं ? [किसीभी स्त्रीका हरण करना पाप है । गुरुपत्नीके हरणमें तो विशेषकर महापाप है] हे चन्द्र, देवताओं ब्राह्मणोंके सामने तुम ऐसा कर रहे हो—तुम्हें पाप-भय क्यों नहीं है ? इस प्रकार गुरुके धर्मपूर्ण वाक्योंके द्वारा समझानेपर भी, चन्द्र उत्तम मोतीमालाधारिणी ताराके साथ, अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो गया । तब स्वर्गवासी लोगोंने बड़ा हाहाकार किया । किन्तु, कामशास्त्र विशारद चन्द्रने उसके साथ विहार कर ही डाला । ततः दुःख सन्तप्त गुरुने इन्द्रसे कहा— ।। ३९-४२ ।। हे देवेन्द्र, आप सब देवोंके नियन्ता हैं । मुझ ब्राह्मण पुरोहितकी भार्या आपके सामने ही चन्द्र द्वारा हरण की जा रही है । अब अधिक आपसे क्या कहूँ ? आप स्वर्गकी रक्षाके लिए नियुक्त किये गये हैं ।। ४३-४४ ।। लोक-गुरु ब्रह्माके द्वारा

यदि रक्षां न कुरुते रौरवं नरकं व्रजेत ।
पुत्रे भ्रातरि चामात्ये निर्धने पुक्कसेऽथ वा ॥ ४६ ॥
समं च कुरुते न्यायं स राजा स्वर्गमाप्नुयात् ।
प्रजानां रक्षणाद्राजा प्रजानां रक्षणे यदि ॥ ४७ ॥
नोद्योगं कुरुते मोहान्मात्सर्ये यः प्रवर्तते ।
तस्य राज्ञो राज्यभ्रंशो भवत्येव न संशयः ॥ ४८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति नानाविधैर्वाक्यैर्बोधितो गुरुणा तदा ।
तूष्णीमासीद्वज्रपाणिश्चन्द्रविक्रमभीतितः ॥ ४९ ॥
न सूर्यो वरुणो नैव न वायुर्बबिल[illegible]ां वरः ।
न कुवेरो न वा वह्निरुत्तस्थौ चन्द्रभीतितः ॥ ५० ॥
न देवा न च गन्धर्वा न यक्षा नासुरास्तथा ।
न राजानः समुत्तस्थुश्चन्द्रतेजोऽतिविस्मिताः ॥ ५१ ॥
चन्द्रविक्रमभीतांस्तु सदेवासुरमानुषान् ।
वीक्ष्य तस्थौ महादेवो वचनं च जगाद ह ॥ ५२ ॥

श्रीमहादेव उवाच—

इमां देवसभां धिग्धिग्देवानां विक्रमं च धिक् ।
अनादृत्य सुरान् सर्वान् तथा दानवभूमिपान् ॥ ५३ ॥
मां च विष्णुमनादृत्य विधुना दुष्टबुद्धिना ।
धर्मपत्नी ब्राह्मणस्य गुरोश्चैव विशेषतः ॥ ५४ ॥

तथा सब प्राणियों के द्वारा नमस्कृत, षष्ठांश लेनेवाला राजा यदि बलिष्ठोंके द्वारा पीड़ि दुर्बलोंकी रक्षा नहीं करता तो रौरवनरकमें जाता है। पुत्र, भाई, मन्त्री, नि और धनीपर जो उचित (समानभावसे) न्याय करता है वह राजा स्वर्ग पाता है प्रजाओंके रक्षण करनेसे वह राजा कहलाता है। यदि वह जनेश्वर प्रजारक्षणमें मो (अज्ञान) उद्योग (प्रयत्न) नहीं करता है—मात्सर्य करता है तो उस राजा भ्रंश (नष्ट) हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं है ॥ ४५-४८ ॥ गुरुके द्वारा इस प्रका विविध प्रकारके वाक्योंसे बोधित किये जानेपर भी, चन्द्रमाके पराक्रमसे भयान्वित चुप ही रहा। न सूर्य, न वरुण, न बलवानोंमें बलिष्ठ पवन, न कुबेर, न अग्निदे चन्द्रमाके भयसे कुछ बोले। सब देवता, सब असुर, सब गन्धर्व, सब यक्षगण तथा राजे भी चन्द्र तेजसे डरे और कुछ न बोले। तब चन्द्रदेवसे भयवाले सब देवता, म राक्षसोंको देखकर महादेवजीने यह वचन कहा—॥४९-५२॥ इस देवसभाको देवता के पराक्रमको धिक्कार है कि, उनके सामने ही दुष्ट बुद्धि चन्द्रने मुझे विष्णुको, सु असुरों और राजाओंको अनादृत करके ब्राह्मण गुरुकी पत्नीका हरण कर लिया। रा

राजसूयक्रतुं कृत्वा ह्रियते ज्ञानलाघवात् ।
अहं पिनाकमादाय कृत्वा चन्द्रमसं रणे ॥ ५५ ॥
करिष्यामि क्षणेनैव गुरोरश्रुप्रमार्जनम् ।
इत्युक्त्वा गिरिजानाथो धृत्वा दिव्यं महद्धनुः ॥ ५६ ॥
उत्तस्थौ सगणः कोपात् त्रिलोकीं निर्दहन्निव ।
पिनाकपाणिमायान्तं युद्धाय रजनीकरः ॥ ५७ ॥
श्रुत्वा रथं समारुह्य निर्ययौ भवनात् ततः ।
ततश्चकम्पे वसुधा चेलुः सर्वे महीधराः ॥ ५८ ॥
ववौ च परुषो वायुः पेतुरुल्काः सहस्रशः ॥
दिशः सतिमिरा मेघा ववर्षू रुधिरं बहु ॥ ५९ ॥
हाहाकारो महानासीत् त्रिविष्टपनिवासिनाम् ।
ततः समभवद्युद्धं चन्द्रशङ्करयोस्तदा ॥ ६० ॥
बाणान्धकारसञ्छन्नं जगदासीत् समाकुलम् ।
पश्यतां सर्वदेवानां निजवीर्यं प्रदर्शयन् ॥ ६१ ॥
युयुधे चन्द्रमा विप्र शङ्करेण समं तदा ।
छादयामास विशिखैः शङ्करं बलदर्पितः ॥ ६२ ॥
ततोऽतिक्रुद्धो भगवान् पार्वतीप्राणवल्लभः ।
शरैर्विध्वंसयामास चन्द्रमुक्ताञ्छराँस्तथा ॥ ६३ ॥
आग्नेयास्त्रं प्रयुयुजे चन्द्रं हन्तुं महेश्वर ।
आग्नेयास्त्रं समालोक्य पर्जन्यं ससृजे विधुः ॥ ६४ ॥

यज्ञ करके भी ज्ञानकी अल्पताके कारण उस चन्द्रने यह निन्द्य कार्य किया है। मैं पिनाक धनुषको धारणकर रणमें चन्द्रको दण्ड देकर एक क्षणमें ही गुरुजीके आँसुओंको प्रमार्जित करा दूँगा। ऐसा कहकर शङ्करजी बड़े भारी पिनाक धनुषको धारणकर, अपने सेवकोंके साथ तीनों लोकोंको दहन करते हुएके समान, क्रोधित होकर रणमें खड़े हो गये। चन्द्र, शङ्करजीको युद्धके लिए आये हुए श्रवणकर, रथपर सवार होकर भवनसे बाहर आया। उस समय सारी पृथ्वी हिल गयी—सब पर्वत डगमगाने लगे ॥ ५३-५८ ॥ वायु दुःखद बहने लगी। सहस्रों अग्नि पुञ्ज (उल्काएँ) गिरे। दिशाएँ अन्धेरी हो गयीं मेघोंने प्रचुर रुधिर वर्षाया। स्वर्गमें हाहाकार मच गया। तब चन्द्र और शंकरका युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥ ५९-६० ॥ बाणोंकी वर्षाके कारण संसारमें अन्धकार हो गया। सब लोग व्याकुल हो गये। सब देवोंके सामने पराक्रमको दिखाते हुए चन्द्रमाने शङ्करजीके साथ, हे विप्र, जैमिने, युद्ध किया। बल दर्पित चन्द्रने बाणोंसे शंकरजीको ढक दिया ॥ ६१-६२ ॥ ततः अति क्रोधित शम्भुने उसके बाणोंको नष्ट कर दिया ॥६३॥ महेश्वरने चन्द्रको मारनेके लिए आग्नेयास्त्र चढ़ाया। आग्नेयास्त्र के शान्त्यर्थ चन्द्रने पर्जन्यास्त्र

आग्नेयास्त्रं समालोक्य शान्तं देवो महेश्वरः ।
रजनीशविनाशाय पर्वतास्त्रं समाददे ॥ ६५ ॥
पर्वतास्त्रम् समायान्तं वीक्ष्य चन्द्रो महाबलः ।
पर्वतास्त्रविनाशाय वायव्यास्त्रं हि सन्दधे ॥ ६६ ॥
ततस्तु गिरिजानाथो विनाशाय कलानिधेः ।
नागास्त्रम् सन्दधे घोरं ज्वालामालातिभीषणम् ॥ ६७ ॥
नागास्त्रमागतं वीक्ष्य लेलिहानमिवान्तकम् ।
क्षपाकरः क्षणादेव गरुडास्त्रं स सृष्टिवान् ॥ ६८ ॥
ततो गौरीपतिः शीघ्रं रौद्रास्त्रेण कलानिधिम् ।
बबन्ध पश्यतां तत्र सासुरोरगरक्षसाम् ॥ ६९ ॥

मारकण्डेय उवाच—

विकलं विधुमालोक्य खड्गेन गिरिजापतिः ।
शिरश्छेत्तुं समारेभि हाहाकारो महानभूत् ॥ ७० ॥

ब्रह्मोवाच—

ततो निवारयामास सर्वलोकपितामहः ।
न हन्तव्यो न हन्तव्यो द्विजराजो महेश्वर ॥ ७१ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

त्यज्यतां गिरिजानाथ कोपं संकर शङ्कर ।
पितामहवचः श्रुत्वा निजगाद महेश्वरः ॥ ७२ ॥

महादेव उवाच—

ददातु गुरवे तारां त्यज्यते रजनीकरः ।
नो चेन्निहन्मि रजनीनाथं दुष्टं तवाग्रतः ॥ ७३ ॥

(वर्षणास्त्र) चढ़ाया । महेश्वरने आग्नेयास्त्रको शान्त देखकर चन्द्रको मारनेके लिए पर्वतास्त्र चलाया । पर्वतास्त्रको आते देखकर चन्द्रने वायव्यास्त्र चलाया ॥ ६४-६६ ॥ तब शङ्करजीने चन्द्रके हननार्थ ज्वालाकी मालाओंसे भीषण भयंकर नागास्त्र चलाया। लपलपाते यमके समान नागास्त्र आते देखकर चन्द्रने क्षणभरमें गरुडास्त्र चलाया । तब गौरीपतिने देवता-असुर-सर्पोंके सामने ही रौद्र अस्त्रसे चन्द्रको बाँध लिया ॥६७-६९॥ विकल चन्द्रको देखकर शङ्करजी तलवारसे शिर काटनेको तत्पर हुए । तब महान् हाहाकार मच गया । उसी समय ब्रह्माजीने आकर शङ्करजीको रोक दिया और कहा—हे महादेव, चन्द्रको न मारें, न मारें ॥ ७०-७१ ॥ हे गिरिजानाथ, आप क्रोध छोड़ दें । ब्रह्माकी बात श्रवणकर शंकरजीने कहा—चन्द्र अपने गुरुको तारा देवीको समर्पित

ब्रह्मोवाच—

इति शम्भुवचः श्रुत्वा ब्रह्मा प्रोवाच शङ्करम् ।
तारां दास्यति जीवाय मुच्यतामेष चन्द्रमाः ॥ ७४ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततो मुमोच भगवान् शङ्करो रजनीकरम् ।
चन्द्रमा लज्जितो भूत्वा तस्थौ शङ्करपाददृक् ॥ ७५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

कर दे अन्यथा दुष्ट चन्द्रको मैं आपके सामने ही मार डालूँगा । शम्भुके वचन श्रवण-कर ब्रह्माजीने शंकरजीसे कहा—बृहस्पतिको तारा दी जायगी आप इस चन्द्रको छोड़ दें । तब शंकरजीने चन्द्रको छोड़ दिया । चन्द्र लज्जित होकर शंकरजीके चरणको देखता हुआ स्थित रहा ॥ ७२-७५ ॥

●

चतुर्दशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

ततः सुरसभा जाता सासुरोरगभूमिपा ।
महाविह्वलतां प्राप्ता यथा चित्रार्पिता सभा ॥ १ ॥
तारां समानयामास चन्द्रमा हरभीतितः ।
युयुधे चन्द्रमा यावत् शङ्करेण महात्मना ॥ २ ॥
तावत् प्रासूत तनयमौरस हिमदीधितेः ।
ततः समागता तारा सपुत्रा चन्द्रगेहतः ॥ ३ ॥

इस पर देवसभा हुई जिसमें देव-असुर सर्प-यक्ष-गन्धर्व सब राजे आये । उस सभामें बड़ी विह्वलता थी वह सभा चित्रलिखित सभाके समान मालूम पड़ती थी ॥ १ ॥ वहाँपर शंकरजीके भयसे चन्द्रमा ताराको ले आये । जब चन्द्रमा महेश्वर शंकरजीके साथ लड़ रहे थे उसी बीचमें चन्द्रमाके तेजसे उत्पन्न बुध (ताराके गर्भसे) प्रकट हो गये थे । तारा उस सभामें गृहसे चन्द्रमा पुत्र सहित आयी थी ॥ २-३ ॥ उस ताराको

तां वीक्ष्य विस्मितास्तस्थुर्देवताः सकलास्तदा ।
ततः प्रोवाच तां तारां सर्वलोकपितामहः ॥ ४ ॥
अयं कस्य सुतस्तारे गुरोश्चन्द्रस्य वा पुनः ।
श्रुत्वा ब्रह्मवचस्तारा नोवाच किल लज्जया ॥ ५ ॥
एककालं तदा चक्रुरट्टहासं सुरा मुहुः ।
देवानामट्टहासेन तारापुत्रो हि लज्जितः ॥ ६ ॥
भूत्वा जगाद जननीं देवानां पश्यतां तदा ।
मातस्तातं कथय मे नो चेत् प्राणाँस्त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥
हसन्ति देवताः सर्वा मां वीक्ष्य पुरतस्तव ।
ततः प्रोवाच सा तारा पुत्रमुच्चस्वरेण हि ॥ ८ ॥
क्षेत्रे गुरोश्चन्द्रमसो जातोऽसि तनय ध्रुवम् ।
प्राह वाक्यं विधिर्जीवं श्रुत्वा तारावचस्तदा ॥ ९ ॥
गृह्यतां सुभगा तारा पुत्रश्चन्द्राय दीयताम् ।
श्रुत्वा भगवतो वाक्यं जीवः प्राह पितामहम् ॥ १० ॥

जीव उवाच—

ब्रह्मन् पुत्रो मदीयोऽयं न चन्द्रस्य कदा चन ।
दीयतां पुत्रसहिता तारा मह्यं पितामह ॥ ११ ॥

चन्द्रमा उवाच—

ततो विधुर्जीववचः श्रुत्वा प्राह पितामहम् ।
पितामह मदीयोऽयं पुत्रो जीवस्य नैव हि ॥ १२ ॥

सपुत्र देखकर सब देवता उस समय बिस्मित हो गये । तब ब्रह्माजीने तारासे पूछा— ॥ ४ ॥ हे तारे, यह किसका पुत्र है ? गुरुजीका या चन्द्रका ? ब्रह्माजीके वचन सुनकर तारा लज्जाके कारण कुछ न बोली । तब सब देवता एक साथ हँसने लगे । देवोंके सामने ही बुधने आपनी माता से कहा—हे मातः, मेरे पिताको बताओ—कौन मेरा पिता है—नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा । सब देवता तुम्हारे सामने ही मुझे देखकर हँस रहे हैं । तब उस ताराने पुत्रसे उच्च स्वरमें कहा—हे पुत्र, तुम बृहस्पतिके क्षेत्रमें चन्द्रसे उत्पन्न हुए हो । ताराके वचन श्रवणकर ब्रह्माजी गुरुसे बोले—हे गुरो, ताराको आप लें । पुत्र चन्द्रमाको दे दें । ब्रह्माके वचन श्रवणकर गुरुजी ब्रह्माजीसे बोले—॥ ७-१० ॥ हे ब्रह्मन् ! यह मेरा पुत्र है । चन्द्रका किसी भी रीतिसे नहीं है । हे पितामह, पुत्र सहित तारा मुझे आप दें । तब गुरुजीके वचन श्रवणकर चन्द्रमा ब्रह्माजीसे बोले—हे पितामह, यह पुत्र मेरा है । गुरु और चन्द्रका परस्पर विवाद नहीं होना चाहिए । तब पुत्रके पूछनेपर ताराने वही सत्य बात कह दी । तब बुधने कहा—

ब्रह्मोवाच—

विधोर्वचनमाकर्ण्य पुनः प्राह पितामहः ।
विवादो नैव कर्तव्यश्चन्द्रेण गुरुणाऽपि च ॥ १३ ॥
पृत्रपृष्टा हि यत् तारा प्राह सत्यं तदेव हि ।
आहर्ता राजसूयस्य दुःखं प्राप्नोति निश्चितम् ॥ १४ ॥
अतोऽत्र विधिना लब्धमायासाद्दुःखमेव च ।
बुधवद्भाषितं यस्माद्बालकेन सुराग्रतः ॥ १५ ॥
अतोऽयं बुधनामाऽस्तु ममाज्ञातो महेश्वर ।
ततो जग्राह स गुरुस्तारां कमललोचनाम् ॥ १६ ॥
पुत्रं जग्राह हिमगुरौरसं तनयं तदा ।
ततः प्राह सभामध्ये गिरिजाप्राणावल्लभः ॥ १७ ॥
गुरुपत्नी हृता तेन विधुना दुष्टबुद्धिना ।
महापातकसंयुक्तः क्रतुभोगविवर्जितः ॥ १८ ॥
यक्ष्मणा क्षीणतामेतु सर्वदेववहिष्कृतः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ शीघ्रं कैलाशं गिरिजापतिः ॥ १९ ॥
स्वानि स्थानानि ते जग्मुः देवाः शक्रपुरोगमाः ।
भूपाश्च मुनयः सर्वे स्वस्वस्थानं प्रपेदिरे । २० ॥
ततः परं शीतकरो महापातकसंयुतः ।
अभिभूतो यक्ष्मणा च लेभे शर्म न कुत्र चित् ॥ २१ ॥
ततः शरीरशुद्ध्यर्थं तीर्थं बभ्राम चन्द्रमाः ।
प्राच्युदीचीपश्चिमासु यानि तीर्थानि जैमिने ॥ २२ ॥
तानि भ्रमन् शीतकरः पातकं न जहौ पुनः ।
ततो जगाम हिमगुर्दक्षिणाशां मनोहराम् ॥ २३ ॥

राजसूय यज्ञका कर्त्ता अवश्य दुःख पाता हैं। अतः यह विधिसे प्राप्त दुःख है। इसे भोगना ही पड़ता है। सुरोंके सामने पण्डितके समान भाषण करनेसे हे महेश्वर, इसका नाम मेरी आज्ञासे 'बुध' (पण्डित) है। तब गुरुने कमलनेत्री ताराको और चन्द्रने उस स्वपुत्र बुधको ले लिया। इसके पश्चात् शंकरजीने सभामें कहा—॥ ११-१७ ॥ गुरु पत्नीके हरण करनेसे दुष्ट बुद्धि चन्द्रको यज्ञभाग तक प्राप्त नहीं होगा। यह महा पातकी है। अतः यक्ष्मारोगसे पीड़ित होकर क्षीण होगा। सर्व देवोंसे वहिष्कृत होगा। ऐसा कहकर महादेवजी शीघ्र कैलाश चले गये ॥ १८-१९ ॥ इन्द्रादि प्रमुख देव गण सभी अपने-अपने स्थानको चले गये। तब महापातकसे युक्त चन्द्रमा यक्ष्मारोगाक्रान्त होकर कहीं शान्ति न पा सका ॥ २०-२१ ॥ इसके पश्चात् शरीर शुद्ध्यर्थ चन्द्रमाने तीर्थोंका भ्रमण किया। मार्कण्डेय मुनिने कहा—हे जैमिने, पूर्व, उत्तर, पश्चिम दिशाओं-

तत्र भ्रान्त्वा त्वनेकानि तीर्थानि विविधानि च ।
अगस्त्यास्याश्रमं रम्यं जगाम शशलाञ्छनः ॥ २४ ॥
लोपामुद्रापतिर्वीक्ष्य चन्द्रमाश्रममागतम् ।
महापातकिनं दृष्ट्वा निषीदेति वचोऽब्रवीत् ॥ २५ ॥
उपविष्टस्ततस्तस्य वाक्यान्ते शशलाञ्छनः ।
प्रोवाच दण्डवद्भूमौ लोपामुद्रापतिं तदा ॥ २६ ॥

चन्द्रमा उवाच—

हृता भार्या गुरोर्मोहान्मया वै मन्दबुद्धिना ।
तेन पातकिनो विप्र न सुखं विद्यते मम ॥ २७ ॥
भ्रान्तानि सर्वतीर्थानि क्षेत्राण्युपवनानि च ।
पुर्यः सप्त मया दृष्टा उषित्वाऽस्मि व्रतं चरन् ॥ २८ ॥
तथाऽपि नो मुने जाता मम पापस्य निष्कृतिः ।
कथयाशु महाभाग येन मे निष्कृतिर्भवेत् ॥ २९ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति चन्द्रवचः श्रुत्वाऽगस्त्यः प्राह ततस्तु तम् ।
द्विजराज त्वया यस्मात् पशुवन्मूढचेतसा ॥ ३० ॥

अगस्त्य उवाच—

भार्यां हृत्वा गुरोश्चैव पशुकार्यं कृतं ध्रुवम् ।
तस्मात् पशुपतिं देवं गत्वा श्लेष्मान्तकं वनम् ॥ ३१ ॥

में जो तीर्थ थे उनमें चन्द्रमाने भ्रमण किया परन्तु, पातक नहीं छूटा । तब चन्द्र मनोहर दक्षिण दिशाको गये । वहाँ भ्रमणकर उन्होंने अनेक तीर्थोंके दर्शन किये और एक दिन वे चन्द्र, सुन्दर अगस्त्याश्रममें गये । अगस्त्यमुनिने महापापी चन्द्रको आश्रममें आया देखकर—"बैठो" ऐसा कहा—॥ २२-२५ ॥ चन्द्रमा मुनिके कथनसे बैठ गये तथा दण्ड प्रणाम करके बोले—मैंने अज्ञानसे अपनी गुरुपत्नीका हरण कर लिया इसलिये पापी होकर घूम रहा हूँ । हे मुने, अगस्त्य, मुझे सुख नहीं है—दुःख ही दुःख है ॥२६-२७॥ मैं सब तीर्थोंमें घूमा सब क्षेत्रोंमें तथा सब वनोंमें घूमा । सातो पुरी घूमीं नवो ऊसरोंको को देखा । तो भी हे मुने, मैं पापमुक्त नहीं हुआ (पापकी निष्कृति नहीं कर सका । हे महाभाग, आप मुझे शीघ्र ऐसा उपाय बतायें जिससे मेरे पापोंका छुटकारा हो ॥ २८-२९ ॥ चन्द्रके ऐसे वचन श्रवणकर अगस्त्यने उससे कहा—हे चन्द्र, पशुतुल्य चित्तवाले तुमने गुरुकी भार्याका हरण करके पशुतुल्य कार्य किया—अब तुम श्लेष्मान्तक वन (नेपाल) में जाकर हे महाभाग, पशुपति भगवान्‌की आराधना करो तो शुद्ध हो जाओगे। विन्ध्यपर्वतके कारण मैंने काशी छोड़कर कष्ट पाया ॥ ३०-३२ ॥

आराधय महाभाग ततः शुद्धो भविष्यसि ।
मयाऽपि काशी संत्यक्ता विन्ध्यपर्वतकारणात् ॥ ३२ ॥
ततः प्रभृति भो चन्द्र लभ्यते न मया सुखम् ।
अतो मयाऽपि गन्तव्यं श्लेष्मान्तकवनं सह ॥ ३३ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा चन्द्रमाः प्राह तं मुनिम् ।
मम भाग्योदयो जातो भवता यदि गम्यते ॥ ३४ ॥
उत्तिष्ठ मुनिशार्दूल गमनं रचय प्रभो ।
ततः श्लेष्मान्तकवनं सोऽगस्त्यश्चन्द्रसंयुतः ॥ ३५ ॥
ययावाकाशमार्गेण द्वितीय इव भास्करः ।
श्लेष्मान्तकवनं क्षेत्रं दृष्ट्वा परमदुर्लभम् ॥ ३६ ॥
मुदमाप तदाऽऽगस्त्यश्चन्द्रमःसहितो मुनिः ।
वाग्वत्याः पयसि स्नात्वा दृष्ट्वा देवीं तु वत्सलाम् ॥ ३७ ॥
दक्षिणद्वारि संतस्थौ दृष्ट्वा पशुपतीश्वरम् ।
ततश्चन्द्रः समालेभे तपस्यामतिदारुणाम् ॥ ३८ ॥
शङ्खमूले महारम्ये आश्रमे कुम्भसम्भवे ।
विधाय तस्थिवाँस्तत्र यावच्चन्द्रो विशुद्ध्यति ॥ ३९ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

ततोऽतिभक्तिश्चित्तं विषयेभ्यो नियम्य च ।
निराहारो विधुर्दध्यौ वाग्वतीपश्चिमे तटे ॥ ४० ॥

हे चन्द्र, काशी छोड़नेके समयसे आजतक मुझे सुख नहीं मिला । अतः मैं भी तुम्हारे साथ श्लेष्मान्तकवन चलूँगा ॥ ३३ ॥ अगस्त्यके ऐसे वचन श्रवणकर चन्द्रमाने कहा—हे मुने, मेरा बड़ा भाग्य है जो आप मेरे साथ चलेंगे ॥ ३४ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य, उठिये गमन कीजिए, हे प्रभो, चलिये । तब चन्द्रके साथ वे अगस्त्यजी दूसरे सूर्यके समान आकाशमार्गसे श्लेष्मान्तक वनको गये । परम दुर्लभ श्लेष्मान्तकवन और क्षेत्र (तीर्थ) को देखकर चन्द्रमाके साथ अगस्त्य मुनिने आनन्द प्राप्त किया । वाङ्मतीमें स्नान करके वत्सलादेवीके दर्शन करके—॥ ३५-३७ ॥ पशुपतिके दर्शन करके दक्षिण द्वारपर स्थित हुए । ततः चन्दमाने अति दारुण तपस्या की । महारम्य शंखमूलप्रदेशमें अगस्त्यके आश्रममें स्थित होकर चन्द्रने जबतक शुद्ध न हो जाऊँ तबतक तपस्या करना प्रारम्भ किया । इससे वे अति भक्तियुक्त चित्तसे विषयोंसे दूर होकर निराहार रहकर वाङ्मतीके पश्चिम तटपर वृक्षके तनेके समान निश्चल होकर शीत-पवन आदिसे पीड़ित होकर तपस्या करने लगे । कठोर तपस्यासे हर्षित होकर पशुपति भगवान्ने प्रसन्न होकर चन्द्रमासे स्वयं कहा—हे चन्द्र, मैं प्रसन्न हूँ, अभिलषित वर मांगो

नैश्चल्यं स्थाणुवत् प्राप्तं शीतवातादिपीडितम् ।
वीक्ष्य प्रसन्नो भगवाँस्तदा पशुपतीश्वरः ॥ ४१ ॥

श्रीपशुपतिरुवाच—

तुष्टः पशुपतिः प्राह स्वयं चन्द्रमसं प्रभुः ।
सन्तुष्टोऽहं हिमकर संप्रार्थय मनोगतम् ॥ ४२ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

अदेयमपि दास्यामि वरं तुभ्यं न संशयः ।
उन्मील्य चक्षुषी चन्द्रो दृष्ट्वा पशुपतिं प्रभुम् ॥ ४३ ॥

चन्द्रमा उवाच—

प्रणम्य दण्डवद्भूमाविदं वचनमब्रवीत् ।
यदि तुष्टोऽसि मे नाथ प्रार्थयेऽहं वरद्वयम् ॥ ४४ ॥
एकपापात् प्रमुच्येऽहं श्रीशम्भो गुरुतल्पगात् ।
अपरं क्षेत्रमाहात्म्यं स्वपूजासहितं वद ॥ ४५ ॥
इति चन्द्रमसो वाक्यं श्रुत्वा शम्भुर्वचोऽब्रवीत् ।
मद्दर्शनेन हिमगो शुद्धो जातोऽसि सर्वथा ॥ ४६ ॥
तथाऽपि चन्द्र मत्क्षेत्रे मल्लिङ्गं स्थापय स्वयम् ।
महापातकसंयुक्तो मानवो दैवयोगतः ॥ ४७ ॥
वाग्वत्याः पर्यासि स्नात्वा वत्सलां मां विलोक्य च ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो नात्र कार्या विचारणा ॥ ४८ ॥
मम दक्षिणभागे तु यस्तु प्राणान् परित्यजेत् ।
प्रभावादस्य क्षेत्रस्य नरकं नाभिगच्छति ॥ ४९ ॥

॥ ३८-४२ ॥ अदेय (न देने योग्य) वर भी तुम्हें दूँगा । हे चन्द्र निःसन्देह होकर वर मांगो । चन्द्रने दोनों आँखे खोलकर समक्ष पशुपतिको देखकर भूमिपर प्रणाम दण्डवत् करके कहा— हे नाथ, यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं दो वर मांगता हूँ ॥ ४३-४४ ॥ एक वरदान हे शङ्कर, आप यह दें कि मैं गुरुपत्नीरमण पापसे मुक्त हो जाऊँ । दूसरा वरदान यह दें कि, हे शम्भो, आप अपनी पूजासहित इस क्षेत्रके महात्म्यको मुझसे कहें—॥४५॥ चन्द्रवचन श्रवणकर शिवजीने कहा—हे चन्द्र, मेरे दर्शनसे तुम शुद्ध हो गये हो, तो भी तुम मेरे इस क्षेत्रमें मेरा लिङ्ग स्थापित करो । दैवयोगसे महापापी मनुष्य भी वाङ्मतीमें स्नान करके वत्सलादेवीके दर्शन करके मेरे लिङ्गका (तुमसे स्थापित लिंग का) जो दर्शन करेंगे वे निःसन्देह सब पापोंसे छूट जायेंगे ॥ ४६-४८ ॥ मेरे दक्षिण भागमें जो शरीर छोड़ेगा वह इस क्षेत्रके प्रभावसे नरक नहीं जायगा ॥ ४९ ॥ मेरे पूर्व

मम पूर्वेण भागेन वाग्वत्याः सलिले शुभे ।
स्नायते सततं यस्तु तस्य पुण्यं महद्भवेत् ॥ ५० ॥
मम शूलसमुद्भूतं प्रावृट्समयनिःसृतम् ।
तीर्थं मृगोदकं नाम पुण्यकृद्भिः प्रदृश्यते ॥ ५१ ॥
मृगोदकोद्भवे तीर्थे वाग्वत्याः पश्चिमे तटे ।
जन्मान्तरकृतैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ५२ ॥
अत्र बदरिका नाम वाग्वत्याः पूर्वके तटे ।
तत्रापि स्नानमात्रेण पार्वती परितुष्यति । ५३ ॥
अत्र कोषोदकं नाम तीर्थं कामफलप्रदम् ।
कोषं कोषं समाहृत्य सुरैः सर्वैः प्रकल्पितम् ॥ ५४ ॥
तीर्थे कोषोदके चापि तदग्रे च नदीजले ।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् सोऽश्वमेधं फलं लभेत् ॥ ५५ ॥
त्रिसन्ध्यं तु समासाद्य सन्ध्यां यः समुपासते ।
किल्विषात् स्वकृताव्यक्तात् स द्विजः परिमुच्यते ॥ ५६ ॥
भृगुप्रपतनं नाम कन्दरश्चापि विद्यते ।
तस्मात् प्रपतनाद्वाऽपि स्वर्गलोके महीयते ॥ ५७ ॥
भृगुकन्दरमूले तु ब्रह्मभेदे मनोरमे ।
स्नायते विधिना यस्तु ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ ५८ ॥
अत्र गोखुरकं नाम तीर्थं कामफलप्रदम् ।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५९ ॥

भागमें वाङ्मतीके पवित्र जलमें जो स्नान करता है इसका फल बहुत अधिक है ॥ वर्षा कालमें उत्पन्न मेरे त्रिशूलसे निःसृत मृगोदक तीर्थका दर्शन पुण्यवान् जन पाते हैं। वाङ्मतीके पश्चिम मृगोदक तीर्थमें उत्पन्न जलमें जो स्नान करते हैं वे निःसन्देह जन्मान्तर में किये पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ५०-५२ ॥ वाङ्मतीके पूर्व तटपर बदरिका नामका इच्छापूर्ण करनेवाला तीर्थ है। जिसे कोष-कोषपर लाकर देवोंने स्थापित किया है। उस कोषोदकमें तथा वाङ्मतीके जलमें—जो उसके आगे है जो नर स्नान करता है। वह अश्वमेध यज्ञका फल पाता है॥ ५३-५५ ॥ जो यहाँ आकर तीनों काल (प्रातः, मध्माह्न, सायं) सन्ध्या पूजा करता है। वह अपने द्वारा अनजानमें किये पापोंसे छूट जाता है ॥५६॥ भृगुपतन नामक कन्दरा यहाँपर है। वहाँसे जो कूदकर प्राण छोड़ता है वह स्वर्गलोकमें भी प्रशंसनीय होता है। भृगुपतन कन्दरके मूल प्रदेशमें मनोरम ब्रह्मभेद स्थल है। जो वहाँ विधानसे स्नान करता है वह ब्रह्मलोक जाता है। वहाँ गोखुरक नामक कामफलप्रद तीर्थ है। वहाँ जो स्नान करता है तथा रुद्राभिषेक

गौरीशिखरमूले तु वाग्वत्यां यस्तु स्नायते ।
स्त्रीसौभाग्यमवाप्नोति देवीलोकं स गच्छति ॥ ६० ॥
स्कन्दकुण्डं समासाद्य स्नायते यस्तु मानवः ।
स्कन्दलोकमवाप्नोति भूत्वा वैश्वानरद्युतिः ॥ ६१ ॥
अत्र पञ्चनदं नाम तीर्थं ब्रह्मनिषेवितम् ।
पञ्चयज्ञफलं तत्र स्नानमात्रेण लभ्यते ॥ ६२ ॥
शूलोद्भवे शुभे तीर्थे स्नायते यस्तु मानवः ।
जातिस्मरत्वमाप्नोति ब्राह्मणस्तु विशेषतः ॥ ६३ ॥
प्राप्य स्नातकपानीयं गुह्यं गुह्यकरक्षितम् ।
स्नायते विधिना यस्तु यक्षलोकं स गच्छति ॥ ६४ ॥
अत्र यक्षोदकं प्राप्य तीर्थं कन्दरानिःसृतम् ।
स्नायते विधिना यस्तु मृत्युस्तं च न पश्यति ॥ ६५ ॥
योगकुण्डे देववाप्यां कुमारकन्दरेऽपि च ।
ब्रह्मादिभ्यो विशेषेण स्नायते स्वर्गकाङ्क्षिभिः ॥ ६६ ॥
वासुकेः प्रथमं कार्यं मत्पूजाराधनं सदा ।
घृतेन मधुना वाऽपि दध्ना चेक्षुरसेन च ॥ ६७ ॥
गन्धोदकेन क्षीरेण शीततोयेन वा पुनः ।
मत्स्नानं कारयेद्यस्तु तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ६८ ॥
अनेनैव भवेत् स्वर्गे लब्धभाग्यो नरोत्तमः ।
घृतस्नानेन मल्लोके मधुना मम मन्दिरम् ॥ ६९ ॥

करता है वह सहस्र गोदानका फल पाता है। गौरी-शिखरके मूलप्रदेशमें जो वाङ्मतीमें स्नान करता है वह स्त्रीसौभाग्यको (सुन्दरी भाग्यवती लक्ष्मीवती भार्याको) प्राप्त करता है तथा देवीके लोकमें जाता है । जो मानव स्कन्दकुण्डमें स्नान करता है वह अग्नितुल्य तेजस्वी होकर स्कन्दलोक जाता है ॥५७-६१॥ वहाँ ब्रह्म निषेवित पञ्चनद तीर्थ है वहाँ स्नान करनेसे पञ्चयज्ञफल मिलता है शुभशूलोद्भवतीर्थमें स्नान करनेसे जातिस्मरण—पूर्व जन्मादिका—ज्ञान होता है । विशेषकर ब्राह्मण जातिको स्मरण होता है । गुह्यकरक्षित गुप्त स्नातकपानीय कुण्ड (यदि भाग्यसे प्राप्त हो जाय तो) में स्नान करनेसे मनुष्य यक्षलोक जाता है ॥६२-६४॥ यहाँपर जो यक्षोदकतीर्थ है वह भृगु कन्दरासे नि:सृत है वहाँ जो विधिसे स्नान करता है वह अमर हो जाता है। योगकुण्डमें, देववापीमें, कुमारकन्दर कुण्डमें स्वर्गकांक्षी जन स्नान करते हैं—अधिकतर यहाँपर विप्रगण ही स्नान करते हैं ॥६५-६६॥ मेरी पूजाराधनमें (सब सामग्री एकत्र करके) पहले वासुकि पूजन करना चाहिए। घृत, मधु, दधि, शर्करा दुग्ध, सुगन्धित शीतल जलसे जो मुझे स्नान कराते हैं। वे अधिक पुण्य प्राप्त करते हैं ॥ ६७-६८ ॥ इस स्नान करानेसे वह मनुष्य स्वर्गमें

दध्ना वै वैष्णवं लोकं प्रयाति मम शासनात् ।
वैद्याधरं पदं याति स्नानादिक्षुरसेन तु ॥ ७० ॥
गन्धोदकेन गान्धर्वं क्षीरेण शशिनः पदम् ।
शीतोदकस्य स्नानेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७१ ॥
अङ्गपूजां तु यः कुर्यात् पुष्पैर्नानाविधैर्मम ।
सर्वकामफलं भुक्त्वा मोदते मम मन्दिरे ॥ ७२ ॥
अङ्गप्रदीपं यः कुर्यात् मम भक्त्या सुसंयुतः ।
स्वयंप्रभेषु देशेषु तस्योत्पत्तिः प्रजायते ॥ ७३ ॥
अङ्गप्रदक्षिणं यस्तु करोति मम भक्तिमान् ।
रूपवान् धनवाँश्चैव वज्रसंहननो युवा ॥ ७४ ॥
विद्यावान् जायते लोके पुत्रपौत्रसमन्वितः ।
अङ्गपूजां तु यो दद्यात् मम भक्त्याऽतियत्नतः ॥ ७५ ॥
आयुष्मान् बलवान् वीरो जायते च महीपतिः ।
दीपमालां तु यः कुर्याद्भवने मम भक्तितः ॥ ७६ ॥
चक्षुष्मान् जायतेऽत्यन्तं तेजस्वी लोकपूजितः ।
गुग्गुलं दहते यस्तु ममाग्रे भक्तिसंयुतः ॥ ७७ ॥
इह लोके सुखं भुक्त्वाऽप्यन्ते याति परां गतिम् ।
तिलपात्रप्रदानेन त्रायते महतो भयात् ॥ ७८ ॥

भाग्यशाली और नरोत्तम माना जाता है। केवल घृत-स्नान करानेसे वह मेरे लोकको जाता है। मधुस्नानसे मेरे मन्दिरको, दधि स्नानसे वैष्णव लोकको, मेरी आज्ञासे जाता है। शर्करास्नानसे विद्याधर बन जाता है। गन्धोदक स्नानसे गान्धर्व लोकको, दुग्धस्नानसे चन्द्रलोकको जाता है। शीतलजलस्नान करानेसे सर्वपापरहित हो जाता है ॥६९-७१॥ जो मेरी, अनेक प्रकारके पुष्पोंसे, पूजा करते हैं वे सकाम (इच्छा) फल प्राप्तकर मेरे मन्दिरमें शोभित होते हैं। जो भक्तिसे मेरी अंगप्रदीपपूजा करता है उसकी उत्पत्ति स्वयंप्रभ आदि देशों में होती हैं—जहाँ कष्ट नहीं होता ॥७२-७३॥ जो भक्त मेरी श्रद्धासे अङ्ग प्रदक्षिणा करता है। वह रूपवान्, धनवान् वज्रप्रहारसहनशील, युवक, विद्यावान्, पुत्रपौत्र युक्त होकर इस लोकमें आनन्द करता है। जो अति प्रयत्नसे मेरी अङ्गपूजाको करता है। वह आयुष्मान्-बलवान् होकर लोकमें महीपति होता है। जो मेरे भवनमें भक्तिसे दीपपूजा करता है वह अति तेजस्वी होकर, लोकपूजित होकर, नेत्रवान् होकर संसारमें सुख भोगता है। जो मेरे सामने भक्तिसे गूगल जलाता है वह इस लोकमें सुखको भोगकर अन्तमें परमगति पाता है। यहाँ तिलपात्र दान देनेसे या चढ़ानेसे बड़े भयसे दूर होता है ॥७४-७८॥ सुवर्ण दानसे अथवा तिल—और गो दान करनेसे मनुष्य

तथैव च सुवर्णेन तथैव तिलधेनुना ।
हेमश्रृङ्गीं रौप्यखुरां कांस्यघण्टावलम्बिनीम् ॥ ७९ ॥
सवत्सां कपिलां दद्यात् तस्य यज्ञफलं भवेत् ।
रत्नकञ्चुकदानेन जायते रत्नवान् नृपः ॥ ८० ॥
वस्त्रवान् वस्त्रदानेन भूमिदानेन भूमिवान् ।
गीतनृत्यप्रदानेन तूर्यनादानुमोदिना ॥ ८१ ॥
मम पार्श्वचरो भूत्वा जायते दुःखवर्जितः ।
नीलोत्पलार्कपद्मानां प्रदानेन श्रियं लभेत् ॥ ८२ ॥
वकेन विल्वपत्रेण वरदोऽस्मि विशेषतः ।
मोक्षो धत्तूरकेणापि करवीराद्धनप्रदः ॥ ८३ ॥
जात्यादिना सुगन्धेन पुष्पेण शुभगो भवेत् ।
पुष्पैः पत्रैः फलैस्तोयैर्मामर्चयति सन्ततम् ॥ ८४ ॥
सोऽपि स्वर्गफलं प्राप्य मोदते नात्र संशयः ।
यस्तु पूजयते भक्त्या पशुयोनिं मम प्रियाम् ॥ ८५ ॥
मुच्यते पशुपाशेभ्यः कामसिद्धिश्च लभ्यते ।
यो दद्यात्मम क्षेत्रेऽस्मिन् ब्राह्मणेभ्यश्च भोजनम् ।
सोऽपि यज्ञफलं लब्ध्वा स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ ८६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

भयसे दूर होता है । सुवर्णके सींगवाली, चांदी मढ़े खुरवाली, कांसेके बने घण्टोंको धारण करनेवाली, बछड़े सहित गौका दान देनेसे यज्ञफल होता है । लालवस्त्र दान देनेसे (लाल वस्त्रनिर्मित चोली या कुरता आदि) मनुष्य रागवान् नरेश होता है । वस्त्रदानसे वस्त्रवान् । भूमिदानसे भूमिवान् होता है । वाद्यनाद अनुगामी गीत नृत्य, मेरे सामने करनेसे मनुष्य दुःखरहित हो जाता है और मरकर मेरा पार्श्वचर होता है । नीलकमल, अर्क (आंक) कमल चढ़ानेसे मनुष्य लक्ष्मी पाता है । वक-विल्वपत्र चढ़ानेसे विशेष वरदान दे देता हूँ--चाहे हुए मनोरथसे अधिक--वरदान देता हूँ । धतूरेसे मोक्ष, करवीर पुष्प चढानेसे धनप्रद होता है ॥ ७९-८३ ॥ चमेली आदि सुगन्धित पुष्प चढ़ानेसे शुभ-ऐश्वर्यवाला होता है । पत्र-पुष्प-फल-जलसे जो मेरी नित्य सेवा करता है । वह स्वर्ग प्राप्तकर निःसन्देह आनन्द करता है ॥ जो नर भक्तिसे मेरे पशुप्रिया योनिका (पशुरूप-गौ-सांडको) अथवा पशुपति महादेवको पूजता है वह पशुपाशसे रहित होकर कामसिद्धिको पाता है । जो नेपाल क्षेत्रमें ब्राह्मण भोजन कराता है । वह भी यज्ञफल प्राप्तकर स्वर्गको जाता है ॥ ८४-८६ ॥

पञ्चदशोऽध्याय

मार्कण्डेय उवाच—

ततः पशुपतिर्देवः पुनः प्रोवाच शीतगुम् ।
क्रियतां चन्द्र मे पूजां यथाभक्तिपुरःसरम् ॥ १ ॥

महादेव उवाच—

स्थापयित्वा हि मल्लिङ्गं मत्क्षेत्रेऽत्यन्तदुर्लभे ।
सर्वपापविशुद्धः सन् कृतार्थस्त्वं भविष्यसि ॥ २ ॥
पूर्वस्या कौशिकी पुण्या सर्वपापविनाशिनी ।
गङ्गा त्रिशूलगङ्गाख्या प्रतीच्यां दिशि संस्थिता ॥ ३ ॥
उत्तरस्यां दिशि तथा सोमा शिवपुरी मता ।
दक्षिणस्यां दिशि नदी पवित्रा शीतलोदका ॥ ४ ॥
एतन्मध्ये महापुण्यं नेपालं क्षेत्रमीरितम् ।
मनोहराया वाग्वत्याः सङ्गमे सुमनोहरे ॥ ५ ॥
तपस्यन्तं महाभागं गच्छ त्वं कुम्भसम्भवम् ।
तदुक्तेनैव विधिना स्वात्माभिलषिते स्थले ॥ ६ ॥
लिङ्गं स्थापय चन्द्र त्वं द्विजराजो भविष्यसि ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे शम्भुश्चन्द्रमा हर्षसंयुतः ॥ ७ ॥
नत्वा देवं पशुपतिं शङ्खमूलं जगाम हि ।
ततो ददर्श रुचिरमाश्रमं कुम्भजन्मनः ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय मुनिने कहा—तब पशुपति भगवान्‌ने चन्द्रसे कहा—हे चन्द्र, मेरी पूजा भक्तियुक्त होकर करो ॥ १ ॥ हे चन्द्र मेरे अति दुर्लभ क्षेत्रमें मेरे लिंगको स्थापित करके सर्वपाप रहित होकर तुम कृतार्थ हो जाओगे ॥ २ ॥ इस नेपालके पूर्वमें सर्वव्यापिनी कौशिकी नदी है। पश्चिममें गंगा त्रिशूलगंगा नामसे स्थित हैं। उत्तर दिशामें शिवपुरी है। दक्षिण दिशामें पवित्रा शीतलोदका नदी है ॥३–४॥ इन्हीं नदियोंके बीच में महापुण्य शाली नेपालतीर्थ स्थित है। [इसे नेपाल कहा जाता है] मनोहर वाङ्मतीके रम्य संगममें तप करनेवाले, महाशय अगस्त्य मुनिके प्रति तुम जाओ। उन्हीं अगस्त्य मुनिके आदेशानुसार विधिसे, अपने इच्छित स्थलमें, हे चन्द्र, तुम लिंगकी स्थापना करो। इस स्थापना करनेसे हे चन्द्र, तुम द्विजराज हो जाओगे। इतना कहकर शम्भुजी अन्तर्हित हो गये। हर्षयुक्त चन्द्रमा पशुपतिदेवको नमस्कार करके शंखमूल प्रदेशमें चले गये। तत्पश्चात् उन्होंने अगस्त्यजीका रुचिर आश्रम, देखा। वह आश्रम दाडिम

दाडिमैः कर्णिकारैश्च चम्पकैरुपशोभितम् ।
पनसैः सहकारैश्च नागरङ्गैर्विराजितम् ॥ ९ ॥
जम्बीरैर्बीजपूरैश्च खर्जूरैः प्रविराजितम् ।
जातीलवङ्गलतिकामालतीमल्लिकायुतम् ॥ १० ॥
भ्रमद्भ्रमरसङ्घातनिनादैश्च मनोहरम् ।
वाग्वतीजलसंसर्गशीतलानिलबीजितम् ॥ ११ ॥
नानापक्षिनिनादेन कोकिलानां रवेण च ।
भ्रमतां तत्र लोकानां मनसस्तापहारिणाम् ॥ १२ ॥
प्रविवेश तदा चन्द्रस्तपोवनमनुत्तमम् ।
विशुद्धं चन्द्रमालोक्य भगवान् कुम्भसम्भवः ॥ १३ ॥
स्वागतेन प्रजग्राह महाहर्षसमन्वितः ।
द्विजराजं मुनिश्रेष्ठः कृतासनपरिग्रहम् ॥ १४ ॥

अगस्त्य उवाच—

तेजः पुञ्जमयं दृष्ट्वा पप्रच्छ प्रीतिपूर्वकम् ।
यदादिदेश भगवान् स्वयं पशुपतिः प्रभुः ॥ १५ ॥
शशलाञ्छन तत् सर्वं वद यत् पुरतो मम ।
अगस्त्य वचः श्रुत्वा द्विजराजोऽब्रवीत् पुनः ॥ १६ ॥

चन्द्र उवाच—

तव प्रसादाद्विप्रेन्द्र पूतोऽस्मि गुरुतल्पगः ।
दृष्टः पशुपतिर्देवो भोगस्वर्गापवर्गदः ॥ १७ ॥

(अनार) चम्पासे सुशोभित था कटहल, आम, नारंगीके वृक्ष वहाँ विराज रहे थे। जम्बीर, नीबू खजूर वहाँ लगे हुए थे। भ्रमण करते हुए भौरोंके शब्दोंसे, चमेली लवङ्गलता मालती मल्लिकाके वृक्ष राज रहे थे। वाङ्मतीके जल-संसर्गसे शीतल पवनसे वृक्षकी सुगन्धसे वह आश्रम पूरित हो रहा था। अनेक पक्षियोंके शब्दोंसे कोकिलाओंके कूजनसे युक्त था। भ्रमण करनेवाले लोगोंके सन्तापको दूर करने वाला वह आश्रम था। चन्द्रदेव उसी उत्तम तपोवनमें प्रविष्ट हो गये। विशुद्ध चन्द्रदेवको देखकर उन भगवान् अगस्त्य मुनिने अति हर्षसे स्वागतके साथ मुनिश्रेष्ठने, कृतासन परिग्रहवाले, तेजःपुञ्जशाली, चन्द्रको, अत्यन्त प्रीतिपूर्वक कहा—भगवान पशुपतिने जो आदेश दिया है। हे चन्द्र, वह मेरे सामने कहो। अगस्त्यके वचन श्रवणकर चन्द्रने कहा—हे विप्रेन्द्र, आपके अनुग्रहसे मैं गुरुकी पत्नीके घृणित अपराधसे मुक्त हो गया॥ भोग-स्वर्ग-अपवर्गदाता, भगवान् देवदेवके दर्शन मैंने किये ॥ ५–१७ ॥ हे प्रभो, अगस्त्य,

आज्ञप्तं देवदेवेन लिङ्गसंस्थापनं स्वयम् ।
नेपाले परमे क्षेत्रे देवानामपि दुर्लभे ॥ १८ ॥
भवन्मुखबहिर्यातमन्त्रादिविधिना प्रभो ।
आज्ञप्तानि च तीर्थानि मुख्यानि द्विजपुङ्गव ॥ १९ ॥
पूजाविधिश्च कथितो ममानुग्रहकारणात् ।
अतो भवन्तमायातो देवाज्ञातो मुनीश्वर ॥ २० ॥
उत्तिष्ठ मुनिशार्दूल यामः पशुपतिं वयम् ।
पूजयित्वा पशुपतिं यथाविधिपुरःसरम् ॥ २१ ॥
तीर्थयात्रा प्रकर्तव्या भवता सह यत्नतः ।
आत्माभिलषिते स्थाने लिङ्गसंस्थापनं मया ॥ २२ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

कर्तव्यं मुनिशार्दूल भवदुक्तविधानतः ।
इति चन्द्रवचः श्रुत्वाऽगस्त्यः प्रोवाच तं पुनः ॥ २३ ॥

अगस्त्य उवाच—

अवश्यमेव कर्तव्या पूजा पशुपतेर्मया ।
तीर्थयात्रा प्रकर्तव्या मया सह कलानिधे ॥ २४॥
आत्माभिलषिते स्थाने लिङ्गं संस्थापय द्रुतम् ।
मयाऽप्यत्रैव कर्तव्यं लिङ्गसंस्थापनं विधो ॥ २५ ॥
इत्युक्त्वा द्विजराजं तं स मुनिः कुम्भसम्भवः ।
लिङ्गसंस्थापनमतिं कृत्वा चन्द्रमभाषत ॥ २६ ॥

आपके मुखसे उच्चरित मन्त्रविधिसे देवदुर्लभक्षेत्र नेपालमें लिंग स्थापनको महादेवजीने स्वयं मुझे आदेशित किया है । हे द्विजश्रेष्ठ, मुख्य तीर्थस्थानवर्णन भी उन्होंने किया । मेरे ऊपर कृपा करके पूजा विधि भी कही । हे मुनीश्वर, महादेवजीकी आज्ञासे आपके समीप आया हूँ । हे मुनिश्रेष्ठ, उठिये, हम लोग पशुपतिके दर्शनार्थ चलें । विधानसे पशुपतिको पूजकर आपके साथ मुझे तीर्थयात्रा प्रयत्नसे करनी है । आपके कथनानुसार विधानसे लिंगस्थापन करना है । इस प्रकार चन्द्रवचन श्रवणकर अगस्त्य मुनिने पुनः कहा—॥ १८–२३ ॥ अवश्यमेव मुझे पशुपतिपूजन करना है । हे कलानिधे मेरे साथ तीर्थयात्र करो और अपने अभिलषित स्थानपर लिंगस्थापन करो । इस प्रकार चन्द्रसे अगस्त्यने कहकर—लिंगस्थापनके विचारके विचारको चन्द्रके प्रति प्रकट किया । हे चन्द्र, होमसामग्री एकत्र करो । हे चन्द्र, लिंगस्थापनोत्सवमें नेपालस्थ मुनियोंको बुलाओ । चन्द्रसे प्रार्थित नेपालस्थ मुनिगण आये, मुनियोंके साथ अगस्त्यमुनिश्रेष्ठने संगमके

क्रियतां होमसामग्री नेपालस्था मुनीश्वराः ।
आहूयन्तां हिमकर लिङ्गसंस्थापनोत्सवे ॥ २७ ॥
चन्द्राज्ञातः समायाता नेपालस्था मुनीश्वराः ।
मुनिभिः सहितः श्रीमानगस्यो मुनिसत्तमः ॥ २८ ॥
संङ्गमस्याविदूरे तु सुस्थले सुमनोहरे ।
शुभे दिने सुलग्ने तु यज्ञशालां चकार सः ॥ २९ ॥
हरमाराध्य विधिवद्भक्तियुक्तो मुनीश्वरः ।
कोटिहोमसमाप्त्यर्थं दत्वा दानान्यनेकशः ॥ ३० ॥
चखान कुण्डं मनुना वारुणेन घटोद्भवः ।
पातालान्निःसृतं तोयं कुण्डे स्थास्यति सर्वदा ॥ ३१ ॥
ततः संस्थापयामास लिङ्गं कुम्भेश्वराभिधम् ।
कुम्भेश्वरस्य ये भक्ता भविष्यन्ति नराः कलौ ॥ ३२ ॥
इह लोके सुखं भुक्त्वा यास्यन्ति परमां गतिम् ।
कुम्भोद्भवेन मुनिना तपस्तप्त्वा सुदारुणम् ॥ ३३ ॥
समाराध्य हरं यस्माल्लिङ्गसंस्थापनं कृतम् ।
अतः कुम्भेश्वरं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३४ ॥
चतुर्दश्यामथाष्टम्यां संक्रान्तिदिवसे तथा ।
कुम्भेश्वरं ये द्रक्ष्यन्ति ते कृतार्थो न संशयः ॥ ३५ ॥
प्रातः स्नात्वा नरः कुण्डे दृष्ट्वा कुम्भेश्वरं शिवम् ।
कुरुते शक्तितो दानं स कृतार्थो न सशयः ॥ ३६ ॥
समर्चयति विल्वस्य पत्रैः कुम्भेश्वराभिधम् ।
तस्य कुम्भेश्वरस्तुष्टः प्रददाति मनोरथान् ॥ ३७ ॥

निकट मनोहर स्थलमें शुभदिनमें शुभ लग्नमें यज्ञशाला रची । भक्तियुक्त मुनिवर अगस्त्यने विधिसे महादेवको आराधित करके कोटि होम समाप्त्यर्थं अनेक दान देकर वरुणके साथ अतुल यज्ञकुण्ड खोदा । इस पाताल निःसृत कुण्डमें जल सदा रहेगा । तत्पश्चात् कुम्भेश्वर नामक लिङ्गको स्थापित कर दिया जो लोग कलियुगमें कुम्भेश्वर भक्त होंगे । वे इस लोकमें सुख भोगकर परम गति पायेंगे । अगस्त्यने दारुण तप करके महादेवको आराधित करके लिंग स्थापन किया ॥ इसलिए इसका नाम कुम्भेश्वर है ॥२४–३३ ॥ चतुर्दशी, अष्टमी, संक्रान्तिको जो कुम्भेश्वरका दर्शन करते हैं । वे निःसन्देह कृतार्थ होते हैं ॥ ३५ ॥ प्रातः कुम्भ कुण्डमें स्नान करके जो कुम्भेश्वरदर्शन करते हैं तथा यथाशक्ति दान करते हैं । वे अवश्य कृतार्थ होते हैं । जो कुम्भेश्वरकी विल्वपत्रसे सेवा करते हैं । कुम्भेश्वर प्रसन्न होकर उनके मनोरथ पूर्ण करते हैं । कुम्भेश्वरकुण्डमें जो श्रावण पूर्णिमाको स्नान ही करते हैं वे भी स्वर्ग जाते हैं । भक्तियुक्त जो नर वैशाख पूर्णिमाको कुम्भेश्वरका

तत्पुष्करिण्याः सलिले यः करोत्यवगाहनम् ।
श्रावणे पौर्णमास्यां वै सोऽपि स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ३८ ॥
वैशाखे पूर्णिमास्यां तु यो नरो भक्तिसंयुतः ।
कुम्भेश्वरं स्नापयति शीतलेन सुगन्धिना ॥ ३९ ॥
वारिणा रुद्रसूक्तैस्तु तस्य पुण्यफल शृणु ।
कपिलानां सहस्रस्य दानाद्यज्जायते फलम् ॥ ४० ॥
तत् फलं समवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।
तौर्यत्रिकं कारयति यः कुम्भेश्वरसन्निधौ ॥ ४१ ॥
अत्र भुक्त्वा महाभोगानन्ते याति परां गतिम् ।
नरो भूतचतुर्दश्यां कार्तिके भक्तिसंयुतः ॥ ४२ ॥
दीपमालां कारयति यः कुम्भेश्वरसन्निधौ ।
महादेवप्रसादेन यमलोकं न पश्यति ॥ ४३ ॥
यत्तीर्थोद्भववारिणा सुनियतं स्नात्वा नरो नित्यशः
पीत्वा वारि सुनिर्मलं किमथ वा कृत्वा मुखक्षालनम् ।
पुण्यं योऽप्यभिनन्दते प्रतिदिनं श्रीदेवकुम्भेश्वरं
भुक्त्वा सर्वसुखानि याति नगरीं सोऽन्ते पुरीं शाम्भवीम् ॥ ४४ ॥
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं महापातकनाशनम् ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः कुम्भेश्वरसमुद्भवम् ॥ ४५ ॥
वेदान्तवेत्ता विप्रः स्यात् क्षत्रियो विजयो भवेत् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सद्गतिमाप्नुयात् ॥ ४६ ॥
कन्यार्थी लभते कन्यां धनार्थी लभते धनम् ।
विद्यार्थी लभते विद्यामपुत्रः पुत्रमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

सुगन्धित शीतल जलसे रुद्राभिषेक करते हैं। उसका फल सुनो। सहस्र कपिला गौके दानसे जो फल होता है वह फल उसको निश्चय मिलता है। जो कुम्भेश्वरके समीप वाद्य बजाता है वह परमगति पाता है तथा यहाँ पृथ्वीपर अनेक भोग भोगता है। जो नर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको कुम्भेश्वरके समीप भक्तिसे दीपमाला जलाता है। वह उनके प्रतापसे यमलोक नहीं जाता। जो कुम्भकुण्डमें नित्य स्नान करता है या मुखप्रक्षालन, या उसका जल पीता है या नित्य कुम्भेश्वरको प्रणाम करता है। वह सर्व सुख भोगकर अन्तमें शङ्करपुरीको जाता है ॥ ३६–४४ ॥ जो इस पुण्यमय कुम्भेश्वर जन्मवाले अध्यायको सुनाता है। वह सर्वपाप रहित हो जाता है ॥ ४५ ॥ विप्र वेदान्तवेत्ता, क्षत्रिय विजयी, वैश्य धनदान्, शूद्र सद्गतिमान हो जाता है। इसके श्रवणसे, कन्यार्थी

गुर्विणी जनयेत् पुत्रं श्रुत्वा ध्यायमिमं शुभम् ।
पतिकामनया कन्या श्रुत्वा विन्दति सत्पतिम् ॥ ४८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये कुम्भेश्वरोत्पत्तिर्नाम पञ्चदशोऽध्यायः १५ ॥

कन्याको, धनार्थी धनको, अपुत्री पुत्रको पाता है । गर्भिणी पुत्रको, पतिकामनावाली कन्या सत्पतिको कुम्भेश्वर जन्मके अध्याय को श्रवणकर यथाक्रम पाती है ॥ ४६–४८ ॥

●

षोडशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच ।

ततोऽगस्त्यप्रभृतिर्मुनिभिः सह चन्द्रमाः ।
जगाम हर्षसंयुक्तो देवं पशुपतीश्वरम् ॥ १ ॥
ततोऽनुज्ञां प्रार्थयित्वा विधुः पशुपतीश्वरात् ।
राजराजेश्वरीं द्रष्टुं जगामागस्त्यसंयुतः ॥ २ ॥
पूजयित्वा यथान्यायं राजराजेश्वरीं शिवाम् ।
दृष्ट्वा महाद्भुतं कूपं सूचकं भाविजन्मनः ॥ ३ ॥
दृष्ट्वाऽथ भैरवं देवं वत्सलां प्रविलोक्य च ।
स्तनकुण्डं पशुकुण्डं वीक्ष्य गुह्येश्वरीं गतः ॥ ४ ॥
गुह्येश्वरीं पूजयित्वा महाविभवविस्तरैः ।
दृष्ट्वा तीर्थान्यनेकानि कुम्भसम्भवसंयुतः ॥ ५ ॥

मार्कण्डेयमुनिने कहा—तब चन्द्रमा अगस्त्यप्रभृति मुनियोंके साथ हर्षयुक्त होकर पशुपतिदेवके समीप दर्शनार्थ गये । फिर प्रार्थना करके तथा पशुपतिकी आज्ञा लेकर चन्द्रदेव अगस्त्यके साथ राजराजेश्वरीके दर्शनको वहाँ गये ॥ २ ॥ यथाशास्त्र राजराजेश्वरी देवीका पूजन करके, अग्रजन्मसूचक महान् अद्‌भुत कूपका दर्शन करके, भैरवनाथ तथा वत्सलादेवी, स्तनकुण्ड, पशुकुण्डके दर्शन करके गुह्येश्वरीदेवीके दर्शन करने गये । गुह्येश्वरी देवीका पूजन विशाल वैभवसे करके असस्त्यके साथ अनेक तीर्थोंको देखकर मुनिगणोंके साथ महालिंग गोकर्णेशको गये । यज्ञभूमिको देखकर अगस्त्यने

गोकर्णेशं महालिङ्गं ययौ मुनिगणैर्वृतः॥ ६॥
यज्ञभूमिं समालोक्य मुनीन् प्राह घटोद्भवः।
अत्रैव रावणस्तेपे तपः परमदारुणम्॥ ७॥
अत्राजुहाव पौलस्त्यो यज्ञं परमदुष्करम्।
तपस्यया स पौलस्त्यो लङ्कास्थानमनुत्तमम्॥ ८॥
लेभे चक्रे वशे देवान् राक्षसानामधीश्वरः।
गोकर्णेशप्रसादेन त्रैलोक्ये दुर्जयोऽभवत्॥ ९॥
अगस्त्यस्य वचः श्रुत्वा मुनीनामग्रतस्तदा।
भृगुवंशसमुत्पन्नः श्यामो नाम तपोधनः॥ १०॥

श्याम उवाच--

मुदा परमया युक्तः पप्रच्छ घटसम्भवम्।
रावणस्य कुलं जन्म तपस्यां विक्रमं तथा॥ ११॥

मार्कण्डेय उवाच—

श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण वद सर्वं तपोनिधे।
एतत् तु वचनं श्रुत्वा भार्गवस्य महात्मनः॥ १२॥

अगस्त्य उवाच—

कुम्भयोनिर्महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह।
शृणु श्याम यथा वृत्तं तस्य तेजो बलं महत्॥ १३॥
जघान च रिपून् यस्तु यथाऽवध्यश्च शत्रुभिः।
आह ते रावणस्येदं कुलं जन्म च भार्गव॥ १४॥

मुनियोंसे कहा—यहाँ ही रावणने कठोर तप किया था। यहाँपर ही पौलस्त्य (रावण) ने परम दुष्कर यज्ञ किया था—अपने शिर काटकर मखमें हवन किये थे। उत्तम तपस्यासे रावणने उत्तम लङ्का नगरी पायी। उस राक्षसेश्वरने देवताओंको देवोंको वशमें कर लिया था। वह रावण गोकर्णेशके प्रसादसे तीनों लोकमें दुर्जय था। अगस्त्यके वचन श्रवणकर मुनियोंमें अग्रणी भार्गव श्याम नामक तपोधनने परमहर्षसे अगस्त्यमुनिसे पूछा—हे तपोनिधे अगस्त्य, रावणका कुल, जन्म, तपस्या पराक्रम पूर्णतया सुनना चाहता हूँ। तपोनिधे, वह सब आप बतायें। महात्मा भार्गवके इस वचनको श्रवणकर महातेजा अगस्त्यने कहा—हे श्याम, उस रावणके वृत्त, तेज, महान् बलको सुनो—वह रिपुओंको मारकर शत्रुओंसे अवध्य कैसे हुआ। हे भार्गव, रावणने कुलजन्म वरदानको कैसे पाया सब कुछ तुम्हें बताता हूँ। हे श्याम, प्राचीनकालमें सत्ययुगमें प्रजापतिका शुभ पुत्र पुलस्त्य नामक विप्रर्षि साक्षात् अग्निसम तेजस्वी था। उसके नामसे कीर्तिसे गुणसे धर्मसे स्वभावसे यह जाना जाता है कि वह प्रजापतिका पुत्र है। वह मुनि धर्मकी

वरप्रदानं च यथा तथा सर्वं ब्रवीमि ते ।
पुरा कृतयुगे श्याम प्रजापतिसुतः शुभः ॥ १५ ॥
पुलस्त्यो नाम विप्रर्षिः साक्षादिव हुताशनः ।
नामकीर्त्या गुणात् तस्य धर्मतः शीलतस्तथा ॥ १६ ॥
प्रजापतेः सुत इति शक्यं ज्ञातुमतः परम् ।
स तु धर्मप्रसादेन मेरोः पार्श्वे महागिरेः ॥ १७ ॥
तृणविन्द्वाश्रमं गत्वाऽन्यवसन्मुनिपुङ्गवः ।
कुर्वतस्तस्य हि तपः स्वाध्यायनिरतात्मनः ॥ १८ ॥
गत्वाऽऽश्रमपदं रम्यं विघ्नं कन्याः प्रकुर्वते ।
तत्र पन्नगकन्याश्च राजर्षितनयाश्च याः ॥ १९ ॥
क्रीड्यन्तेऽप्तरसश्चैव तं देशमुपपेदिरे ।
नित्यशस्तं प्रदेशं तु गत्वा क्रीडन्ति कन्यकाः ॥ २० ॥
देशस्य रमणीयत्वात् पुलस्त्यो यत्र स द्विजः ।
अथ क्रुद्धो महातेजा व्याजहार महामुनिः ॥ २१ ॥
यो मे दर्शनमागच्छेत् सा गर्भं धारयेदिति ।
तास्तु सर्वाः प्रतिगताः श्रुत्वा वाक्यं महात्मनः ॥ २२ ॥
ब्रह्मशापभयाद्भीता न तं देशं सिषेविरे ।
तृणविन्दोस्तु राजर्षेर्दुहिता न तथाऽश्रृणोत् ॥ २३ ॥
गत्वाऽऽश्रमपदं तस्य सा चचार सुनिर्भया ।
तस्मिन्नेव तु काले तु प्राजापत्यो महामुनिः ॥ २४ ॥
स्वाध्यायमकरोत् तत्र तपसा द्योतितप्रभः ।
तस्य वेदध्वनिं श्रुत्वा दृष्ट्वा तं च तपोधनम् ॥ २५ ॥

कृपासे महागिरि सुमेरुपर्वके समीपमें तृणविन्दुके आश्रममें जाकर रहने लगा । स्वाध्यायमें निष्ठ, तपस्या करने वाले, उस पुलस्त्यके रम्य आश्रमपर जाकर कन्याएँ विघ्न करने लगीं । उनमें सर्पकन्याएँ, राजर्षिकन्याएँ थीं । अप्सराएँ भी उस स्थानमें आ गयीं । वे कन्याएँ नित्य आकर वहाँ खेलती थीं । स्थानकी रमणीयताके कारण वे लोग जहाँ पुलस्त्य रहते थे वहींपर आकर खेलती थीं । (एक दिन) क्रुद्ध महातेजा तपस्वी महामुनि पुलस्त्यने कहा—जो मेरे दर्शनको आवेगी वह गर्भवती हो जायगी । उन महात्माकी बात सुनकर सब कन्याएँ चली गयीं । ब्रह्मशापके भयसे भीत वे उस स्थान-पर नहीं आती थीं । तृणविन्दु मुनिकी कन्याने यह बात नहीं श्रवण की थी । वह उस आश्रमपर जाकर निर्भय होकर घूमने लगी । उसी समय प्रजापतिके पुत्र महामुनि तपस्यासे तेजः प्रभावाले, वहाँ स्वाध्याय करने लगे । उनकी वेदध्वनि श्रवणकर और उन तपोधनको देखकर वह सुव्यञ्जितशरीरवाली पाण्डुशरीरवाली, हो गयी । अपने

अभवत् पाण्डुदेहा सा सुव्यञ्जितशरीरजा।
बभूव सहसोद्विग्ना दृष्ट्वा तद्रूपमात्मनः॥ २६॥
इदं किं तदिति ज्ञात्वा पितुर्गत्वाऽऽश्रमं स्थिता।
तां दृष्ट्वा तु तथाभूतां तृणविन्दुरथाब्रवीत्॥ २७॥
किमेतदीदृशं रूपं धारयस्यात्मनो वपुः।
साऽथ कृत्वाऽञ्जलिं दीना कन्योवाच तपोधनम्॥ २८॥
न जाने कारणं तात येन मे रूपमीदृशम्।
किं तु पूर्वं गताऽस्म्येका महर्षेर्भावितात्मनः॥ २९॥
पुलस्त्यस्याश्रमपदमन्वेष्टुं स्वसखीजनम्।
न चापश्यमहं तत्र कां चिदप्यागतां सखीम्॥ ३०॥
रूपस्य तु विपर्यासं लब्ध्वैवाहमिहागता।
तृणविन्दुस्तु राजर्षिस्तपसा भावितः स्वयम्॥ ३१॥
ध्यानं विवेश तच्चापि ददर्श मुनिशापजम्।
स तु विज्ञाय तं ज्ञापं महर्षेर्भावितात्मनः॥ ३२॥
तनयासहितो गत्वा पुलस्त्यमिदमब्रवीत्।
भगवँस्तनया त्वं मे गुणैः स्वैरेव भूषिताम्॥ ३३॥
भिक्षां प्रतिगृहाणेमां मया ते प्रतिपादिताम्।
तपश्चरणखिन्नस्य श्राम्यमाणक्रियस्य ते॥ ३४॥
शुश्रूषातत्परा नित्यं भविष्यति न संशयः।
एवं ब्रुवाण तं चैव राजर्षिं धार्मिकं तदा॥ ३५॥

रूपको ऐसा देखकर वह एकाएक घबड़ा गयी॥ ३-२६॥ यह क्या, ऐसा सोचकर आश्रम स्थित पिता तृणविन्दुके पास गयी। पिताने उसे इस प्रकारके रूपमें देखकर कहा—यह क्या? ऐसा रूप तुमने अपना क्यों किया? उस कन्याने दीनभावसे हाथ जोड़कर, तपोधन तृणविन्दुसे कहा—॥ २७–२८॥ हे तात, मैं नहीं जानती कैसे मेरा रूप ऐसा हो गया परन्तु, मैं पहले भावितात्मा महर्षि पुलस्त्यके आश्रमस्थानमें सखीजनको ढूँढनेको गयी थी। वहाँपर मैंने किसी सखीको आयी हुई नहीं देखा॥ २९-३०॥ रूपके विपरीतत्वको प्राप्त करते ही यहाँपर आयी हूँ। राजर्षि तृणविन्दुने स्वयं तपस्यासे ध्यान लगाकर देखा तो उसे, मुनिशापसे उत्पन्न, दशामें स्थित, कारणवाली पाया। उन्होंने भावितात्मा महर्षि पुलस्यकी शाप जानकर, पुलस्त्यके समीप पुत्री सहित जाकर यह बात कही। हे भगवन्! अपने गुणोंसे भूषित मेरी इस पुत्रीको मेरे द्वारा दी भिक्षाके रूपमें, स्वीकार करें। यह कन्या तपस्याके परिश्रमसे खिन्न आपकी सेवा नि सन्देह नित्य करेगी। इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले राजर्षि धार्मिक तृणविन्दुसे उन पुलस्त्य

प्रतिगृह्याब्रवीत् कन्यां वाढमित्येव स द्विजः ।
दत्वाऽथ स गतः कन्यां स्वमाश्रमपदं नृपः ॥ ३६ ॥
साऽपि तत्रावसत् साध्वी तोषयन्ती पतिं गुणैः ।
तस्याश्च शीलवृत्ताभ्यां तुतोष मुनिपुङ्गवः ॥ ३७ ॥
प्रीतः स तु महातेजा वाक्यमेतदुवाच ह ।
परितुष्टोऽस्मि ते भद्रे गुणानां सम्पदा भृशम् ॥ ३८ ॥
तुष्टश्च वितराम्यद्य पुत्रमात्मसमं तव ।
उभयोर्वंशकर्तारं पौलस्त्येयमिति श्रुतम् ॥ ३९ ॥
यस्मात् तु विश्रुता वेदास्त्वयैवाभ्यस्यतो मम ।
तस्मात् स विश्रवा नाम भविष्यति न संशयः ॥ ४० ॥
एवमुक्त्वा तु सा कन्या प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्तं विश्रवनामकम् ॥ ४१ ॥
स तु लोकत्रये ज्ञातः शौचकर्मसमन्वितः ।
बुद्धिमान् समदर्शी च व्रताचाररुचिस्तथा ॥ ४२ ॥
सत्यवाक्यः कृतज्ञश्च द्युतिमान् धृतिमान् वशी ।
पितेव तपसा युक्तो विश्रवा मुनिपुङ्गवः ॥ ४३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

मुनिने, कन्या स्वीकार करके कहा—'बहुत अच्छा—स्वीकार की ।' इस प्रकार वह राजर्षि कन्याको देकर अपने आश्रमको चले गये । इस प्रकारसे वह साध्वी अपने गुणोंसे अपने पतिको सन्तोषित करती हुई इस आश्रममें निवास करने लगी । उस कन्याके स्वभाव-चरितसे मुनिश्रेष्ठ सन्तुष्ट थे तथा प्रसन्न होकर एक दिन महातेजा उक्त पुलस्त्यने यह कहा—हे भद्रे, मैं तुम्हारे गुणोंसे अति प्रसन्न हूँ ॥ ३०-३८ ॥ प्रसन्न, मैं आज अपने तुल्य पुत्र तुम्हें देता हूँ । इसका नाम पौलस्त्य ही होगा । यह उभयवंश-मातृ-पितृवंशका कर्त्ता है । हे तृणविन्दु—कन्ये तुमने मुझे, वेदाभ्यास करते हुए श्रवण किया था—तथा देखा था और वेदध्वनि सुनी थी । अतः इसका नाम अवश्य ही विश्रवा होगा । प्रसन्नचित्त मुनिके द्वारा कही यह वाणी उस तृणविन्दु मुनिकी पुत्रीने सुनी और थोड़े ही समयके पश्चात् विश्रवा नामक पुत्र उत्पन्न किया । वह मुनिश्रेष्ठ विश्रवा पिता पुलस्त्यके समान तपस्यामें, प्रवीण था । वह तीनों लोकमें शौचकर्म युक्त पवित्र माना जाता था । वह व्रताचारमें रुचि रखनेवाला, बुद्धिमान् समदर्शी, सत्यवाक्य, कृतज्ञ, द्युतिमान्, धृतिमान और जितेन्द्रिय था ॥ ३९-४३ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

अथ पुत्रः पुलस्त्यस्य विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
अचिरेणैव कालेन पितेव तपसि स्थितः ॥ १ ॥
सत्यवाक् शीलवाग्दक्षः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
सर्वभोगेष्वसंसक्तो नित्यधर्मपरायणः ॥ २ ॥
ज्ञात्वा च तस्य तद्वृत्तं भरद्वाजो महामुनिः ।
ददौ विश्रवसे भार्यां स्वसुतां वरवर्णिनीम् ॥ ३ ॥
प्रतिगृह्य तु धर्मेण भरद्वाजसुतां तदा ।
मुदा परमया युक्तो विश्रवा मुनिपुङ्गवः ॥ ४ ॥
स तस्यां वीर्यसंपन्नमपत्यं परमाद्भुतम् ।
जनयामास धर्मज्ञं सर्वैरात्मगुणैर्युतम् ॥ ५ ॥
तस्मिन् जाते संबभूव सन्तुष्टः स पितामहः ।
नाम चास्याकरोत् प्रीत्या सर्वदेवर्षिभिस्तथा ॥ ६ ॥
यस्माद्विश्रवसोऽपत्यं सादृश्याद्विश्रवा इव ।
तस्माद्वैश्रवणो नाम भविष्यत्येष विश्रुतः ॥ ७ ॥
स तु वैश्रवणस्तस्य तपोवनगतस्तदा ।
अवर्धताहुतिहुतो महातेजा यथाऽनलः ॥ ८ ॥
तथाऽऽश्रमपदस्थस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ।
चरिष्यामि यतो धर्मं धर्मो हि परमा गतिः ॥ ९ ॥

अगस्त्यमुनिने कहा—मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्यपुत्र विश्रवा थोड़े ही समयमें पिताके समान तपस्यामें स्थित हो गये । सत्यवाक्, शीलवाक्, दक्ष, स्वाध्यायमें निष्ठ, सम्पूर्ण भोगोंमें असंसक्त, नित्य धर्मपरायणवाले उन्हें (विश्रवामुनिको) ज्ञातकर भरद्वाज मुनिने अपनी उत्तमा पुत्रीको उनकी भार्याके रूपमें दे दिया । भरद्वाजकी पुत्रीको धर्मसे स्वीकार करके वे मुनिश्रेष्ठ परम मुदित हुए । उन्होंने उस भार्यासे परम अद्भुत, बलसम्पन्न, सब अपने गुणोंसे युक्त, धर्मज्ञ पुत्रको उत्पन्न किया । उस पुत्रोत्पत्तिपर ब्रह्माजी अति सन्तुष्ट हुए तथा प्रीतिसे सभी देवर्षियोंके साथ इसका नामकरण किया ॥१-६॥ "विश्रवामुनिके समान तथा विश्रवामुनिसे उत्पन्न इस बालकका नाम भविष्यमें वैश्रवण होगा ।" तपोवन स्थित वह वैश्रवण, धीरे-धीरे, बढ़ने लगा । जैसे अति दीप्तिवाली अग्नि आहुतिसे बढ़ती है । आश्रमपदस्थ उस महात्माकी बुद्धि हुई—उसने सोचा—कि मैं धर्माचरण

ततो वर्षसहस्राणि तपस्तेपे चतुर्दश ।
पूर्णे पूर्णे सहस्रे च तां तां वृत्तिमुपस्थितः ॥ १० ॥
जलाशी मारुताहारो निराहारस्तथैव च ।
एवं वर्षसहस्राणि गतान्यस्यैकवर्षवत् ॥ ११ ॥
अथ प्रीतो महातेजाः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ।
गत्वाऽऽश्रमपदं तस्य ब्रह्मेदं वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥
परितुष्टोऽस्मि ते वत्स कर्मणाऽनेन सुव्रत ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते वरार्हस्त्वं हि मे मतः ॥ १३ ॥
अथाब्रवीद्वैश्रवणः पितामहमुपस्थितम् ।
भगवन् लोकपालत्वमिच्छेयं वित्तरक्षणम् ॥ १४ ॥
तत्राब्रवीद्वैश्रवणं परितुष्टेन चेतसा ।
ब्रह्मा सह सुरैः सर्वैर्वाढमित्येव हृष्टवत् ॥ १५ ॥
अहं हि लोकपालानां चतुर्थं स्रष्टुमुद्यतः ।
यमेन्द्रवरुणानां वै पदं तत् तव चेप्सितम् ॥ १६ ॥
सत् कृतं गच्छ धर्मज्ञ दिक्पालत्वमवाप्नुहि ।
यमेन्द्रवरुणानां वै चतुर्थोऽद्य भविष्यसि ॥ १७ ॥
एतच्च पुष्पकं नाम विमानं सूर्यसन्निभम् ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते त्रिदशैः समतां व्रज ॥ १८ ॥

करूँ—क्योंकि धर्म ही परमगति है। तब उसने १४ हजार वर्षतक उन-उन वृत्तिमें तपस्या की। एक सहस्रवर्ष समाप्त होनेपर वह वृत्तिपरिर्वन कर देता था। कभी जलाहारी होकर, कभी पवनहारी होकर, कभी निराहार होकर उसने तपस्या की। इस प्रकार उसके एक हजार वर्ष एक वर्षके सदृश बीते ॥ ७-११ ॥ इसके पश्चात् प्रसन्न, दीर्घ दीप्तिशाली, इन्द्रसहित सब देवोंके साथ, ब्रह्माजी उसके आश्रमस्थलको गये और यह वचन बोले—हे वत्स, तुम्हारे इस कार्यसे हे सुव्रत, मैं प्रसन्न हूँ—हे वत्स, वर माँगो—तुम्हें मैंने वर देने योग्य माना है। तब वैश्रवणने पितामहसे कहा—हे भगवन्, मैं लोकपालत्व वित्तरक्षणको चाहता हूँ। ततः परितुष्ट चित्तसे, प्रसन्न ब्रह्माजीने, सब देवोंके साथ वैश्रवणसे कहा—स्वीकार है ॥ १२-१५ ॥ मैं लोकपालोके चतुर्थपदको रचना भी चाहता दूँ अतः यम इन्द्र, वरुणके पदके समान तुम्हारा ईप्सित पद है। हे धर्मज्ञ, सत्कृत दिक्पालत्व स्वीकार करो। यम–इन्द्र–वरुणमें चतुर्थ दिक्पाल आप होंगे ॥ १६-१७ ॥ हे पुत्र, सूर्यसमान इस पुष्पक विमानको ग्रहण करो, देवोंकी समानता प्राप्त करो। तुम्हारा कल्याण हो। हम लोग तुम्हें वर देकर कृतकृत्य होकर जाते हैं। ऐसा कहकर

स्वस्त्यस्तु ते गमिष्यामिः सर्व एव यथागताः ।
कृतकृत्या वयं जातास्तव दत्वा महावरम् ॥ १९ ॥
इत्युक्त्वा स ययौ ब्रह्मा सह देवैर्नभस्तलम् ।
गतेषु ब्रह्ममुख्येषु देवेषु च महात्मसु ॥ २० ॥
धनेशः पितरं प्राह विनयात् प्रणतो वचः ।
भगवल्लँब्धवानस्मि वरं कमलयोनितः ॥ २१ ॥
निवासं न तु मे देवो विदधे स प्रजापतिः ।
एवमुक्तस्तु पुत्रेण विश्रवा मुनिपुङ्गवः ॥ २२ ॥
वचनं तत्र धर्मज्ञ श्रूयतामित्यथाब्रवीत् ।
लङ्का नाम पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २३ ॥
राक्षसानां निवासाय यथेन्द्रस्यामरावती ।
तत्र त्वं वस भद्रं ते रमसे तत्र नित्यशः ॥ २४ ॥
रमणीया पुरी सा हि रुक्मवैदूर्यतोरणा ।
राक्षसैः सा तु संत्यक्ता पुरी विष्णुभयार्दितैः ॥ २५ ॥
शून्या रक्षोगणैः सर्वैः रसातलतलं गतैः ।
स त्वं तत्र निवासाय रोचयस्व मतिं स्वकाम् ॥ २६ ॥
निर्दोषस्तत्र ते वासो न च दोषोऽस्ति कश्चन ।
एतच्छ्रुत्वा तु धर्मात्मा धर्मिष्ठं वचनं पितुः ॥ २७ ॥
निवेशयामास तदा लङ्कां पर्वतमूर्धनि ।
नैर्ऋतानां सहस्रैः सा मुदितैर्बहुभिस्तदा ॥ २८ ॥

ब्रह्माजी सब देवोंके साथ आकाशको चले गये । ब्रह्मादि देवोंके चले जाने पर अपने पितासे उसने विनयपूर्वक नम्र वचन कहे—हे पितः, (हे विश्रवा) हे भगवन्, ब्रह्माने मुझे वर दिया है परन्तु, उन प्रजापतिने मेरा निवास नहीं बताया है । •इस प्रकार पुत्रसे कहे जानेवाले विश्रवामुनिश्रेष्ठने कहा—हे धर्मज्ञ, मेरे वचन सुनो । विश्वकर्मा द्वारा रची हुई सुन्दर नगरी लंका है । वह राक्षसोंके निवासके लिए रची गयी है । जैसे इन्द्रके निवासार्थ अमरावती है । हे वत्स, वहाँ तुम जाकर रहो । तुम्हारा मंगल हो । तुम्हें वह नगरी नित्य अच्छी लगेगी । वह सुन्दर नगरी सोने-वैदूर्यमणिके तोरणोवाली है । विष्णुके भयसे पीडित होकर राक्षसोंने वह नगरी त्याग दी है । सब राक्षस पाताल चले गये अतः वह नगरी शून्या है । तुम वहाँ निवासार्थ मतिको बनाओ । वहाँ तुम्हारा निवास निर्दोषपूर्ण है । वहाँ कुछ भी दोष नहीं है । इस प्रकार धर्मात्मा पिताके वचनको सुनकर, वह वैश्रवण सहस्रों राक्षसोंके साथ पर्वतमूर्धनि लंका नगरीमें निवास करने लगा ॥ १८–२८ ॥ थोड़े ही कालमें वह लंका उसके शासनसे सम्पूर्ण—सब पदार्थ

अचिरेणैव कालेन संपूर्णा तस्य शासनात् ।
स तु तत्रावसत् प्रीतो धर्मात्मा नैर्ऋतैः सह ॥ २९ ॥
समुद्रपरिखायां तु लङ्कायां विश्रवःसुतः ।
काले काले स तु तदा पुष्पकेण धनेश्वरः ॥ ३० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

अभ्यगच्छेद्विनीतात्मा पितरं मातरं तथा ।
अगस्त्यस्य वचः श्रुत्वा श्यामः प्रोवाच तं मुनिम् ॥ ३१ ॥

श्याम उवाच—

भगवन् पूर्वमप्येषा लङ्काऽऽसीत् पिशिताशिनाम् ।
इति दम्भवचः श्रुत्वा जातो मे विस्मयः पुनः ॥ ३२ ॥
पुलस्त्यवंशादुत्पन्ना राक्षसा इति नः श्रुतम् ।
इदानीमन्यतश्चापि सम्भवः कीर्तितस्त्वया ॥ ३३ ॥
रावणात् कुम्भकर्णाच्च प्रहस्ताद्विकटादपि ।
रावणस्य च पुत्रेभ्यः किं नु ते बलवत्तराः ॥ ३४ ॥
क एषां पूर्वजो ब्रह्मन् किंनामानश्च किंबलाः ।
अपराधं च कं प्राप्य विष्णुना वाधितास्ततः ॥ ३५ ॥
एतद्विस्तरतः सर्वं कथयस्व ममानघ ।
कौतूहलमिदं त्वं मेऽनुदभानुर्यथा तमः ॥ ३६ ॥

अगस्त्य उवाच—

भार्गवस्य वचः श्रुत्वा प्रत्यभाषत तं पुनः ।
प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा अपो भार्गवनन्दन ॥ ३७ ॥

युक्ता हो गयो । वहाँ वह धर्मात्मा प्रेमसे रहने लगा ॥ २९ ॥ समय-समयपर परिखा-वाली लंकामें निवास करनेवाला वैश्रवण-कुबेर विनीतात्मा पुष्पक विमानसे पिता माता के दर्शनार्थ जाता था । अगस्त्य मुनिके वचन श्रवणकर श्याम विप्रने पुनः अगस्त्यसे कहा—॥ ३०–३१ ॥ हे भगवन, पहले भी यह लंका राक्षसोंके अधीन थी । इस अहंकारी वचनको श्रवणकर मुझे विस्मय है ॥ ३२ ॥ पुलस्त्यके वंशमेंसे राक्षसोंकी उत्पत्ति हमने सुनी थी । इस समय अन्योंसे भी उनकी उत्पत्ति आप से सुनी ॥ ३३ ॥ रावण, कुम्भकर्ण, विकट प्रहस्तसे भी, तथा रावणपुत्र मेघनाद आदिसे भी अधिक बलवान् क्या वे राक्षस थे ? उनके पूर्वजका क्या नाम था ? कितना उन्हें बल था ? किस अपराधसे विष्णुभगवान्ने उन्हें पीड़ा दी ? यह सब विस्तारके साथ आप, हे अनघ (निष्पाप) मुझसे कहें । मेरे इस कुतूहल को आप उसी प्रकार दूर करें जैसे—सूर्य अन्धकारको दूर करता है ॥ ३४–३६ ॥ भार्गव श्यामके वचन श्रवणकर, अगस्त्यजीने

आसां गोपायने सत्वानसृजत् पद्मसम्भवः ।
ते सत्त्वाः सर्वकालेन विनीतवदुपस्थिताः ॥ ३८ ॥
किं कुर्म इत्यभाषन्त क्षुत्पिपासाभयार्दिताः ।
प्रजापतिस्तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन्निव ॥ ३९ ॥
आभाष्यापः प्रयत्नेन रक्षतेति च भार्गव ।
रक्षाम इति तत्रान्यैर्यक्षामश्चेत्यथापरैः ॥ ४० ॥
क्षुधिताक्षुधितैरुक्तास्ततस्तानाह भूतकृत् ।
यक्षाम इति यैरुक्तमतो यक्षा भवन्तु वः ॥ ४१ ॥
रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः ।
ततः प्रहेतिर्हेतिश्च राक्षसौ भ्रातरावुभौ ॥ ४२ ॥
मधुकैटभसंकाशौ बभूवतुररिन्दमौ ।
प्रहेतिर्धार्मिकस्तत्र दानवान् सोऽभिकाङ्क्षति ॥ ४३ ॥
हेतिर्दारक्रियार्थं तु यत्नं परममास्थितः ।
स कालभगिनीं पत्नीं भयानामभयावहाम् ॥ ४४ ॥
उदावहदमेयात्मा स्वयमेव महामतिः ।
स तस्यां जनयामास हेती राक्षसपुङ्गवम् ॥ ४५ ॥
पुत्रं पुत्रवतां श्रेष्ठं विद्युत्केशमिति श्रुतम् ।
स हेतिपुत्रो विक्रान्तः प्रदीपाग्निसमप्रभः ॥ ४६ ॥
व्यवर्धत महातेजास्तोयमध्ये यथाम्बुजम् ।
स यदा यौवनं तत्र प्राप्त आसीन्निशाचरः ॥ ४७ ॥

कहा—हे भार्गवनन्दन, प्राचीन कालमें प्रजापतिने जलों को बनाया। इन जलों के रक्षार्थ ब्रह्माने प्राणी बनाये। वे प्राणी सदा विनीत होकर उपस्थित रहते थे। भूख-प्याससे व्याकुल वे कहने लगे—क्या करें। प्रजापतिने, हँसते हुएके समान, उन सबसे कहा - तुम लोग प्रयत्नसे जलकी रक्षा करो। अगस्त्यने कहा—हे भार्गव-श्याम, तब उनमेंसे कुछने कहा "रक्षामः"। अन्योंने कहा—"यक्षाम"। वे लोग उस समय भूखसे व्याकुल थे। अतः ऐसा कहा। इसपर ब्रह्माजीने उन लोगोंसे कहा—जिन्होंने "यक्षामः" कहा है वे लोग यक्ष हो जायें। जिन्होंने "रक्षा" कहा है वे राक्षस हो जायें। तब मधु और कैटभके समान शत्रुदमनकर्त्ता दो राक्षस प्रहेति और हेति दो भाई उत्पन्न हुए। उनमें प्रहेति धार्मिक था और दानवोंको चाह था॥ ३७-४३॥ हेतिने पत्नी पानेके लिये बड़ा यत्न किया। उस अमेयात्मा हेतिने भया नामक भयावह कालकी भगिनीको पत्नी रूपमें वरण किया। उस हेतिने उस पत्नीसे राक्षसश्रेष्ठ पुत्र-वानोके पुत्रोंमें श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न किया जो विद्युत्केश नामसे प्रसिद्ध हुआ। वह विद्युत्केश बलवान् प्रज्वलित अग्निके समान प्रभाशाली था॥ ४४-४६॥ वह महातेजवान् जलमें

ततो दारक्रियां तस्य कर्तुं व्यवसितः पिता ।
सन्ध्यादुहितरं सोऽथ नाम्ना शालकटङ्कटाम् ॥ ४८ ॥
वरयामास पुत्राय हेती राक्षसपुङ्गवम् ।
अवश्यमेव दातव्या वराय चेति सन्ध्यया ॥ ४९ ॥
चिन्तयित्वा सुता दत्ता विद्युत्केशाय भार्गव ।
सन्ध्यायास्तनयां लब्ध्वा विद्युत्केशो निशाचरः ॥ ५० ॥
रेमे वै स तया सार्धं पौलोम्या मघवानिव ।
कस्य चित् त्वथ कालस्य श्याम शालकटङ्कटा ॥ ५१ ॥
विद्युत्केशाद्गर्भमाप घनराजीव चार्णवात् ।
ततः सा राक्षसी गर्भं घनगर्भसमप्रम् ॥ ५२ ॥
प्रसूता मन्दरं गत्वा गङ्गा गर्भमिवाग्निजम् ।
तस्मिन्नुत्सृज्य तं गर्भं विद्युत्केशाद्रतार्थिनी ॥ ५३ ॥
रेमे पत्या तदा सर्वं विस्मृत्य सुतमात्मनः ।
तयोत्सृष्टस्तु स शिशुः प्रदीपाग्निसमप्रभः ॥ ५४ ॥
आस्ये पाणि समाधाय मेघवद्विरुरोद ह ।
अथोपरिष्टाद्वृषभस्थितो देवो महेश्वरः ॥ ५५ ॥
अपश्यदुमया सार्धं रुदन्तं राक्षसात्मजम् ।
कारुण्यादथ पार्वत्या भवस्त्रिपुरसूदनः ॥ ५६ ॥
तं राक्षसात्मजं चक्रे पितुरेव वयःसमम् ।
अमरं चैव तं कृत्वा महादेवोऽक्षयावहम् ॥ ५७ ॥

कमलके समान बढ़ने लगा । वह राक्षस विद्युत्केश जब युवक हुआ तब उसके पिताने उसका विवाह कर देनेका प्रयास किया । उस राक्षसोत्तमने शालकटंकटा नामक संध्यापुत्रीसे अपने पुत्रका विवाह करनेका निश्चय किया । संध्याने सोचा पुत्री अवश्य वर (दूल्हा) को दी जायगी । हे भार्गव अतः विद्युत्केश (वर) के साथ उसका विवाह कर दिया । संध्याकी पुत्रीके साथ विवाह करके विद्युत्केश निशाचर इस प्रकार शोभित हुआ जैसे इन्द्राणीके साथ इन्द्र शोभित होता है । हे श्याम, कुछ कालके पश्चात् शालकटंकटाने विद्युत्केशसे गर्भ उसी प्रकार धारण किया—जिस प्रकार मेघ-श्रेणी समुद्रसे जल धारण करती है । इसके पश्चात् उस राक्षसी शालकटंकटाने तेजस्वी गंगाके अग्निज गर्भके समान गर्भको मन्दर पर्वतपर जाकर उत्पन्न किया । ततः मन्दरपर्वतपर गर्भसे बालक उत्पन्न करके रतार्थिनी उस राक्षसीने बालकको भूलकर पतिके साथ रमण किया । प्रदीपाग्नितुल्य, माता-पितासे त्यागा वह, बालक हाथको मुँहमें रखकर खूब रोने लगा । तब पर्वतके ऊपर बैलपर स्थित महादेवने पार्वतीके

पुरमाकाशगं प्रादात् पार्वत्याः प्रीतिकाम्यया।
उमयाऽपि वरो दत्तो राक्षसाना भृगूद्वह ॥ ५८ ॥
गर्भप्राप्तिः सद्य एव प्रसूतिः सद्य एव तु।
जातस्य च वयःप्राप्तिः कामतश्च भृगूद्वह ॥ ५९ ॥
ततः सुकेशो वरदानंसस्थितः
श्रियं प्रभोः प्राप्य भवस्य पार्श्वतः।
चचार सर्वत्र महामतिः क्षणात्
खगं पुरं प्राप्य पुरन्दरो यथा ॥ ६० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये सुकेशवरदानं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

साथ रोते हुए उस बालकको देखा। तब महादेवने पार्वतीके कारुण्यसे उस राक्षसपुत्रको पिताके वयके समान वयवाला कर दिया। उस राक्षसपुत्रको अमर करके पार्वतीके प्रीतिके कारण उसे आकाशचारी नगरको भी दे दिया। पार्वतीने भी वर दिया "राक्षसोंमें भृगुके समान हो जाओ। तब मुकेशी (विद्युत्केशका पुत्र) नें महादेवजीसे वरदान प्राप्तकर और लक्ष्मीको प्राप्त करके क्षणभरमें उस बुद्धिमानने सब जगह भ्रमण कर डाला। आकाशस्थित नगरको प्राप्तकर वह ऐसा शोभित हुआ जैसे इन्द्र आकाशस्थित अमरावती नगरसे शोभित होते हैं ॥ ४७-६० ॥

●

अथ अष्टादशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

सुकेशं धार्मिकं मत्वा वरलब्धं च राक्षसम्।
ग्रामणीर्नाम गन्धर्वो विश्वावसुसमप्रभः ॥ १ ॥
तस्य देववती कन्या द्वितीया श्रीरिवापरा।
तां तस्मै प्रददौ प्रीतः कृष्णायेवोदधिः श्रियम् ॥ २ ॥

महादेवजीसे वर प्राप्त सुकेशको धार्मिक राक्षस जानकर, विश्वावसुके समान प्रभावाले ग्रामणी नामक गन्धर्वने, दूसरी लक्ष्मीके समान अपनी देववती नामक कन्याका विवाह उसके साथ प्रसन्नतासे कर दिया—जैसे प्रेमसे अपनी पुत्री लक्ष्मीको समुद्रने भगवान् कृष्णको दे दी थी ॥ शिववरदान प्राप्त ऐश्वर्य सम्पन्न प्रियपतिको प्राप्तकर देववती

वरदानकृतैश्वर्यं सा तं प्राप्य पतिं प्रियम् ।
आसींद्देववती दृष्ट्वा धनं प्राप्य च दुर्भगः ॥ ३ ॥
स तया सह सुप्रीतो रेमे च रजनीचरः ।
अञ्जनागर्भनिष्पन्नो गजो वाऽऽसीत् तयेव हि ॥ ४ ॥
देववत्यां सुकेशस्तु जनयामास भार्गव ।
स त्रिनेत्र समान् पुत्रान् जनयामास राक्षसः ॥ ५ ॥
माल्यवन्तं सुमालिं च मालिं च सुमहाबलम् ।
त्रयः सुकेशस्य सुताः त्रेताग्निसमतेजसः ॥ ६ ॥
त्रयो लोका इवान्यत्वं गतास्त्रय इवाग्नयः ।
त्रयो मन्त्रा इवात्युग्रास्त्रयो घोरा इवाग्नयः ॥ ७ ॥
विवृद्धिमगमँस्तत्र व्याधयः प्रबला इव ।
वरप्राप्त्या ततस्ते तु ज्ञात्वैश्वर्यं पितुर्महत् ॥ ८ ॥
तपस्तप्तुं गता एवं भ्रातरः कृतनिश्चयाः ।
प्रगृह्य नियमान् घोरान् राक्षसा मुनपुङ्गव ॥ ९ ॥
चेरुस्तत्र तपो घोरं सर्वभूतभयावहम् ।
सत्यार्जवदमोद्भूतः स तु तेषां तपोबलः ॥ १० ॥
निर्ददाहेव लोकाँस्त्रीन् स देवासुरमानुषान् ।
ततो देवश्चतुर्वक्त्रो विमानं वरमास्थितः ॥ ११ ॥
सुकेशपुत्रानामन्त्र्य वरदोऽस्मीत्यभाषत ।
ब्रह्माणं वरदं ज्ञात्वा हृष्टा भार्गव राक्षसाः ॥ १२ ॥

ऐसी चमकी जैसे दरिद्र धनको प्राप्तकर चमकता है ॥ १-३ ॥ वह सुकेश राक्षस देववतीपर प्रसन्न होकर इस प्रकार रमण करने लगा। जैसे अञ्जना गर्भसे उत्पन्न हाथी अपनी हथिनीके साथ रमण करता हो ॥ ४ ॥ हे भार्गव, राक्षस सुकेशने तीन नेत्रके समान तीन पुत्रको देववतीसे उत्पन्न किया ॥ ५ ॥ माल्यवान्, बलवान् माली और सुमाली । वे तीनों सुकेशपुत्र त्रेताग्निसम तेजस्वी थे ॥ ६ ॥ वे ऐसे ज्ञात होते थे मानों, तीन लोक ही अन्यत्वको प्राप्त हुए हैं। अथवा तीन अग्नियाँ ही अन्यत्वको प्राप्त हुई हैं। अथवा वे तीनों पुत्र तीन उग्र मन्त्र है। अथवा तीन घोर अग्नि है। अथवा वृद्धि-प्राप्त तीन प्रबल व्याधि हैं। धनको प्राप्तकर तथा पिताके बड़े ऐश्वर्यको जानकर वे तीनों भाई तपस्याका निश्चय करके तप करने चले गये। हे मुनिपुंगव, उन तीनों राक्षसोंने कठिन नियमोंका पालन करके घोर तप किया। वह तप सब प्राणियोंको भयदायक था। सत्य, मृदुता, दमनसे उत्पन्न उनका वह तपोबल, देव, असुर-मनुष्योंको, तीनों लोकोंको, जलाता हुआ सा मालूम होता था। तब ब्रह्माजी उत्कृष्ट विमानपर

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे वेपमाना इव द्रुमाः ।
तपसाऽऽराधितो देव ददासि यदि नो वरान् ॥ १३ ॥
अजेयाः शत्रुहन्तारस्तथैव चिरजीविनः ।
प्रभविष्णो भविष्यामः परस्परमनुव्रताः ॥ १४ ॥
एवं भविष्यथेत्युक्त्वा सुकेशतनयाँस्तदा ।
इत्युक्तः स ययौ देवो ब्रह्मा ब्राह्मणवत्सलः ॥ १५ ॥
वरं लब्ध्वा तु ते सर्वे श्याम रात्रिञ्चरेश्वराः ।
सुरासुरनराणां तु वरदानात् सुनिर्भयाः ॥ १६ ॥
तैर्बाध्यमानास्त्रिदशा ऋषिसङ्घाः सचारणाः ।
त्रातारं नाध्यगच्छंस्ते निरपत्या यथा नराः ॥ १७ ॥
अथ ते विश्वकर्माणं शिल्पिनां प्रभुमव्ययम् ।
प्रोचुराहूय सहिता राक्षसा भृगुनन्दन ॥ १८ ॥
गृहकर्ता भवान् देवो देवानां हृदयेप्सितम् ।
अस्माकमपि देव त्वं गृहान् कर्तुमतोऽर्हसि ॥ १९ ॥
हिमवन्तं समासाद्य मेरुमन्दरमेव च ।
सुरेश्वरगृहप्रख्यान् गृहान् नः कुरु विश्वकृत् ॥ २० ॥
विश्वकर्मा वचः श्रुत्वा राक्षसानां महात्मनाम् ।
निजगाद क्षणं ध्यात्वा राक्षसेभ्यो महत्स्थलम् ॥ २१ ॥

आरूढ़ होकर वहाँ आये और सुकेशके तीनों पुत्रोंको बुलाकर कहा—मैं वरदान देना चाहता हूँ। हे भार्गव, ब्रह्माको वरदाता ज्ञातकर उन राक्षसोंने हर्षित होकर, हाथ जोड़कर, वृक्षके सदृश काँपते हुए कहा—हे देव, तपसे आराधित आप हमें वर देना चाहते हैं तो यह वर दें कि—हम लोग अजेय हों, शत्रुहन्ता हों, दीर्घजीवी हों, विष्णुके समान प्रभावाले हों, परस्पर अनुव्रत हों ॥ ७-१४ ॥ ऐसा ही हो। सुकेशके पुत्रोंसे ऐसा कहकर ब्राह्मण वत्सल ब्रह्माजी स्वर्ग चले गये ॥ १५ ॥ हे श्याम, उन सब राक्षस गणोंने वरदान प्राप्तकर—सुर-असुर-नरसे निर्भय होकर रहना प्रारम्भ किया ॥ १६ ॥ उन लोगोंसे पीडित होकर निरपत्य नरके समान, देवता, मुनि, चारण गण त्राताके समीप नहीं गये ॥ १७ ॥ इसके पश्चात् शिल्पियोंके ईश विश्वकर्माको बुलाकर, हे भृगुनन्दन, उन राक्षसोंने पूछा—॥ १८ ॥ हे विश्वककर्मा, आप देवताओंके गृहनिर्माता हैं। हे देव, हम लोगोंके लिये भी गृहोंको बनाने योग्य हैं ॥ १९ ॥ हे विश्वकृत् ! हिमालय, सुमेरु, और मन्दराचलको प्राप्तकर सुरेश्वरके प्रसिद्ध भवनोंके सदृश मेरे लिये भवन बना दें ॥ २० ॥ विश्वकर्माने राक्षसोंके वचन श्रवणकर और क्षणभर सोचकर राक्षसोंके लिये महान् स्थान बताया—॥ २१ ॥ तीस योजन विस्तीर्ण (१२०

विश्वकर्मोवाच—

शकुनैरपि दुष्प्रापं टङ्कच्छिन्नं चतुर्दिशम् ।
त्रिंशद्योजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ॥ २२ ॥
तत्र लङ्का च नगरी मया शक्राज्ञया कृता ।
सा सुवर्णमयी लङ्का रत्नवैदूर्यतोरणा ॥ २३ ॥
तस्यां वसत दुर्धर्षा पुर्यां राक्षससत्तमाः ।
सहस्रानुचराः कृत्वा गत्वा भार्गव सत्पुरीम् ॥ २४ ॥
दृढप्राकारपरिखां हेमैर्गृहशतैर्वृताम् ।
लङ्कामवाप्य ते हृष्टा अवसन् रजनीचराः ॥ २५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इत्यगस्त्यवचः श्रुत्वा भृगुवंशसमुद्भवः ।
श्यामः पप्रच्छ विनयादगस्त्यं मुनिसत्तमम् ॥ २६ ॥

श्याम उवाच—

दक्षिणस्योदधेस्तीरे सुमेरुशिखरे कथम् ।
लङ्का स्वर्णमयी विश्वकर्मणा निर्मिता कथम् ॥ २७ ॥
एतं नः संशयं छिन्धि सर्वज्ञ मुनिसत्तम ।
श्यामवाक्यं समाकर्ण्यागस्त्यः प्राह पुनश्च तम् ॥ २८ ॥

अगस्त्य उवाच—

अहं ते कथयिष्यामि लङ्कोत्पत्तिं निशामय ।
पुरा सुमेरुशिखरे नानारत्नविचित्रिते ॥ २९ ॥

कोस विस्तीर्ण) शत योजन आयत (४०० कोस आयत) पक्षियोंसे भी दुष्प्राप्य चारो तरफ टांकीसे छिन्न करके रची गयी । इन्द्रकी आज्ञासे मेरे द्वारा निर्मितकी गयी लंका नगरी है वह लंका सुवर्णकी बनी है तथा रत्न—वैदूर्यमणिके तोरणवाली (बहिर्द्वार वाली) है । हे दुर्धर्ष श्रेष्ठ राक्षसगण, आप लोग सहस्रों सेवकोंके साथ उस पुरीमें जाकर बसें ॥ २२-२४ ॥ दृढ़ प्राकार (नगरकी दीवाल) वाली तथा परिखा (खाई) वाली सैकड़ों स्वर्णभवनवाली लंकामें जाकर हर्षित होकर वे रजनीचर वहाँ निवास करने लगे ॥ २५ ॥ इस प्रकार अगस्त्यके वचन श्रवणकर, भार्गव श्यामने विनयसे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे पूछा—॥ २६ ॥ विश्वकर्माने दक्षिण समुद्रके किनारे सुमेरुके शिखरपर स्वर्णमयी लंका क्यों रची ? ॥ २७ ॥ हे सर्वज्ञ, मुनिश्रेष्ठ, आप मेरे सन्देहका दूर करें । श्याम भार्गवके वाक्य श्रवणकर अगस्त्यमुनिने उससे कहा— ॥ २८ ॥ मैं तुमसे लंकाकी उत्पत्ति कहूँगा—पहले तुम एक बात सुनो—प्राचीनकालमें नानारत्न विचित्रित सुमेरु शिखरपर एक देवसभा हुई जिसमें सिद्ध गन्धर्व चारण भी

दिव्या देवसभा जाता सिद्धगन्धर्वचारणैः ।
तत्र प्रसङ्गतो जाता कथा बलवतां मुने ॥ ३० ॥
कश्चित् तत्र सुरः प्राह वायुर्बलवतां वरः ।
नेति देवः कश्चिदाह गरुडो बलिनां वरः ॥ ३१ ॥
सुरान् सुरेन्द्रः संप्राह ज्ञातव्यमनयोर्बलम् ।
कथं विशेषतो देवाः प्रभञ्जनसुपर्णयाः ॥ ३२ ॥
सुरेन्द्रवचनं श्रुत्वा नारदः प्राह देवताः ।
सुमेरुशृङ्गमेकं हि धृत्वा वै विनतात्मजः ॥ ३३ ॥
तिष्ठतूपरिविक्रान्तो वायुरुत्पाटयत्वमुम् ।
तदा बलं परीक्षामः प्रभञ्जनसुपर्णयोः ॥ ३४ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा वाढमित्यब्रवीद्वचः ।
वायुरप्याह गरुडं सुपर्ण भव विक्रमी ॥ ३५ ॥
इति वायुवचः श्रुत्वा गरुडो बलिनां वरः ।
धृत्वा सुमेरुशिखरं तस्थौ विक्रमपूर्वकम् ॥ ३६ ॥
ववौ प्रभञ्जनः शीघ्रं महाविक्रमपूर्वकम् ।
उन्मूलयामास गिरीन्महावृक्षाननेकशः ॥ ३७ ॥
महाझञ्झानिलोद्भूतैस्तरङ्गैश्च महोदधिः ।
जगत् संप्लावयामास लोका व्याकुलतां ययुः ॥ ३८ ॥
झञ्झावायुसमुद्धूतः पांशुभिः कवलीकृतौ ।
न दृक्पथं समायातौ प्राणिनां चन्द्रभास्करौ ॥ ३९ ॥

उपस्थित थे । हे मुने, प्रसंगसे बलिष्ठोंकी कथा छिड़ गयी ॥ २९-३० ॥ किसी देवताने कहा बलवानोंमें पवनदेव श्रेष्ठ हैं । किसी देवताने कहा "नहीं" बलवानोंमें गरुड़जी श्रेष्ठ हैं । तब सुरेन्द्रने कहा—इन दोनोंके बलको देखना चाहिये । हे देवो, इन पवन और गरुड़में कौन बलवान् है ? और कैसे ? अवश्य जानना चाहिए ॥ ३१-३२ ॥ सुरेन्द्र वचन श्रवणकर नारदजीने कहा—गरुड़ सुमेरु पर्वतके एक शृङ्गको लेकर सुमेरु पर्वत के ऊपर बलिष्ठ होकर स्थित होवे । तब पवन उसको उखाड़ दे । तब हम लोग पवन और गरुड़की परीक्षा कर सकते हैं ॥ ३३-३४ ॥ नारदजीके वचन श्रवणकर यह बात ठीक है—ऐसा पवनने कहा । ततः पवनने हे गरुड़ विक्रमशाली बनो ॥ ३५ ॥ इस प्रकार पवनके वचन श्रवणकर बलिष्ठोंमें श्रेष्ठ गरुड़ सुमेरु शिखरको धारणकर स्थित हो गये ॥ ३५-३६ ॥ तब पवन वेगपूर्वक विक्रमपूर्वक शीघ्र बहा और अनेक वृक्षों तथा पर्वतोंको उखाड़ दिया । पवनके झञ्झावात् (बवण्डर) से समुद्रमें तरंगे जोरोंसे उठने लगीं और उससे जगत् डूबने लगा—लोग व्याकुल होने लगे ॥ ३७-३८ ॥ झञ्झावातसे ढके हुए सूर्य—(धूलसे व्याप्त) आँखोंसे नहीं दीख पड़ते थे ॥ ३९ ॥

संचालने सुपर्णस्य पक्षस्यैकस्य मारुतः ।
अपि संचलने शक्तो नालं विक्रमसंयुतः ॥ ४० ॥
शिखरोन्मूलने शक्तिः का हि वायोर्भविष्यति ।
वायुर्बलवतां श्रेष्ठः कृत्वा द्विगुणविक्रमम् ॥ ४१ ॥
व्याकुलं च जगच्चक्रे सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
झञ्झावातहताः केचित् प्राणिनो निधनं गताः ॥ ४२ ॥
उन्मूलितैर्गिरिवरैर्देशाँश्चूर्णीकृता भृशम् ।
त्रैलोक्यविकलं सर्वं ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ ४३ ॥
सुमेरुशिखरं गत्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ।
वन्दितस्त्रिदशैः सर्वैः प्रभञ्जनमथाब्रवीत् ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच—

प्रभञ्जन निवर्तस्व जगत् सर्वं विनश्यति ।
देहिनां प्राणभूतोऽसि जानेऽहं विक्रमं तव ॥ ४५ ॥
क्षमां कुरु जगत्प्राण क्षमाशीला हि पण्डिताः ।
कुरुष्व जगतां रक्षां जानेऽहं बलवानसि ॥ ४६ ॥

अगस्त्य उवाच—

इति धातुर्वचः श्रुत्वा प्राह वाक्यं प्रभञ्जनः ।

वायुरुवाच—

मेरुशृङ्गमनुत्पाटय निवृत्तो न भवाम्यहम् ॥ ४७ ॥
जगत् तिष्ठतु वा यातु नाशं तत्र न मे वृथा ।
इति वायुवचः श्रुत्वा ब्रह्मा विष्णुमुवाच ह ॥ ४८ ॥

विक्रम युक्त पवन, गरुड़के एक पंखके भी संचालनमें, तथा संचलनमें भी सफल नहीं हुआ । फिर सुमेरु शिखर उत्पाटनमें कैसे सफल होता । अर्थात् शिखर उन्मूलन नहीं कर सका । ततः पवनने जो बलवानोंमें श्रेष्ठ था द्विगुणित पराक्रमसे सम्पूर्ण स्थावर जंगमयुक्त संसारको व्याकुल कर दिया । झञ्झावातसे आहत कुछ लोग मर गये । उन्मीलित गिरिवरोंने किन्हीं-किन्हीं देशोंको चूर्ण कर दिया तीनों लोक विकल हो गये तथा सब लोग ब्रह्माके समीप गये । सब देवोंसे पूजित लोकपितामह ब्रह्माजीने, सुमेरु शिखरपर जाकर पवनसे कहा—हे प्रभञ्जन, लौट जाओ । सब जगत् नष्ट हो रहा है । आप शरीरधारियोंके प्राणभूत हैं मैं आपके पराक्रमको जानता हूँ ॥ ४०-४५ ॥ हे जगत्प्राण, क्षमा करो, मैं जानता हूँ आप बलवान् हैं । इस प्रकार ब्रह्माके वचन श्रवणकर पवनने कहा—मेरुश्रृङ्गको बिना उखाड़े मैं नहीं लौटूँगा जगत् रहे या न रहे । अथवा नष्ट हो जाये दुःख नहीं है । इस प्रकार वायुके वचन श्रवणकर ब्रह्माजीने विष्णुसे कहा—हे हृषीकेश, बलिष्ठोंमें श्रेष्ठ गरुड़को रोक दीजिये । नहीं तो पवन

ब्रह्मोवाच—

निवारय हृषीकेश गरुडं बलिनां वरम् ।
वायुरुत्पाटयत्वेनं न चेत् सृष्टिर्विनश्यति ॥ ४९ ॥

श्रीविष्णुरुवाच—

श्रुत्वा ब्रह्मवचो विष्णुर्गरुडं प्राह तत्क्षणात् ।
निवृत्तो भव पक्षीन्द्र जानेऽहं तव विक्रमम् ॥ ५० ॥
उत्पाट्य मेरुशिखरं तुष्टो भवतु मारुतः ।
पक्षी विष्णुवचः श्रुत्वा किंचिच्छैथिल्यमाययौ ॥ ५१ ॥
वायुरुत्पाटयामास मेरुशृङ्गं महाबलः ।
दक्षिणस्योदधेस्तोयमध्ये शृङ्गं पपात ह ॥ ५२ ॥
तत्सुवर्णमयं शृङ्गं सिन्धुतोयैः सुवेष्टितम् ।
प्रोवाच विश्वकर्माणं शक्रो दृष्ट्वा मनोहरम् ॥ ५३ ॥
विश्वकर्मन् महाभाग वासाय मम सत्वरम् ।
कुरु लङ्कापुरीं रम्यां परिखीकृतसागराम् ॥ ५४ ॥
इति शक्रवचः श्रुत्वा विश्वकर्मा महाकृती ।
लङ्कानामपुरीं चक्रे शक्रस्यैवामरावतीम् ॥ ५५ ॥
लङ्कानामपुरीं रम्यामुवास बलसूदनः ।
सर्वदेवगणैः सार्धं निजां त्यक्त्वाऽमरावतीम् ॥ ५६ ॥
एतद्वृत्तान्तमाकर्ण्य ब्रह्मा मुनिगणैः सह ।
विश्वकर्मकृतां लङ्कां ययौ द्रष्टुं मनोहराम् ॥ ५७ ॥

सुमेरुको उखाड़ देगा—जिससे संसार नष्ट हो जायगा । ब्रह्माजीके वचन श्रवणकर विष्णुजीने गरुड़को तत्क्षण बुलाया और कहा—हे गरुड़ पक्षिश्रेष्ठ, तुम लौट आओ मैं तुम्हारे पराक्रमको जानता हूँ ॥ ४६-५० ॥ हे गरुड़, मेरु शिखरको उखाड़कर पवन सफल हो जाय । गरुड़ पक्षी विष्णुके वचन श्रवणकर कुछ शिथिल हो गये । तब महा बलवान् वायुने मेरु शृङ्ग उखाड़ दिया ॥ ५१ ॥ महाबलिष्ठ पवनने मेरुशृङ्गको उखाड़ लिया और दक्षिण समुद्रके जलमें पटक दिया ॥ ५२ ॥ तब समुद्रके जलसे परिवेष्टित, मनोहर, उन स्वर्णमय शृङ्गको देखकर इन्द्रने विश्वकर्मासे कहा—हे विश्वकर्मन्—मेरे निवासके लिये परिखीकृत सागरवाली रम्य लंकापुरीको बनाओ । इन्द्रके वचन श्रवणकर उच्च शिल्पी विश्वकर्माने—इन्द्रकी नगरी अमरावतीके समान लंकानामक पुरी रची ॥ ५३-५५ ॥ तब इन्द्र सब देवोंके साथ लंकापुरीमें आकर रहने लगे और उन्होंने अपनी अमरावती छोड़ दी । इस वृत्तान्तको श्रवणकर मुनिगणोंके साथ ब्रह्माजी

लङ्कायामागतं दृष्ट्वा ब्रह्माणं बलसूदनः ।
प्रत्युद्ययावादरेण सर्वदेवगणैः सह ।। ५८ ।।
पूजयित्वा यथान्यायं कृतासनपरिग्रहम् ।
उवाच विनतो भूत्वा ब्रह्माणं बलसूदनः ।। ५९ ।।
लङ्कानामपुरीं रम्यां परिखीकृतसागराम् ।
ब्रह्मन् संदृश्यतां दिव्या मम वासाय कल्पिता ।। ६० ।।

अगस्त्य उवाच—

इति देववचः श्रुत्वा विरञ्चिर्लोकपूजितः ।
तुङ्गसौधं समारुह्य ददर्श नगरीं तदा ।। ६१ ।।
निम्नां दक्षिणदिग्भागे लङ्कां दृष्ट्वा मनोहराम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच देवेन्द्रं मुनिभिः परिवारितः ।। ६२ ।।
इयं दक्षिणदिग्भागे निम्ना लङ्कापुरी यतः ।
अतो हि रक्षसां स्थानमियं लङ्का भविष्यति ।। ६३ ।।
निम्ना दक्षिणदिग्भागे या पुरी त्रिदशेश्वर ।
तस्यां निवसतामादौ वृद्धिरन्ते पुनः क्षयः ।। ६४ ।।
निवसिष्यन्ति लङ्कायां प्राणिनो धार्मिका अपि ।
ते सर्वे क्रूरकर्माणो भविष्यन्ति न संशयः ।। ६५ ।।
न वस्तव्यं त्वया शक्र लङ्कायामिति हेतुतः ।
राक्षसा निवसिष्यन्ति घोरा लोकभयावहाः ।। ६६ ।।

विश्वकर्मा द्वारा रचित लंकापुरीको देखने आये ।। ५६-५७ ।। ब्रह्माजीको लंकामें आये हुए देखकर इन्द्र सब देवताओंके साथ आदरसे उनके समीप आये तथा यथाशास्त्र उनका पूजन करके उन्हें आसनपर बिठाया । ततः इन्द्रने ब्रह्माजीसे विनतभावसे कहा—हे ब्रह्मन्—परिखीकृत समुद्रवाली सुन्दर लंकापुरीको देखें यह मेरे निवासार्थ रची गयी है ।। ५८-६० ।। देवेन्द्रके वचन श्रवणकर लोकपूजित ब्रह्माजीने उच्च भवनपर चढ़कर लंका नगरी देखी । मनोहर लंका नगरीको दक्षिण दिशामें नीची देखकर मुनियोंसे घिरे हुए ब्रह्माजीने देवेन्द्रसे कहा—यह लंका दक्षिण भागमें नीची है । अतः यह लंका राक्षसोंका निवास स्थल होगी । हे त्रिदशेश्वर जो पुरी दक्षिण भागमें नीची होती है । उसमें निवास करनेसे पहले उन्नति होती है । पश्चात् नाश होता है ।। ६१-६४ ।। यदि धार्मिकगण भी यहाँ रहेंगे तो निःसन्देह क्रूरकर्मा हो जायेंगे । हे इन्द्र, इस कारण आप लंकामें निवास न करें । भयंकर राक्षस ही यहाँ निवास करेंगे । इस प्रकार कहकर

इत्युक्त्वा प्रययौ ब्रह्मा मुनिभिः परिवारितः।
विहाय लङ्कां देवेशो जगाम स्वपुरीं ततः।
ततः प्रभृति शून्याऽभूल्लङ्का स्वर्णमयी मुने॥ ६७॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्येऽष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

ब्रह्माजी मुनियोंके साथ चले गये। देवेन्द्र भी लंका छोड़कर अमरावती नगरी चले गये॥ ६७॥

टिप्पणी—हे मुने, तबसे स्वर्णमयी लंका शून्य है॥

●

अथ ऊनविंशोऽध्यायः

श्याम उवाच—

ततस्ते मुनिशार्दूल लङ्कायां राक्षसेश्वराः।
किमकुर्वन्त ते वीरास्तन्माख्यातुमर्हसि॥ १॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति श्यामवचः श्रुत्वा जैमिने मुनिसत्तम।
भृगुवंशसमुद्भूतमगस्त्यः प्राह सादरम्॥ २॥

अगस्त्य उवाच—

एतस्मिन्नेव काले तु यथाकामं च भार्गव।
नर्मदा नाम गन्धर्वी बभूव भृगुनन्दन॥ ३॥
तस्याः कन्यात्रयं ह्यासीत् ह्रीश्रीकान्तिसमद्युति।
ज्येष्ठक्रमेण सा तेषां राक्षसानामराक्षसो॥ ४॥
कन्यास्ताः प्रददौ हृष्टाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः।
त्रयाणां राक्षसेन्द्राणां तिस्रो गन्धर्वकन्यकाः॥ ५॥

हे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य, तब उन तीनों राक्षसेन्द्रोंने जो लंकामें जाकर बस गये थे उन वीरोंने क्या किया। आप मुझे बतायें। मार्कण्डेयमुनिने कहा—हे जैमिने, श्यामके वचन श्रवणकर अगस्त्यने कहा—॥ १-२॥ हे श्याम, इसी समय यथाकामवाली नर्मदा नामक गन्धर्वी आयी। उसे ह्री, श्री और कान्तिके समान प्रभावाली तीन कन्याएँ थीं। उन पूर्णचन्द्रानना कन्याओंको उस अराक्षसी गन्धर्वीने पुण्यप्रद नक्षत्रवाले दिनमें

दत्ता मात्रा महाभागा नक्षत्रे भगवदैवते ।
कृतदारास्तु ते श्याम सुकेशतनयास्तदा ।। ६ ।।
चिक्रीडुः सह भर्याभिरप्सरोभिरिवामराः ।
तत्र माल्यवती नाम सुन्दरीणां च सुन्दरी ।। ७ ।।
स तस्यां जनयामास यदपत्यं निबोध तत् ।
वज्रमुष्टिर्विरूपाक्षो दुर्मुखश्चैव राक्षसाः ।। ८ ।।
सुमुखो यज्ञकेतुश्च मत्तोन्मत्तस्तथैव च ।
सुलोचनाऽभवत् कन्या सुन्दर्या नाम सुन्दरी ।। ९ ।।
सुमालिनोऽपि भार्याऽऽसीत् पूर्णचन्द्रनिभानना ।
नाम्ना केतुमती श्याम प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।। १० ।।
सुमाली जनयामास यदपत्यं निशाचरः ।
केतुमत्यां भृगुश्रेष्ठ तन्निबोधानुपूर्वशः ।। ११ ।।
प्रहस्तोऽकम्पनश्चैव विकटः कालिकामुखः ।
धूम्राक्षश्चाथ दण्डश्च सुपार्श्वश्च महाबलः ।। १२ ।।
संह्रादिः प्रघसश्चैव भासकर्णश्च राक्षसः ।
राका पुष्पोत्कटा चैव नैकसी च शुचिस्मिता ।। १३ ।।
कुम्भीनसी तथेत्येताः सुमालिप्रभवाः स्मृताः ।
मालिनो वसुदा नाम गन्धर्वी रूपशालिनी ।। १४ ।।
भार्याऽऽसीत् पद्मपत्राक्षी साक्षात् पद्मसमानना ।
सुमालिनोऽनुजस्तस्यां जनयामास यन्मुने ।। १५ ।।
अपत्यं कथ्यमानं तु निबोध मम भार्गव ।
अनिलश्च निलश्चैव भीमः सम्पातिरेव च ।।

यथाक्रम उन तीनों राक्षसेश्वरोंको दे दिया । हे श्याम, तब सुकेशके वे तीनों पुत्र विवाह करके अपनी-अपनी भार्याओंके साथ ऐसे आनन्द करने लगे जैसे—अप्सराओंके साथ देवगण आनन्द करते हैं । उनमें माल्यवान्‌की पत्नी माल्यवतीने जो सुन्दरियोंमें बड़ी सुन्दर थी जो सन्तानें उत्पन्न कीं । उनके नाम सुनें—बज्रमुष्टि, विरूपाक्ष, दुर्मुख, सुमुख, यज्ञकेतु, मत्तोन्मत्त तथा एक सुन्दर कन्याओंमें सुन्दर कन्या सुलोचना । हे श्याम, सुमालीकी भार्या पूर्ण चन्द्रमुखी थी । उसका नाम केतुमती था । जो उसे प्राणोंसे भी अधिक प्यारी थी । उस सुमाली नामक राक्षसने केतुमतीसे जो सन्तानें उत्पन्न कीं । उनके नाम क्रमसे सुनो—प्रहस्त, अकम्पन, विकट, कालिमुख, धूम्राक्ष, दण्ड, महाबली सुपार्श्व, संह्रादि, प्रघस, भासकर्ण राक्षस तथा राका, पुष्पोत्कटा, शुचिस्मिता नैकसी, कुम्भीनसी [नामक पुत्र एवं पुत्रियाँ] । पद्मपत्राक्षी; पद्मसमानना, रूपशालिनी, गन्धर्वी, वसुदा नामकी माली राक्षसकी भार्या थी । हे मुने, सुमालीके अनुज मालीने

एते विभीषणामात्याः प्रालेयास्ते निशाचराः ॥ १६ ॥
ततस्तु ते राक्षसपुङ्गवास्त्रयो
निशाचरैः पुत्रशतैश्च संवृताः ।
सुरान्महेन्द्रानृषिनागदानवान्
ववाधिरेऽतिप्रबलातिगर्विताः ॥ १७ ॥
जगद्ग्रसन्तोऽनलवद्दुरासदाः
रणप्रचण्डाः शतशः सदोद्यताः ।
वरप्रदानादभिवर्धिता भृशं
क्रतुक्रियाणां प्रशमं प्रचक्रिरे ॥ १८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

उस अपनी पत्नी वसुदासे जो सन्तानें उत्पन्न कीं उनके नाम, हे भार्गव, सुनो—अनिल, निल, भीम, सम्पाति ॥ ३-१६* ॥ तब उन तीनों सुकेश पुत्रोंने—अपने सैकड़ों पुत्रों और निशाचरोंके साथ सुर-महेन्द्र, ऋषि, नाग और दानवोंको अति गर्विष्ठ होकर पीड़ा देनी प्रारम्भ की ॥ १७ ॥ जगत्में वे दुष्ट अग्निके समान, सैकड़ों उपद्रवोंसे युक्त, रणमें प्रचण्ड, सदा यज्ञादि नाशमें उद्यत वरदानसे गर्विष्ठ होकर यज्ञ कर्त्ताओंकी शान्ति नष्ट करने लगे ॥ १८ ॥

* टिप्पणी—ये हिमतुल्य निशाचर विभीषणके अमात्य कहे जाते हैं ।

अथ विंशतितमोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

तैर्वाध्यर्यमाना देवाश्च मुनयश्च तपोधनः ।
भयार्ताः शरणं जग्मुदेवदेवं महेश्वरम् ॥ १ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भयाद्गद्गभाषिणः ।
सुकेशपुत्रैर्भगवन् वाधिताः स्म हताश्च ह ॥ २ ॥

उन तीनों राक्षसेन्द्रोंसे पीडित देवगण, मुनिगण, भयान्वित होकर महादेवजीकी शरणमें गये ॥ १ ॥ भूमिपर दण्डवत प्रणाम करके भयसे गदगद वाणीवाले उन देवतों तथा मुनियोंने कहा—हे भगवन् ! सुकेशपुत्र हमें ताडित करते हैं तथा हममेंसे कुछको

प्रजाध्यक्ष प्रजाः सर्वा बाध्यन्ते रिपुनाशन ।
शरण्येहा शरण्याश्च कृतास्ते राक्षसैर्विभो ॥ ३ ॥
स्वर्गात् प्रच्यवते शक्रः स्वर्गे क्रीडन्ति देववत् ।
अहं विष्णुरहं रुद्रो ब्रह्माऽहं देवराडहम् ॥ ४ ॥
अहं यमोऽहं वरुणश्चन्द्रोऽहं रविरप्यहम् ।
इति ते राक्षसा देव वरदानेन दर्पिताः ॥ ५ ॥
भाषन्ते समरे हर्षाद्ये च तेषां पुरःसराः ।
तन्नो देव भयार्तानाभयं दातुमर्हसि ॥ ६ ॥
अशिवं वपुरास्थाय जहि तान् देवकण्टकान् ।
इत्युक्तः स सुरैः सर्वैः कपर्दी नीललोहितः ॥ ७ ॥
सुकेशं प्रति सापेक्षः प्राह देवगणान् प्रभुः ।
अहं तान् न हनिष्यामि ममावध्या हि तेऽसुराः ॥ ८ ॥
किं तु मन्त्रं प्रवक्ष्यामि यो वै तान् निहनिष्यति ।
एवमेव समुद्योगं पुरस्कृत्य सुरर्षभाः ॥ ९ ॥
गच्छन्तु शरणं विष्णुं हनिष्यति स तान् प्रभुः ।
ततस्ते जयशब्देन नन्दित्वा वै महेश्वरम् ॥ १० ॥
विष्णोः समीपं ते जग्मुर्निशाचरभयार्दिताः ।
शङ्खचक्रधरं ते तु प्रणम्य बहुमानतः ॥ ११ ॥
ऊचुः सभ्रान्तवद्वाक्यं सुकेशतनयार्दिताः ।
सुकेशतनयैर्देव त्रिभिस्त्रेताग्निसन्निभैः ॥ १२ ॥

उन्होंने मार डाला है ॥ २ ॥ हे प्रजाध्यक्ष, हे रिपुनाशन, सब प्रजा राक्षसोंसे पीडित है। अतः हे प्रभो, आपके शरणमें हम आये हैं ॥ ३ ॥ स्वर्गसे इन्द्र भगा दिये गये हैं। वे राक्षस स्वर्गमें इन्द्रतुल्य खेलते हैं। वे राक्षस कहते हैं—हम ब्रह्मा, विष्णु महेश-सुरेश हैं। हम ही यम-वरुण-चन्द्र-सूर्य भी हैं। इस प्रकार वे सब राक्षस वरदानसे दर्पित होकर रणमें जो उनके समक्ष होता है। उससे हर्षसे कहते हैं। हे देव, भयार्त हमपर आप दया करने योग्य हैं ॥ ३-६ ॥ हे देव, आप भयंकर रूप धारणकर उन देव कण्टकोंको मार डालें। इस प्रकार कथन करनेवाले सब देवतोंसे महादेवजीने उन राक्षसोंकी ओर सापेक्ष होकर, कहा— हे देव, हम उन राक्षसोंको नहीं मारेंगे। हमने उन्हें अबध्य किया है। किन्तु जो उन्हें मार सकता है। उसे बतला देता हूँ। इस प्रकार यत्न करके इन्द्रको आगे करके विष्णुके समीप आप जायें। वे इन्हें मार डालेंगे। निशाचर पीडित वे लोग, महेश्वरकी वन्दना करके विष्णुके प्रति गये। शङ्ख चक्रधारी विष्णुको सम्मानसे प्रणाम करके, सुकेशपुत्रोंसे भयान्वित वे लोग विक्षिप्तके समान कहने लगे। हे देव, तीन अग्निके समान सुकेशके तीन पुत्रोंने वरदानसे दर्प करके, हम लोगोंपर आक्रमण करके, पीड़ा

आक्रम्य वरदानेन वश्या देवकृता वयम् ।
लङ्का नाम पुरी रम्या त्रिकूटशिखरस्थिता ॥ १३ ॥
तत्र स्थित्वा प्रवाधन्ते सर्वान् नः क्षणदाचराः ।
स त्वमस्मत्प्रियार्थं हि जहि तान् मधुसूदन ॥ १४ ॥
चक्रकृत्तास्यकमलान् निवेदय यमाय वै ।
भयेष्वभयदोऽस्माकं नान्योऽस्ति भवता समः ॥ १५ ॥
नुद तन्नो भयं देव नीहारमिव भास्करः ।
इत्येवं तैः सुरैरुक्तो देवदेवो जनार्दनः ॥ १६ ॥
अभयं भयभीतानां दत्वा देवानुवाच ह ।
सुकेशं राक्षसं जाने ईशानवरदर्पितम् ॥ १७ ॥
त्रीस्तँस्य तनयाञ्जाने येषां ज्येष्ठः स माल्यवान् ।
तानहं समतिक्रान्तमर्यादान् राक्षसाधमान् ॥ १८ ॥
सूदयिष्यामि संग्रामे सुरा भवत विज्वराः ।
इत्युक्त्वा ते सुराः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १९ ॥
यथावासं ययुर्हृष्टाः प्रशंसन्तो जनार्दनम् ।
विबुधानां समुद्योगं माल्यवान् स निशाचरः ॥ २० ॥
श्रुत्वा तौ भ्रातराविष्टाविदं वचनमब्रवीत् ।
अमरा मुनयश्चैव समेत्य किल शङ्करम् ॥ २१ ॥
अस्मद्वधं परोप्सन्त इदमूचुस्त्रिलोचनम् ।
सुकेशतनया देववरदानवरोद्धताः ॥ २२ ॥

देना शुरू किया है । वे लोग त्रिकूट पर स्थिति लङ्कामें रहते हैं तथा हम लोगोंको पीड़ा देते हैं । अतः हे प्रभो, मधुसूदन, आप उनका नाश करें ॥ १३-१४ ॥ हे चक्रधारिन्, आप अपने मुखकमलसे यमराजको निवेदित कर दें । आपके समान हम लोगोंका भयमें अभयदानदाता अन्य कोई नहीं है ॥ १५ ॥ हे देव, आप हमारा भय इसी प्रकार दूर करें, जैसे सूर्य बरफको (ठण्डक) को दूर कर देता है । इस प्रकार देवोंसे प्रार्थित विष्णुजीने—॥ १६ ॥ भयभीत देवोंको अभयदान देकर, कहा—शङ्करसे वरदान प्राप्त सुकेश नामके राक्षसको जानता हूँ । उसके तीन पुत्रोंको भी जानता हूँ । जिनमें सबसे बड़ा माल्यवान् है । हे देव, संग्राममें—उन अतिक्रांत मर्यादावाले अधम राक्षसोंको मार डालूँगा । हे सुरो, आप भयरहित-कष्टरहित हों । इस प्रकार विष्णु भगवान्के द्वारा आश्वस्त सब देवता—"विष्णु भगवान्की जय" कहकर प्रसन्न होकर अपने आवासको चले गये । देवताओंके इस प्रयत्नको सुनकर माल्यवान् राक्षसने और उसके दोनों भाइयोंने कहा—देवगण मुनिगणने शंकरके समीप जाकर हम लोगोंके वधार्थ कहा—हे प्रभो, आपसे वरदानित सुकेशपुत्र उद्धत होकर, पदे-पदे हमें पीड़ा देते हैं । राक्षसोंसे अभिभूत

वाधन्तेऽस्मान् समुद्युक्ता घोररूपाः पदे पदे ।
राक्षसैरभूभितास्ते न शक्ताः स्म उमापते ॥ २३ ॥
स्वेषु धर्मेषु संस्थातुं भयात् तेषां दुरात्मनाम् ।
तदस्माकं हितार्थाय जहि तांस्तु त्रिलोचन ॥ २४ ॥
राश्रसान् हूँकृतेनैव दह प्रदहतां वर ।
इत्येवं त्रिदशैरुक्तो निशम्यान्धकसूदनः ॥ २५ ॥
शिरः करं च धुन्वान इदं वचनमब्रवीत् ।
अवध्या मम ते देवाः सुकेशतनया रणे ॥ २६ ॥
मन्त्रं तु वः प्रवक्ष्यामि यस्तान् वै निहनिष्यति ।
योऽसौ चक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ॥ २७ ॥
हरिर्नारायणः श्रीमान् शरणं तं प्रपद्यत ।
हरादवाप्य ते मन्त्रं कामारिमभिवाद्य च ॥ २८ ॥
नारायणालयं प्राप्य तस्मै सर्वं न्यवेदयन् ।
ततो नारायणेनोक्ता देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥ २९ ॥
सुरारींस्तान् हनिष्यामि देवा भवत निर्भयाः ।
देवानां भयभीतानां हरिणा राक्षसर्षभौ ॥ ३० ॥
प्रतिज्ञातो वधोऽस्माकं चिन्त्यतां यदिह क्षमम् ।
हिरण्यकशिपोर्मृत्युरन्येषां च सुरद्विषाम् ॥ ३१ ॥
नमुचिः कालनेमिश्च संह्लादो वीरसत्तमः ।
राधेयो बहुमायी च लोकपालोऽथ धार्मिकः ॥ ३२ ॥

हम लोग, हे उमापते, अपने धर्मोमें स्थिर नहीं रह सकते हैं ॥ १७-२३ ॥ अपने धर्मोंमें स्थिर रहना, इनके भयसे बड़ा कठिन हो रहा है। अतः हे त्रिलोचन, हमारे हितार्थ उन दुष्टोंको आप मार डालें। दाहकोंमें श्रेष्ठ शंकरजी, आप हुंकारमात्रसे इन राक्षसोंको जला दीजिये। इस प्रकार देवोंकी वार्ता सुनकर महादेवजी अपना सिर, हाथ पीटते हुए यह वचन बोले—हे देवों, रणमें वे तीनों राक्षस मेरे द्वारा अवध्य हैं ॥ २४-२६ ॥ जो उन्हें मार सकता है उस व्यक्तिको मैं बता देता हूँ। वह व्यक्ति चक्रगदा हाथमें रखता है पीताम्बर धारी जनार्दन है। हे देवो, आप उन्हीं नारायण, हरिकी शरणमें जायें। महादेवजीसे मन्त्रणा प्राप्तकर वे लोग उनकी वन्दनाकर विष्णुजीके धाममें गये और सारी बातें वहाँ कह दीं। तब नारायणने इन्द्रप्रमुख० देवोंसे कहा—हे देवो, निर्भय हो जाओ, उन सुरारियोंको (दानवों) को मैं मारूँगा। विष्णुने भयभीत देवोंके समक्ष हमारे वधकी प्रतिज्ञा की है। अतः दोनों श्रेष्ठ राक्षसो, आप लोग इस विषयमें विचार करें। सुरद्विष हिरण्यकशिपुका वध तथा अन्य देवद्विष् राक्षसोंकी मृत्यु इन्हीं विष्णुके द्वारा हुई हैं। नमुचि, कालनेमि, धार्मिक राधेय, बहुमायी लोकपाल, शुम्भ निशुम्भ

यमलार्जुनौ च हार्दिक्यः शुम्भश्चैव निशुम्भकः ।
असुरा दानवाश्चैव सत्त्ववन्तो महावलाः ॥ ३३ ॥
सव समरमासाद्य श्रूयन्ते च पराजिताः ।
सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं सर्वमायाविदस्तथा ॥ ३४ ॥
नारायणेन निहता शतशोऽथ सहस्रशः ।
एतज्ज्ञात्वा तु सर्वेषां क्षेमं कर्तुमिहार्हथ ॥ ३५ ॥
विष्णोर्दोषस्तु नास्त्यत्र कारणे राक्षसेश्वरौ ।
देवानामेव दोषेण विष्णोः प्रचलितं मनः ॥ ३६ ॥
दुःखं नाराणं जेतुं यो नो हन्तुमिहेच्छति ।
ततः सुमाली माली च श्रुत्वा माल्यवतो वचः ॥ ३७ ॥
ऊचतुर्भ्रातरं ज्येष्ठमश्विनाविव वासवम् ।
स्वाधीनं दत्तमिष्टं च ऐश्वर्यं परिपालितम् ॥ ३८ ॥
आयुर्निरामयं प्राप्तं धर्मश्चापि कुलोचितः ।
देवसागरमक्षोभ्यं शस्त्रैः समवगाह्य नः ॥ ३९ ॥
जिता द्विषो ह्यप्रतिमा न नो मृत्युभयं कृतम् ।
नारायणश्च रुद्रश्च शक्रश्चापि यमस्तथा ॥ ४० ॥
अस्माकं प्रमुखे स्थातुं सर्वे बिभ्यन्ति सर्वदा ।
विष्णोर्दोषस्तु नास्त्यत्र कारणे राक्षसेश्वराः ॥ ४१ ॥
देवानामेव दोषेण विष्णोः प्रचलितं मनः ।
तस्मादद्यैव सहिताः सर्वसैन्यसमावृताः ॥ ४२ ॥

बलवान् असुर दानव सब समरमें आकर इन विष्णुके द्वारा मारे गये हैं—ऐसा सुना जाता है । यमलार्जुनका उद्धार भी इन्हींके द्वारा हुआ है । सर्वमायाविदोंको सैकड़ों-हजारों टुकड़ोंमें हनन भी इन्हीं विष्णुभगवान्ने किया है । यह बात ज्ञात करके, आप, सब राक्षसोंका, रक्षण करनेके लिए विचार कर लें ॥ २७-३५ ॥ हे राक्षसेश्वरो, इसमें विष्णुजीका दोष नहीं है । देवोंके दोषोंसे विष्णुजीका मन चञ्चल हो गया है । जो नारायण हमें मारना चाहता है उसे जीतना कठिन है । तब माल्यवान्के वचन श्रवण कर अश्विनीकुमारके समान माली और सुमाली दोनों भाई इंद्रतुल्य बड़े भाई माल्यवान्से बोले । भगवान्ने हमें स्वाधीनता दी, ऐश्वर्य दिया, कुलोचित धर्म दिया । निरामय आयु दी । इन्हींके बल पर हमने अक्षोभ्य समुद्रको शस्त्रोंसे विलोडित किया । बड़े अप्रतिम शत्रु जीते । हमे मृत्युभय नहीं किया गया । स्वयं नारायण, रुद्र, इंद्र; यम हमारे सामने नहीं ठहरते-घबड़ाते हैं । अतः हे राक्षसेश्वरो इसमें विष्णुका दोष नहीं । देवताओंके कारण विष्णुका मन चञ्चल हो गया है । अतः आज ही सर्वसैन्य सहित देवोंको मार

देवानेव जिघांसामो येभ्यो दोषः समुत्थितः ।
इति ते श्याम संमन्त्र्य सर्वोद्योगेन राक्षसाः ॥ ४३ ॥
युद्धाय निर्ययुः सर्वे महाकाया महाबलाः ।
स्यन्दनैर्वारणैश्चैव हयैश्च करिसन्निभैः ॥ ४४ ॥
खरैर्गोभिरथोष्ट्रैश्च शिशुमारैर्भुजङ्गमैः ।
मकरैः कच्छपैर्मीनैर्विहङ्गैर्गरुडोपमैः ॥ ४५ ॥
सिंहैर्व्याघ्रैर्वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
त्यक्त्वा लङ्कां गताः सर्वे राक्षसा बलगर्विताः ॥ ४६ ॥
प्रयाता देवलोकाय निस्त्रासा देवशत्रवः ।
लङ्कायाः पर्ययं दृष्ट्वा या न लङ्कालयान्यथ ॥ ४७ ॥
भूतानि विमनस्कानि भयदर्शीनि सर्वशः ।
प्रयाता राक्षसास्तूर्णं देवलोकं प्रयत्नतः ॥ ४८ ॥
राक्षसा देवलोकेन दैवतान्युपचक्रमुः ।
भौमाश्चैवान्तरिक्षाश्च कालाज्ञप्ता भयावहाः ॥ ४९ ॥
उत्पाता राक्षसेन्द्राणामभावाय समुत्थिताः ।
अस्थीनि मेघा ववृषुरुष्णशोणितमेव च ॥ ५० ॥
वेलां समुद्रश्चोत्क्रान्तश्चेलुश्चाप्यथ भूधराः ।
अट्टहासा विमुञ्चन्तो घननादसमस्वनाः ॥ ५१ ॥
वासन्त्युच्चैः शिवास्तत्र दारुणं घोरदर्शनाः ।
संपतन्त्यथ भूतानि दृश्यन्ते च यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥

डाला जाय—जिनसे यह दोष उत्पन्न हुआ है । हे श्याम, इस प्रकार विचारणा करके सर्व उद्योगसहित महान् शरीरधारी महाबलशाली सब राक्षस युद्धके लिये चल पड़े। रथ, हाथी, हाथियोंके समान घोड़े, गदहे, साँड़, ऊँट, शिशुमार, सर्प, मगर, कछुए, मत्स्य, गरुड़के समाम पक्षी, सिंह, व्याघ्र, शूकर, सृमर, चमर आदि जन्तुओंके साथ वे चल पड़े। बलगर्वित राक्षस लंका त्यागकर निर्भय होकर देवलोकको चले। वे लोग उस समय वहाँ तथा बाहर बड़े भयंकर दिखाई देते थे। वे भयंकर राक्षस शीघ्र ही देवलोक पहुँच गये। फिर राक्षस देवलोकमें देवताओंके समीप पहुँच गये। पृथ्वीपर अन्तरिक्षमें कालसे आज्ञप्त भयावह उत्पात राक्षसोंके विनाशार्थ होने लगे ॥ ३६-४९ ॥ राक्षसोंके विनाशार्थ निम्न उत्पात शुरू हुए। गरम रुधिर युक्त हड्डियाँ मेघोंने बरसायीं। समुद्र वेला (तट) से दूर उछलने लगे। मेघगर्जनके समान अट्टहास करते हुए पर्वत हिलने लगे। भयंकर दर्शनवाली शृगालियाँ दीखने लगी गिरती-पड़ती दशामें लोग दिखायी देने लगे। प्रज्वलित अङ्गारमुख सहित गीध दीखने लगे। राक्षसोंके ऊपर कालके

गृध्रचक्रं महच्चात्र प्रज्वलाङ्गारिभिर्मुखैः ।
रक्षोगणस्योपरिष्टात् परिभ्रमति कालवत् ॥ ५३ ॥
कपोता रक्तपादाश्च शारिका विद्रुता ययुः ।
हाहा वासन्ति तत्रैव विडाला द्विपपादिकाः ॥ ५४ ॥
उत्पातांस्ताननादृत्य राक्षसा बलगर्विताः ।
ययुरेव विदित्वा तु मृत्युपाशवशं गताः ॥ ५५ ॥
माल्यवाँश्च सुमाली च माली च सुमहाबलः ।
पुरःसरा राक्षसानां ज्वलिता इव पावकाः ॥ ५६ ॥
माल्यवन्तं च ते सर्वे माल्यवन्तमिवाचलम् ।
निशाचराश्चाश्रयन्ति धातारमिव देवताः ॥ ५७ ॥
तद्बलं राक्षसेन्द्राणां महाभ्रमिव नादितम् ।
जयेप्सया देवलोकं ययौ मालिवशे स्थितम् ॥ ५८ ॥
राक्षसनां समुद्योगं तं तु नारायणः प्रभुः ।
देवदूतादुपश्रुत्य चक्रे युद्धे तदा मनः ॥ ५९ ॥
ससर्जायुधतूणीरौ वैनतेयोपरिस्थितः ।
राक्षसानामभावाय ययौ तूर्णतरं प्रभुः ॥ ६० ॥
सुपर्णपृष्ठे प्रबभौ श्यामः पीताम्बरो हरिः ।
काञ्चनस्य गिरेः शृङ्गे सतडित्तोयदो यथा ॥ ६१ ॥
स सिद्धदेवर्षिमहोरगेश्वरै-
गन्धर्वयक्षैरुपगीयमानः ।
समाससादामरशत्रुसैन्यं
गदासिशार्ङ्गायुधचक्रपाणिः ॥ ६२ ॥

समान घूमते हुए वे दिखायी देते थे। कबूतर लाल-लाल पैरोंसे शारिका दौड़ने लगी! बिल्ली-द्विपादिका हाहाकार करके रोने लगीं। बलगर्वित राक्षसोंने इन अपशकुनोंका अनादर कर दिया और वे आगे बढ़े। यद्यपि वे जानते थे कि हम सब मृत्युपाशमें बद्ध है ॥ ५०-५५ ॥ माल्यवान् सुमाली और माली राक्षसों के आगे ज्वलित अग्निके समान दीखते थे ॥ ५६ ॥ वे निशाचरगण दैत्यराज माल्यवान्‌को माल्यवान् पर्वत तुल्य तथा देवतोंमें ब्रह्माके समान समझ रहे थे। राक्षसेन्द्रोंकी वह सेना बड़े मेघके समान गरजी और माली दैत्येशके अधीन होकर जयकी इच्छासे चली। ॥ ५६-५८ ॥ विष्णु नारायणने दैत्योंके आगमनका समाचार देवतूतसे सुना तथा युद्धके लिये चित्त लगाया ॥ ५९ ॥ विष्णुभगवान् गरुड़पर आरूढ़ होकर आयुध तूणीर लेकर शीघ्र दैत्यनाशार्थ चले ॥ ६० ॥ जैसे बिजलीके साथ मेघ काञ्चन पर्वत पर शोभित होता है वैसे ही पीताम्बर धारण किये हरि गरुड़पर सवार मालूम पड़ते थे ॥ ६१ ॥ सिद्ध देव, गन्धर्व, सर्पेश्वर, देवर्षि,

सुपर्णपक्षानिलधूतपत्रं
भ्रमत्पताकं परिकीर्णशस्त्रम् ।
चचार तद्राक्षसराजसैन्यं
चलोपलं नीलमिवाचलाग्रम् ॥ ६३ ॥
ततश्च ते शोणितमांसरूषितै-
र्युगान्तवैश्वानरतुल्यविग्रहाः ।
निशाचराः संपरिवार्य माधवं
वरायुधैर्निर्विभिदुः सहस्रशः ॥ ६४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

यक्षोंसे पूजित-स्तवित गदा, तलवार, शार्ङ्गी धनुष, चक्र धारण किये हुए वे विष्णु भगवान् अमरोंकी शत्रुसेनापर (आक्रमणार्थ) आये ॥ ६२ ॥ हरिने गरुड़के पंखोंसे कम्पित पत्रवाली, चञ्चल पताकावाली, चारों तरफ गिरे शस्त्रवाली, चञ्चल नील पत्थरोंसे युक्त नील पर्वतके समान शोभावाली, उस राक्षससेनाको, बना दिया ॥ ६३ ॥ तब युगान्तकालमें उत्पन्न अग्नितुल्य शरीरवाले राक्षसोंने माधवको घेरकर शोणित (रक्त) मांससे खचित श्रेष्ठ हजारों शस्त्रोंसे मारना शुरू किया ॥ ६४ ॥

●

अथ एकविंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

नारायणगिरिं ते तु गर्जन्तो राक्षसाम्बुदाः ।
बाणवर्षेण सिषिचुर्वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ॥ १ ॥
श्यामावदातो विष्णुश्च नीलैर्नक्तञ्चरोत्तमैः ।
रेजेऽञ्जनगिरिः श्रीमान् वर्षद्भिरिव तोयदैः ॥ २ ॥

मेघरूपी राक्षसोंने पर्वतरूपी नारायणको बाणवर्षासे ऐसे सींचा । जैसे मेघ वर्षासे पहाड़ सींचते हैं ॥ १ ॥ श्यामशुभ्र विष्णु नीले राक्षसोंके साथ ऐसे दीखे । जैसे अञ्जन-गिरिपर बरसता हुआ मेघ दीखता है । पर्वतपर मच्छड़के समान, खेतमें फतिंगेके समान,

शलभा इव केदारं मशका इव पर्वतम् ।
हरिं विशन्ति स्म शरा लोकास्तमिव पर्यये ॥ ३ ॥
स्यन्दनैः स्यन्दनगता गजैर्गजधुरं गताः ।
अश्वारोहाः सदश्वैश्च पदाताश्च पदातिभिः ॥ ४ ॥
राक्षसेन्द्रा गिरिनिभाः शरशक्त्यृष्टितोमरै ।
निरुच्छ्वासं हरिं चक्रुः प्राणायामा इव द्विजम् ॥ ५ ॥
निशाचरैर्हन्यमानो मीनैरिव महातिमिः ।
शार्ङ्गमात्रस्य गात्राणि राक्षसानां महाहवे ॥ ६ ॥
शरैः कर्णायतोत्सृष्टैर्वज्रकल्पैर्महाजवैः ।
चिच्छेद तिलशो विष्णुः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ७ ॥
विद्राव्य शरवर्षं तद्वर्षं वायुरिवोत्थितम् ।
पाञ्चजन्यं महाशङ्खं दध्मौ स पुरुषोत्तमः ॥ ८ ॥
सोऽम्बुजो हरिणा ध्मातः सर्वप्राणेन शङ्खराट् ।
ननाद भीमनिर्ह्रादो युगान्तजलदो यथा ॥ ९ ॥
शङ्खराजरवः सोऽथ त्रासयामास राक्षसान् ।
मृगराजरवोऽरण्ये समदानिव कुञ्जरान् ॥ १० ॥
न शेकुरश्वाः संस्थातुं विमदाः करिणोऽभवन् ।
स्यन्दनेभ्योऽपतन् सद्यः शङ्खशब्देन मोहिताः ॥ ११ ॥

बाण हरिके शरीरमें प्रविष्ट होते थे—प्रलयकालमें लोक जैसे समाप्त होते हैं ॥ २-३ ॥ रथसे रथ, गजसे गज, घुड़सवार घुड़सवारोंसे, पैदलसे पैदल लड़ने लगे। पर्वततुल्य राक्षसोंने बाण-बर्छी-ऋष्टि-तोमर शस्त्रोंसे हरिको, प्राणायाम करनेवाले ब्राह्मणके समान, निरुच्छ्वास कर दिया। मछलीरूपी निशाचरोंसे ताडित होकर हरि बड़े मगर (घड़ियाल) के समान थे। उस विशाल युद्धमें राक्षसोंके शरीर हरिके लिये केवल शार्ङ्ग ताड़न करने योग्य थे—अन्य शस्त्रोंकी वहाँ आवश्यकता ही न थी, राक्षसोंकी विशालसेना हरिके लिये तृणवत् थी ॥ ४-६ ॥ हरिने कानतक खींचे वज्रतुल्य, महावेगशाली बाणोंसे राक्षसोंको युद्धमें सैकड़ों-हजारों टुकड़ोंमें ही नहीं तिल-तिलके समान बना दिया ॥ ७ ॥ पवनके समान, राक्षसोंके द्वारा की गई बाणवर्षा हरिने नष्ट करके उन पुरुषोत्तमने पाञ्चजन्य नामक महाशंख बजाया। सर्वप्राण हरिके द्वारा बजायी शंखराजकी ध्वनि इस प्रकार ज्ञात हुई जैसे प्रलयकालिक सजल मेघकी ध्वनि हो। शंखराजकी ध्वनिने इस रीतिसे त्रास दिया जैसे मृगराजकी ध्वनि मदशाली गजोंको देती है ॥७-१०॥ शंखध्वनिसे मोहित अश्व खड़े न रह सके, हाथी विमद हो गये। रथसे लोग गिरने लगे ॥ ११ ॥ शार्ङ्गधनुषसे निःसृत वज्रमुखी बाण उन राक्षसोंको नष्ट करके पातालमें

शार्ङ्गचापविनिर्मुक्ता वज्रतुल्याननाः शराः ।
विदार्य तानि रक्षांसि सुपुङ्खा विविशुः क्षितिम् ॥ १२ ॥
भिद्यमानाः शरैश्चान्यैर्नारायणधनुश्च्युतैः ।
निपेतू राक्षसा भीताः शैला वज्रहता इव ॥ १३ ॥
गण्डानि वरनागानां विष्णुबाणक्षतानि च ।
असृक् क्षरन्ति धाराभिः स्वर्णराशिमिवाचलाः ॥ १४ ॥
शङ्खराजवरश्चापि शार्ङ्गचापवरोऽपि च ।
ग्रसन्ते वैष्णवा बाणास्तेषां ध्वजधनूंषि च ॥ १५ ॥
तेषां वरान् शरानूरून् शिरोध्वजधनूंषि च ।
रथान् पताकांस्तूणीरांश्चिच्छेद स हरिः शरैः ॥ १६ ॥
सूर्यादिव मयूखा द्याः सागरादिव चोर्मयः ।
पातालादिव नागेन्द्रा वायोर्घा इव चाम्बुदात् ॥ १७ ॥
तथा गाढविनिर्मुक्ता शार्ङ्गान्नारायणेरिताः ।
निर्धावन्ति शरास्तूर्णं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥
शरभेण यथा सिंहः सिंहेन द्विरदो यथा ।
द्विरदेन यथा व्याघ्राः शार्दूलेनेव द्वीपिनः ॥ १९ ॥
द्वीपिना च यथा श्वानः शुना मार्जारका यथा ।
मार्जारेण यथा सर्पा भुजङ्गैर्मूषिका यथा ॥ २० ॥
तथा ते राक्षसाः सर्वे विणुना प्रभविष्णुना ।
द्राविता विदिशश्चैव शायिताश्च महीतले ॥ २१ ॥

प्रविष्ट हो गये ॥ १२ ॥ नारायणके धनुषसे निकले अन्य बाणोंसे विद्ध राक्षस डरकर गिर पड़े । जैसे वज्रसे आहत पर्वत गिर जाता है ॥ १३ ॥ विष्णु बाणसे आहत श्रेष्ठ गजोंके गण्डस्थलोंसे निकली रुधिरधारा ऐसी प्रतीत हुई—जैसे पर्वतोंसे गेरूकी धारा निकली हो ॥ १४ ॥ शंखराज श्रेष्ठ और शार्ङ्गचापश्रेष्ठ तथा वैष्णव बाण उन राक्षसोंके ध्वज-पताकाओंको ग्रसने लगे ॥ १५ ॥ उन हरिने बाणोंसे उनके उत्तम शरोंको, जांघोंको, शिरोंको, ध्वज-धनुषोंको रथ-पताकाओंको और तूणीरोंको काट डाला ॥१६॥ किरणें सूर्यके समान तेजवाली, तरंगे समुद्रके समान, नागेन्द्र पातालके समान, वायुके झोंके मेघोंके समान—उस युद्धमें राक्षसोंके लिए विष्णुभक्तिसे हो गये ॥ १७ ॥ नारायण प्रेरित कठिन शार्ङ्गधनुषसे निःसृत बाण शीघ्र, राक्षसोंको सैकड़ों हजारों टुकड़ोंमें करके दौड़ने लगे ॥ १८ ॥ जैसे—शरभसे सिंह, सिंहसे हाथी, हाथीसे व्याघ्र, शार्दूलसे भेड़िया, भेड़ियेसे कुत्ता, कुत्तेसे बिल्ली, बिल्लीसे सर्प, सर्पसे मूसा भागता है । वैसे ही वे सब राक्षस विष्णुसे डरकर दिशाओंमें भाग गये और पृथ्वीपर सुला

राक्षसानां सहस्राणि निहत्य मधुसूदनः।
वारिजं ध्मापयामास खे वायुरिव तोयदम् ॥ २२ ॥
नारायणरणध्वस्तं शङ्खनादं प्रविह्वलम्।
ययौ तु लङ्काभिमुखं प्रभग्नं राक्षसं बलम् ॥ २३ ॥
प्रभग्ने राक्षसबले नारायणशराहते।
सुमाली शरजालेन आजघान रणे हरिम् ॥ २४ ॥
स तु तं छादयामास नीहार इव भास्करम्।
राक्षसाः सत्वसंपन्नाः पुनर्धैर्यं समादधुः ॥ २५ ॥
तदैव तस्य तत्क्रोधाद्राक्षसो बलदर्पितः।
महानादं प्रकुर्वाणो राक्षसान् जीवयन्निव ॥ २६ ॥
उत्क्षिप्य स्वर्णाभरणं करं करमिव द्विपः।
ननाद राक्षसो हर्षात् सतडित्तोयदो यथा ॥ २७ ॥
अथ तानर्दतः सङ्ख्ये शिरो ज्वलितकुण्डलम्।
चिच्छेद यन्तुस्तुरगाः प्रोद्भ्रन्तास्तस्य रक्षसः ॥ २८ ॥
अश्वैरुद्भ्राम्यः तत्त्रस्तैः सुमाली च निशाचरः।
इन्द्रियार्थैः परिभ्रान्तैर्वृत्तिहीनः पुमानिव ॥ २९ ॥
स तु तान् सन्नियम्याश्वानिन्द्रियार्थान् यथा यतिः।
स्थितोऽभूदचलो भूत्वा स्थापयित्वा गतो रथम् ॥ ३० ॥

दिये गये ॥ १९-२१ ॥ मधुसूदनने सहस्रों राक्षसोंको मार डाला। वारिज (शंख) को बजाया। जैसे—आकाशमें पवन मेघोंको ध्वनित करता है ॥ २२ ॥ नारायणसे ध्वस्त, शंखनादसे परिद्रुत ध्वनि लंकाके अभिमुख गयी तथा राक्षसोंका बल नष्ट हो गया ॥२३॥ नारायणके बाणसे राक्षसबल ताडित होकर शिथिल हो गया उसी समय रणमें सुमालीने शर जालसे विष्णुको आहत कर दिया ॥ २४ ॥ सुमालीने विष्णुको बाणोंसे इस प्रकार ढाक दिया। जैसे—सूर्यको बरफ (कोहरा) ढाँक लेता है। राक्षसगण फिर धैर्यवान् हो गये ॥ २५ ॥ उसी समय उसके उस क्रोधसे बलदर्पित राक्षसने महान् शब्द किया मानों, वह राक्षसोंको जगा रहा हो ॥ २६ ॥ तब हाथीके समान सूंड उठानेवाले उस राक्षसने अपने स्वर्णके आभूषणधारी हाथको उठाकर हर्षसे शब्द किया। जैसे—बिजली सहित बादल शब्द करता है ॥ २७ ॥ ततः युद्धमें विपक्षियोंको पीडित करते हुए उस राक्षसने ज्वलिकुण्डलवाले शिरको काट दिया। तब उस राक्षसके घोड़े प्रोद्भ्रान्त हो गये। घोड़ोंके भ्रमित होनेसे सम्भ्रान्त सुमाली निशाचर ऐसे त्रस्त हो गया। जैसे परि-भ्रान्त इन्द्रियोंके लिये वृत्तिहीन मनुष्य हो जाता है। जैसे यति इन्द्रियोंको रोक देता है वैसे उसने घोड़ोंको नियमित कर दिया और अचल स्थिर होकर—रथको स्थापित

ततो विष्णुं महाबाहु प्रतपन्तं रणाजिरे ।
माली ह्यभ्यद्रवद्वीरः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ ३१ ॥
मालीचापच्युता बाणाः कार्त्तस्वरविभूषिताः ।
विविशुर्हरिमासाद्य क्रौञ्चं पत्ररथा इव ॥ ३२ ॥
अर्दमानः शरैः सोऽथ मालित्यक्तैः सहस्रशः ।
न चुक्षुभे रणे विष्णुर्जितेन्द्रिय इवार्धिभिः ॥ ३३ ॥
ततो मौर्वीस्वनं कृत्वा भगवान् भूतभावनः ।
मालिनं प्रति बाणौघान् ससर्जासिगदाधरः ॥ ३४ ॥
ते मालिदेहमासाद्य वज्रविद्युत्प्रभाः शराः ।
बहुरक्तं पपुस्तत्र नागा इव पुराऽमृतम् ॥ ३५ ॥
मालिनं विमुखं कृत्वा शङ्खचक्रगदाधरः ।
शितैः शरैर्ध्वजं चापं वाजिनश्चाप्यपातयत् ॥ ३६ ॥
गदामादाय विरथस्ततो माली निशाचरः ।
आपुप्लुवे गदापाणिर्गिर्यग्रादिव केशरी ॥ ३७ ॥
स तदा गरुडं सङ्ख्य ईशानं वै यथाऽन्धकः ।
जघान शिरसि क्रुद्धो वज्रेणेव इवारिहा ॥ ३८ ॥
गदयाभिहतस्तेन मालिना गरुडस्तदा ।
रणात् पराङ्मुखं देवं कृतवान् वेदनातुरः ॥ ३९ ॥

(खड़ा) करके चला गया। तब रणांगनमें तपनेवाले महाबाहु विष्णुके प्रति माली धनुषपर बाण चढ़ाकर सामने आया ॥ ३१ ॥ सुवर्णसे भूषित, माली राक्षससे प्रेषित बाण हरिको प्राप्त कर। ऐसे प्रविष्ट हुए—जैसे क्रौञ्चपर्वतमें हंस प्रविष्ट होते हैं ॥३२॥ माली राक्षसके द्वारा प्रेषित बाणोंसे पीडित हरि रणमें उसी प्रकार नहीं विचलित हुए। जैसे—उपद्रवोंसे जितेन्द्रिय नहीं विचलित होते हैं॥ ३३ ॥ तब भूतभावन तलवार गदाधारी विष्णुने धनुषपर डोरी चढ़ाकर बाणोंको मालीके ऊपर छोड़ा ॥३४॥ वज्रप्रभावाले बाणोंने मालीकी देहमें घुसकर बहुत रक्त पिया। जैसे नाग (सर्प) गणोंने पहले अमृत पिया था ॥ ३५ ॥ शंखचक्र गदाधारीने मालीको विमुख करके तेज बाणोंसे उसकी ध्वजा-धनुष काट दिया तथा घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ ३६ ॥ रथ रहित निशाचर माली गदा लेकर दौड़ा। तब विष्णु भी (गदापाणि) पर्वतसे आगे सिंहके समान होकर दहाड़े। जैसे—युद्धमें अन्धकासुर शिवके ऊपर झपटा था वैसे ही वह भी युद्धमें गरुड़पर दौड़ा। और शत्रुघातीके समान मालीने वज्रसे क्रोधके साथ उसके शिरपर गदामारी ॥ ३७-३८ ॥ मालीकी गदासे ताडित गरुड़ने वेदनाशाली होकर विष्णुको रणसे पराङ्मुख किया ॥ ३९ ॥ गरुड़ पक्षीके द्वारा विष्णुके पराङ्मुखी

पराङ्मुखीकृते देव गरुडेन पतत्रिणा ।
बभूव रक्षसां नादः सिंहानामिव गर्जताम् ॥ ४० ॥
रक्षसा गर्जतां श्रुत्वा नादं हरिहयानुजः ।
पराङ्मुखोऽप्युत्ससर्ज चक्रं मालिजिघांसया ॥ ४१ ॥
तत् सूर्यमण्डलाभासं प्रभया भासयन् नभः ।
कालचक्रनिभं चक्रं मालिशीर्षमपातयत् ॥ ४२ ॥
तच्छिरो राक्षसेन्द्रस्य चक्रकृत्तं विभीषणम् ।
पपात रुधिरोग्दारि पुरा राहुशिरो यथा ॥ ४३ ॥
ततो देवः सुसंहृष्टैः सर्वप्राणसमीरितः ।
सिंहानादस्ततो मुक्तः साधु देवेति वादिभिः ॥ ४४ ॥
मालिनं निहतं दृष्ट्वा सुमाली माल्यवानपि ।
सबलौ शोकसन्तप्तौ लङ्कां प्रति विधावितौ ॥ ४५ ॥
गरुडस्तु समाश्वस्तः संनिवृत्य यथामनः ।
राक्षसान् पातयामास पक्षपातेन कोपितः ॥ ४६ ॥
नारायणोऽप्याशु वरेषुभिः प्रभु-
विंदारयामास धनुःप्रसूतैः ।
नक्तञ्चरान् मुक्तविधूतकेशान्
विश्वस्तचापासिनिवृत्तबाणान् ॥ ४७ ॥
छिन्नातपत्रं पतमानशस्त्रं
शरैः समन्तादतिभिन्नदेहम् ।
विनिर्गतास्त्रं भयलोलनेत्रं
बलं तदुन्मत्तनिभे बभूव ॥ ४८ ॥

होनेपर, सिंहोंके सदृश राक्षसोंका नाद (शब्द) हुआ ॥ ४० ॥ राक्षसोंकें गर्जनको श्रवणकर, इन्द्रके अनुज हरिने पराङ्मुख होकर भी, मालीको मारनेकी इच्छासे, चक्रको छोड़ा ॥ ४१ ॥ कालचक्रके समान, सूर्यमण्डलसा प्रकाशमान, चक्र जब हरिने छोड़ा तब उस चक्रने आकाशको दीप्त करते हुए मालीके शिरको काट दिया ॥ ४१-४२ ॥ भयंकर, रुधिरको बहानेवाला, चक्रसे कटा हुआ राक्षसेन्द्रका वह शिर पृथ्वीपर ऐसे गिरा । जैसे चक्रसे कटा राहुका शिर गिरा था ॥ ४३ ॥ तब प्रफुल्ल, साधु-साधु कहनेवाले देवोंने सर्वप्राण समीरित सिंहनाद किया ॥ ४४ ॥ मालीको मरा हुआ देखकर सुमाली और माल्यवान् दोनों ही शोक सन्तप्त एवं बलिष्ठ लंकाकी ओर भागे ॥ ४५ ॥ गरुड़ भी आश्वस्त होकर लौट आये अपने पंखोंसे क्रोधके साथ राक्षसोंको मारने लगे ॥ ४६ ॥ नारायणने धनुषते निकले, उत्तम बाणोंसे, खुले हुए बालवाले, विध्वस्त चाप तलवार बाणवाले राक्षसोंको शीघ्र मार डाला ॥ ४७ ॥ राक्षसोंकी वह सेना

संवाध्यमाना हरिवाणजालैः
सुरागजालानि समुत्सृजन्तः ।
धावन्ति नक्तञ्चरकालमेघा
वायुप्रणुन्ना इव कालमेघाः ॥ ४९ ॥
चक्रप्रहारैर्विनिकृत्तदेहाः
संचूर्णिताश्चाशु गदाप्रहारैः ।
असिप्रहारैर्बहुधा विभक्ताः
पतन्ति शैला इव राक्षसेन्द्राः ॥ ५० ॥
चक्रोत्कृत्तास्यकमला गदासंचूर्णितोरसः ।
लाङ्गलाकर्षितग्रीवाः सुशरैर्भिन्नमस्तकाः ॥ ५१ ॥
केचिच्चैवासिना छिन्ना तथाऽन्ये शरपीडिताः ।
निपेतुरम्बरात् तूर्णं राक्षसाः सागराम्भसि ॥ ५२ ॥
ततोऽम्बरं प्रच्युतहारकुण्डलै-
र्निशाचरैर्नीलबलाहकोपमैः ।
निपात्यमानैर्ददृशे निरन्तरं
विसर्प्यमाणैरिव नीलपर्वतैः ॥ ५३ ॥

इति श्रीस्कस्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये मालिवधो
नाम एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

उन्मत्तोंकी सेनाके समान हो गयी—यथा—किसीका आतपत्र छिन्न हो गया था । किसीका शस्त्र गिरनेवाला था । कोई बाणोंसे भिन्न देहवाला था, कोई भयसे चंचल नेत्री था । कोई अस्त्ररहित था ॥ ४८ ॥ पवनछिन्न मेघोंके समान, काले राक्षसगण, हरिके बाणोंसे पीडित होकर, देवगजोंकी बेड़िया खोलते हुए भागे ॥ ४९ ॥ गदाप्रहारोंसे चूर्णित, चक्रप्रहारोंसे विद्ध देहवाले राक्षस लोग, तलवार प्रहारोंसे बहुधा घायल होकर पर्वतोंके समान पृथ्वीपर गिरते थे ॥ ५० ॥ चक्रोंके प्रहारोंसे चूर्णित छातीवाले, हलोंके प्रहारसे आकर्षित गलेवाले सुवाणोंके प्रहारोंसे छिन्न मस्तकवाले राक्षस थे ॥ ५१ ॥ कोई तलवारसे छिन्न, कोई बाणसे पीडित राक्षस समुद्रके जलमें आकाशसे शीघ्र गिर पड़े ॥ ५२ ॥ तब गिरे हुए हारकुण्डलवाले, नीलेमेघके समान गिरनेवाले राक्षसोंसे व्याप्त आकाश ऐसा दीख पड़ा, जैसे—चलता हुआ नीलपर्वत दिखायी देता है ॥ ५३ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

हते माल्यबले तस्मिन् पद्मनाभेन पृष्ठतः ।
माल्यवान् स निवृत्तोऽथ वेलयेव महार्णवः ॥ १ ॥
संरक्तनयनः कोपाच्चलन्मौलिर्निशाचरः ।
पद्मनाभमिदं प्राह वचनं परुषं तदा ॥ २ ॥
नारायणं न जानीषे क्षत्रधर्मं सनातनम् ।
अयुद्धमनसो यन्नो भवान् हन्ति यथेतरः ॥ ३ ॥
पराङ्मुखवधं पापं यः करोति महीतले ।
न हन्ता न हतः स्वर्गं लभते तेन कर्मणा ॥ ४ ॥
युद्धश्रद्धाऽथ वा तेऽस्ति तत्र शार्ङ्गगदाधरः ।
अयं स्थितोऽहं पश्यामि बलं दर्शय यत् तव ॥ ५ ॥
माल्यवन्तं स्थितं दृष्ट्वा माल्यवन्तमिवाचलम् ।
उवाच राक्षसेन्द्रं तं देवेन्द्रावरजो बली ॥ ६ ॥
युष्मत्तो भयभीतानां देवानामभयं मया ।
राक्षसोत्सादनाद्दत्तं तदेतदनुपाल्यते ॥ ७ ॥
प्राणैरपि प्रियं कार्यं देवतानां सदा मया ।
सोऽहं विनिहनिष्यामि रसातलगतानपि ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण द्वारा उस माल्यवान्‌की सेना नष्ट होनेपर वह माल्यवान् पीछेसे लौटा—जैसे समुद्र तटसे पीछे लौटता है ॥ १ ॥ तब कोपसे लाल नेत्रवाले शिरको कंपानेवाले, निशाचरने पद्मनाभको परुषवचन कहा—॥ २ ॥ हे नारायण, तुम सनातन क्षात्र धर्म नहीं जानते क्योंकि अयुद्धचित्तवाले मुझे आप मारते हैं ॥ ३ ॥ जो नर रणस्थल पराङ्-मुख व्यक्तिको मारनेका पाप करता है—वह मारनेवाला तथा मरनेवाला उस कार्यसे स्वर्ग नहीं पाता है ॥ ४ ॥ हे शार्ङ्गगदाधर यदि आपमें युद्ध श्रद्धा है मैं यहाँ स्थित हूँ । आप अपना पराक्रम मुझे दिखायें ॥ ५ ॥ तब उस शैलतुल्य माल्यवान्‌को स्थित देख-कर इन्द्रानुजने उस राक्षसेन्द्रसे कहा ॥ ६ ॥—तुमसे भयभीत देवोंको मैंने अभयदान दिया है । अतः यह राक्षसोंके उत्सादन कार्यको मैं कर रहा हूँ ॥ ७ ॥ देवोंका कार्य मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारा है इससे मैं पातालमें गये हुये राक्षसोंको भी मारूँगा ॥ ८ ॥ इस प्रकार बोलनेवाले पुरुषोत्तमको उस राक्षसेन्द्रने क्रोधित होकर शक्ति

देवमेवं ब्रुवाणं तु स तदा पुरुषोत्तमम् ।
शक्त्या बिभेद संक्रुद्धो राक्षसेन्द्रो ननाद च ॥ ९ ॥
माल्यवद्भुजनिर्मुक्ता शक्तिर्घण्टाकृतस्वना ।
हरेरुरसि बिभ्राज मेघोपरि शतह्रदा ॥ १० ॥
ततस्तमेव निष्कृष्य शक्तिं शक्तिधरप्रियः ।
माल्यवन्तं समुद्दिश्य चिक्षेपाम्बुरुहेक्षणः ॥ ११ ॥
स्कन्दोत्सृष्टेव सा शक्तिर्गोविन्दकरनिःसृता ।
काङ्क्षन्ती राक्षसं प्रायान्महोल्केवाञ्जनाचलम् ॥ १२ ॥
सा तस्योरसि विस्तीर्णे हारभाभिः प्रभासिते ।
अपतद्राक्षसेन्द्रस्य गिरिकूटे यथाऽशनिः ॥ १३ ॥
तया भिन्नतनुत्राणः प्राविशद्विपुरं तमः ।
माल्यवान् पुनराश्वस्तस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥
ततः कार्ष्णायसं शूलं कण्टकैर्बहुभिर्वृतम् ।
प्रतिगृह्याहनद्देवं स्तनयोरन्तरे दृढम् ॥ १५ ॥
तथैव रणरक्तस्तु मुष्टिभिः सोऽरुणानुजम् ।
ताडयित्वा धनुर्मात्रतपक्रान्तो निशाचरः ॥ १६ ॥
ततोऽम्बरे महाशब्दः साधु स ध्वित्यथोत्थितः ।
आहत्य राक्षसो विष्णुं गरुडं यदताडयत् ॥ १७ ॥

(बर्छी) मार दी और चिल्लाने लगा ॥ ९ ॥ मेघके ऊपर वज्रके समान, विष्णुके उरमें वह शक्ति शोभित हुई । वह शक्ति माल्यवान्‌के बाहुसे निकली हुई घण्टाके समान शब्द करती थी ॥ १० ॥ तब कमलनेत्र विष्णुने उस शक्तिको निकालकर माल्यवान्‌को मार दी ॥ ११ ॥ वह शक्ति स्कन्द द्वारा रची गयी थी । गोविन्दके हाथसे निकली थी । राक्षसको चाहती हुई उसके समीप ऐसे गयी । जैसे महोल्का अञ्जना पर्वतपर जाती है ॥ १२ ॥ जैसे—गिरिकूटपर बिजली गिरती है । वैसे वह शक्ति हारप्रभासे शोभित एवं विस्तीर्ण, राक्षसेन्द्रके वक्षपर जा गिरी ॥ १३ ॥ वह शक्ति माल्यवान्‌के तनुत्राण (लौहवस्त्र) को तोड़कर विपुल अन्धकारमें प्रविष्ट हो गयी । पर्वतके समान अडिग माल्यवान् आश्वस्त होकर स्थित रहा ॥ १४ ॥ ततः कण्टकाकीर्ण, कृष्णरंगवाले शूलको, उस राक्षसने, विष्णुके दोनों स्तनोंके बीच छातीमें मारा ॥ १५ ॥ उसी प्रकार रणमें अनुरक्त अरुणानुजको, मुष्टिकासे मारा तथा केवल धनुषधारण किये हुए भाग गया ॥ १६ ॥ तब आकाशमें साधु-साधु शब्द हुआ—राक्षसने विष्णुको शक्ति मारकर गरुड़को भी ताड़ना दी ॥ १७ ॥ तदा गरुड़ने क्रोध

वैनतेयस्तदा क्रुद्धः पक्षवातेन राक्षसम् ।
व्युवाह बलवान् वायुः शुष्कपर्णचयं यथा ॥ १८ ॥
द्विजेशपक्षवातेन वीक्ष्य ताडितमग्रजम् ।
सुमाली स्वबलैः सार्धं लङ्कामभिमुखो ययौ ॥ १९ ॥
पक्षवातसमुद्धूतो माल्यवानपि राक्षसः ।
स्वबलेन समागम्य ययौ लङ्कां ह्रियाऽऽवृतः ॥ २० ॥
एवं ते रक्षसाः श्याम हरिणा लोकधारिणा ।
बहुशः समरे भग्ना बहुप्रबलनायकाः ॥ २१ ॥
अशक्नुवँस्ततो विष्णुं प्रतियोद्धुं भयार्दिताः ।
त्यक्त्वा लङ्कां गताः सर्वे पातालं पन्नगालयम् ॥ २२ ॥
सुमालिनं समासाद्य राक्षसं भृगुसत्तम ।
स्थितः प्रख्यातवीर्योऽयं वंशे शालकटङ्कटे ॥ २३ ॥
कथिता राक्षसाः चैते शालकटङ्कटाः ।
दशग्रीवादयः श्याम पौलस्त्या नाम राक्षसाः ॥ २४ ॥
सुमाली माल्यवान् माली ये च तेषां पुरःसराः ।
सर्वं एते महाभागा रावणाद्बलवत्तराः ॥ २५ ॥
न चान्यो राक्षसां हन्ता सुरेष्वपि मुनीश्वर ।
ऋते नारायणाद्देवाच्छङ्खचक्रगदाधरात् ॥ २६ ॥
भवाद्वा मुनिशार्दूल पार्वतीप्राणवल्लभात् ।
येषां मया तव मुनीश्वर राक्षसाना-

करके पंखोंकी पवनसे राक्षसको खदेड़ा। जैसे पवन सूखे पत्तोंको उड़ाता है ॥ १८ ॥ गरुड़के पंखसे अग्रजको ताडित देखकर सुमाली अपनी सेनाके साथ लंकाको भागा ॥१९॥ पंखोंकी पवनसे जगा हुआ वह राक्षस माल्यवान् भी अपनी सेनाके साथ, लज्जायुक्त होकर लंकाको चला गया ॥ २० ॥ इस प्रकार वे राक्षसगण, हे श्याम, लोकधारी हरिके द्वारा, अनेक प्रबल नायक वाले, मारे गये—समरमें मारे गये ॥ २१ ॥ ततः भयपीडित वे राक्षस विष्णुसे लड़नेमें असमर्थ होकर पातालमें भाग गये ॥ २२ ॥ हे भृगु सत्तम, सुमाली नाम राक्षससे प्रारम्भ करके यह शालकटंकटा वंश प्रसिद्ध है ॥ २३ ॥ हे श्याम, इन शालकटंकटा राक्षसोंका वर्णन मैंने कर दिया। दशग्रीव आदि राक्षस पौलस्त्य नामक राक्षस कहे जाते हैं—ये सब पुलस्त्य वंशी हैं ॥ २४ ॥ माल्यवान्, सुमाली, माली और उनके पूर्वज राक्षस ये सब राक्षस रावणसे बलवान् थे ॥ २५ ॥ देवोंमें राक्षसोंके नाशक केवल विष्णु हैं। हे मुनीश्वर, बिना विष्णुके कोई भी राक्षसोंको दबा नहीं सकता ॥ २६ ॥ हे मुनीश्वर, आपने जिन राक्षसोंकी उत्पत्ति

मुत्पत्तिरद्य कथिता सकला यथावत् ।
भूयो निबोध भृगुसत्तम रावणस्य
जन्म प्रभावमतुलं बलवत्तरस्य ॥ २७ ॥
स राक्षसो विष्णुभयार्दितस्तदा
स्वपुत्रपौत्रैश्च समन्वितो बली ।
चिरात् सुमाली व्यचरद्रसातलं
ततस्तु लङ्कामवसद्धनेश्वरः ॥ २८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

आज कही । उनमें बलिष्ठ रावणकी उत्पत्ति पुनः कहें ॥ २७ ॥ विष्णु भयसे पीडित बलवान् वह सुमाली राक्षस पुत्र पौत्रके साथ बहुत दिनतक पातालमें रहा । इस समय लंकामें कुबेर रहते थे ।

•

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

अगस्त्य-मुनिरुवाच—

कस्य चित् त्वथ कालस्य सुमाली स तु राक्षसः ।
नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनसन्निभः ॥ १ ॥
आदाय कन्यां रुचिरां विना पद्ममिव श्रियम् ।
राक्षसेन्द्रः स तु तदा विचरन् वै महीतले ॥ २ ॥
गच्छन्तं गगनेऽपश्यत् पुष्पकेण धनेश्वरम् ।
पितरं द्रष्टुकामं च मातरं च निशाचरः ॥ ३ ॥
तं दृष्ट्वाऽनलसङ्काशं विमानं पावकोपमम् ।
हितार्थं चिन्तयामास राक्षसानां निशाचरः ॥ ४ ॥

कुछ कालके पश्चात्—नीले मेघके समान काला तथा तप्तस्वर्णके समान चमकीला वह सुमाली राक्षस, बिना कमलके लक्ष्मीतुल्या, अपनी सुन्दर पुत्रीको लेकर पृथ्वीपर भ्रमण कर रहा था ॥ १-२ ॥ उसने, अपने माता पिताके दर्शनार्थ आकाशमें पुष्पक विमानसे जाते हुए कुबेरको, देखा ॥ ३ ॥ उस निशाचरने, अग्नितुल्य उस विमानको

किं नु कृत्वा भवेच्छ्रेयो वर्धेमहि कथं वयम्।
सुतां विश्रवसे दद्यां राक्षसीं वरवर्णिनीम्॥ ५॥
स तु राक्षसशार्दूल शार्दूलसमविक्रमः।
अथाब्रवीत् सुतां तां तु नैकसी किल नामतः॥ ६॥
पुत्रि प्रदानकालस्ते यौवनं चातिवर्तते।
त्वत्कृते च वयं सर्वे यन्त्रिता धर्मबुद्धयः॥ ७॥
त्वयि पुत्रसमायुक्ता इच्छा संपत्स्यतेऽचिरात्।
त्वं हि सर्वगुणोपेता श्रीरपद्मेव नः कुले॥ ८॥
प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं नासुरैर्व्रियसे शुभे।
न ज्ञायते वरः पुत्रः कन्यानां चारुदर्शनः॥ ९॥
कन्या पितॄणां दुःखं हि सर्वेषां मानकारिणाम्।
मातुः कुलं पितुश्चैव यत्र कन्या प्रदीयते॥ १०॥
कुलत्रयं यदा कन्या संशयस्थं करोति हि।
सा त्वं मुनिवरं श्रेष्ठं प्रजापतिकुलोद्भवम्॥ ११॥
गच्छ विश्रवसं पुत्रि पौलस्त्यं वरय स्वयम्।
ईदृशास्ते भविष्यन्ति पुत्राः पुत्रि न संशयः॥ १२॥
तेजसा भास्करोदग्रा यादृशोऽयं धनेश्वरः।
सा तु तद्वचनं श्रुत्वा कन्यका पितृगौरवात्॥ १३॥
गत्वाऽऽश्रमपदं तस्थौ यत्र तप्यति विश्रवाः।
एतस्मिन्नन्तरे श्याम पुलस्त्यतनयो द्विजः॥ १४॥

देखकर राक्षसोंके हितार्थ सोचा ॥ ४ ॥ क्या कार्य करके हम राक्षस बढ़ें ? उन्नति करें ? यदि मैं अपनी पुत्री जो उत्तमस्वरूपा है। विश्रवा मुनिकी दे दूँ तो, हम लोगोंकी उन्नति अवश्य होगी ॥ ५ ॥ तब उस सिंहके समान पराक्रमवाले राक्षसेन्द्रने अपनी नैकसी नामवाली कन्यासे कहा—॥ ६ ॥ हे पुत्रि, तुम युवती हो। तुम्हारे विवाहका समय प्राप्त है। तुम्हारे लिये हम सब धर्मबुद्धिमें नियन्त्रित हैं ॥ ७ ॥ तुम हमारे वंशमें बिना कमलकी लक्ष्मी हो। हमारी इच्छा है कि तुम्हें पुत्रके साथ देखूँ वह इच्छा भविष्यमें अवश्य पूर्ण होगी ॥ ८ ॥ हे पुत्रि, प्रत्याख्यानसे डरे हुए असुर तुम्हारे साथ विवाह नहीं करते हैं। हे शुभे, कन्याओंका सुन्दर वर, कौन होगा, यह नहीं जाना जाता है ॥ ९ ॥ सब मानी पिताओंको कन्या दुःखदायक होती हैं। क्योंकि कन्या तीन कुलोंको संशयमें डालती है—मातृ कुलको, पितृकुलको और पतिकुलको—तीनों कुलोंको चिन्ता होती है ॥ १० ॥ कन्या तीन कुलोंको दुःख देनेवाली होती हैं अतः हे पुत्रि, तुम जाओ और प्रजापतिकुलमें उत्पन्न विश्रवाके साथ परिणय कर लो।

अग्निहोत्रमुपातिष्ठच्चतुर्थ इव पावकः ।
सा तु तं दारुणं कालमबुध्वा पितृगौरवात् ॥ १५ ॥
उपावृत्याग्रतस्तस्य चरणेऽधोमुखी स्थिता ।
स तु तां वीक्ष्य धर्मात्मा पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ १६ ॥
अब्रवीत् परमोदारो दीप्यमान इवौजसा ।
भद्रे कस्यासि दुहिता कुतो वा त्वमिहागता ॥ १७ ॥
किं कार्यं कस्य वा हेतोस्तत्त्वतो ब्रूहि तच्छुभे ।
एवमुक्त्वा तु सा कन्या कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ॥ १८ ॥
राक्षसीं विद्धि मां ब्रह्मन् शासनात् पितुरागताम् ।
नैकसीमिति नाम्ना वै शेषं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥
तपःप्रभावेण मुने यदर्थमहमागता ।
ततो गत्वा मुनिर्ध्यानं वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २० ॥
विज्ञातं ते मया भद्रे कारणं यन्मनोगतम् ।
सुताभिलाषो मत्तस्ते मत्तमातङ्गगामिनी ॥ २१ ॥
दारुणायां तु वेलायां यस्मात् त्वं समुपस्थिता ।
शृणु तस्मात् सुतान् भद्रे यादृशाञ्जनयिष्यसि ॥ २२ ॥
दारुणान् दारुणाचारान् दारुणाभिजनप्रियान् ।
जनयिष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः ॥ २३ ॥

ऐसा करनेसे तुम्हें जो पुत्र उत्पन्न होंगे वे सूर्यके समान तेजवान होगे । जैसा तेजवान् यह कुबेर है । वैसे तेजवान् पुत्र तुम पाओगी । उसने वे वाक्य श्रवणकर पिताके गौरवको ध्यानमें रखकर विश्रवा मुनिके आश्रममें जाना ठीक समझा और वह उस आश्रममें चली गयी । उस समय विश्रवा मुनि जो चतुर्थ अग्निके समान थे । होम करने जा रहे थे । उसने पिताके आदेशके कारण वह समय प्रार्थनाके लिये अनुचित है—ऐसा न जानकर—उन मुनिके चरणोंमें गिर पड़ी । उन मुनिने जो पुण्यात्मा थे उस पूर्णेन्दुमुखी-को देखकर पूछा—हे भद्रे, तुम किसकी पुत्री हो ? कहाँसे यहाँपर आयी हो ? किस कारणसे आयी हो ? ठीक-ठीक बताओ ॥ ११-१७ ॥ तब हाथ जोड़कर कन्या नैकसी बोली—हे ब्रह्मन् ! मैं राक्षसी हूँ । पिताकी आज्ञासे आयी हूँ । मेरा नाम नैकसी है । शेष बातें—हे मुने, तपके प्रभावसे आप, मेरी मनोगत इच्छा, जान सकते हैं ॥१८-१९॥ तब मुनिने ध्यान लगाकर देखा और बोले—हे भद्रे, मैंने तुम्हारे अभिलाषको जान लिया । हे मत्तगजगामिनी तुम पुत्राभिलाषिणी होकर यहाँ आयी हो ॥ २१ ॥ तुम दारुण समयमें मेरे समीप आयी हो । अतः तुम्हें दारुण पुत्र उत्पन्न होंगे । हे सुश्रोणि, तुम क्रूरकर्मा पुत्रोंको उत्पन्न करोगी ॥ २२-२३ ॥ तब उसने प्रणाम करके कहा—

सा तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रणिपत्याब्रवीद्वचः ।
भगवन्नेदृशाः पुत्रास्त्वत्तो ब्राह्मणयोनितः ॥ २४ ॥
स कन्ययैवमुक्तस्तु विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
उवाच नैकसीं भूयः पूर्णेन्दुरिव रोहिणीम् ॥ २५ ॥
पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने ।
समधर्मानुरूपः स भविष्यति न संशयः ॥ २६ ॥
एवमुक्ता तु सा कन्या श्याम कालेन केन चित् ।
जनयामास बीभत्सरक्षोरूपं सुदारुणम् ॥ २७ ॥
दशग्रीवं महादंष्ट्रं नीलाञ्जनचयोपमम् ।
ताम्रोष्ठं विंशतिभुजं महास्यं दीप्तमूर्धजम् ॥ २८ ॥
जातमात्रे ततस्तस्मिन् प्रजज्वाल बलाग्निना ।
क्रव्यादाश्चापशव्यानि मण्डलानि प्रचक्रमुः ॥ २९ ॥
ववर्षू रुधिरं देवा मेघाश्च खरनिःस्वनाः ।
निष्प्रभश्चापि सूर्योऽपि महोल्का चापतद्भुवि ॥ ३० ॥
चकम्पे धरणी चैव ववुर्वाताः सुदारुणाः ।
अक्षोभ्यः कुक्षिभिश्चैव समुद्रः सरितां पतिः ॥ ३१ ॥
अथ नामाकरोत् तस्य पितामहसमः पिता ।
दशग्रीवः प्रसूतोऽयं दशग्रीवो भविष्यति ॥ ३२ ॥
तस्य त्वनन्तरं जातः कुम्भकर्णो महाबलः ।
प्रमाणाद्यस्य विपुलं प्रमाणं नेह विद्यते ॥ ३३ ॥

हे भगवन्, आप ऐसे विप्रोंसे ऐसे पुत्र होंगे ? तब मुनिने कन्याके वचन श्रवणकर इस प्रकार कहा—जैसे चन्द्रमाने रोहिणीसे कहा था । हे शुभानने तुम्हारा अन्तिमपुत्र, धर्मात्मा होगा । इसमें सन्देह नहीं है ॥ २४-२६ ॥ हे श्याम, कुछ कालके बाद उस कन्याने भयंकर वीभत्स राक्षसोंको उत्पन्न किया । दश ग्रीवावाले, विशाल दाँत-दंष्ट्रा वाले, नीलाञ्जनरूप वाले, ताम्रोष्ठ वाले, बीस भुजावाले, विशाल मुखवाले, दीप्त मूर्धावाले पुत्रको उत्पन्न किया । वह पुत्र उत्पन्न होते ही अग्नि तुल्य बलवान् होकर चमकने लगा । धनुषको मण्डलाकार करके वह राक्षस घूमने लगा । गदहेके समान शब्दसे मेघ रुधिर बरसाने लगे । सूर्य प्रभाहीन हो गया उल्काएँ पृथ्वीपर गिरने लगीं ॥ २७-३० ॥ पृथ्वी हिलने लगी । आँधी आने लगी । समुद्रमें तूफान आने लगे ॥ ३१ ॥ पितामह (ब्रह्मा) के समान पिताने उसका नाम दशग्रीव रखा—क्योंकि वह दश ग्रीवायुक्त उत्पन्न हुआ था ॥ ३२ ॥ उसके पश्चात् कुम्भकर्ण उत्पन्न हुआ । वह महाबली था । तथा उसकी लम्बाई-चौड़ाई अप्रमेय थी ॥ ३२ ॥

ततः शूर्पणखा नाम संजज्ञे बिकटानना ।
विभीषणश्च धर्मात्मा नैकस्याः पञ्चमः सुतः ॥ ३४ ॥
तस्मिन् जाते महासत्वे पुष्पवर्षं पपात ह ।
आकाशस्था दुन्दुभयो देवानां प्राणदँस्तथा ॥ ३५ ॥
वाक्यं चैवान्तरिक्षे च साधु साध्विति वै तदा ।
तौ तु तत्र महारण्ये ववृधाते महौजसौ ॥ ३६ ॥
कुम्भकर्णदशग्रीवौ लोकोद्वेगकरौ तदा ।
कुम्भकर्णः प्रमत्तस्तु महर्षीन् धर्मवत्सलान् ॥ ३७ ॥
त्रैलोक्यं नित्यसन्तुष्टोभक्षयन् विचचार ह ।
विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मे व्यवस्थितः ॥ ३८ ॥
स्वाध्यायी नियताहार उवास विजितेन्द्रियः ।
अथ वैश्रवणो देवस्तत्र कालेन केन चित् ॥ ३९ ॥
आयातः पितरं द्रष्टुं पुष्पकेण धनेश्वरः ।
तं दृष्ट्वा नैकसं तत्र ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ४० ॥
आगम्य राक्षसी तत्र दशग्रोवमुवाच ह ।
सुतं वैश्रवणं पश्य भ्रातर तेजसा वृतम् ॥ ४१ ॥
भातृभावं समे वाऽपि पश्यात्मानं त्वमीदृशम् ।
दशग्रीव तथा यत्नं कुरुष्वामितविक्रमः ॥ ४२ ॥
यथा त्वमपि पुत्रो मे भव वैश्रवणोपमः ।
मातुस्तद्वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ ४३ ॥

तब विकटमुखी शूर्पणखा उत्पन्न हुई । उसके पश्चात् विभीषण उत्पन्न हुआ जो बड़ा धर्मात्मा था ॥ ३३ ॥ उसकी उत्पत्तिपर देवतोंने पुष्प वर्षा की । यह नैकसीका पाँचवा पुत्र था । यह देवोंको सुख देनेवाला था । देवोंने इसके उत्पन्न होनेपर दुन्दुभियाँ बजायीं ॥ ३४-३५ ॥ आकावाणीने साधु-साधु कहा—वे दोनों रावण और कुम्भकर्ण बड़े वनमें पले । वे दोनों महाबली थे ॥ ३६ ॥ कुम्भकर्ण और रावण दोनों लोगोंके कष्ट देनेवाले थे ॥ ३७ ॥ कुम्भकर्ण और रावण दोनों कष्टदायक थे । उनमें कुम्भकर्ण धार्मिक महर्षियोंको तीनों लोकमें घूमते हुए खा जाता था । धर्मात्मा विभीषण नित्य धर्ममें स्थित रहता था ॥ ३८ ॥ वह स्वाध्यायी था । नियत आहारवाला, जितेन्द्रिय था । इसके पश्चात् एकदिन कुबेर अपने जनक जननीको देखने पुष्पक विमानसे वहाँ आये ॥ ३९ ॥ कुबेरने वहाँ तेजोमय रावणको देखा ॥ ४० ॥ उसी समय राक्षसी नैकसी ने आकर रावणसे कहा-- ऐ रावण, तुम पुत्र वैश्रवणको देखो, (ये तुम्हारे भाई हैं) ये तेजसे परिपूर्ण हैं । समान भ्रातृभावमें तुम अपनेको इसके समान समझो । हे दशग्रोव

अमर्षमतुलं लेभे प्रतिज्ञां चाकरोत् तदा ।
सत्यं ते प्रतिजानामि भ्रातृ तुल्योऽधिकोऽपि वा ॥ ४४ ॥
भविष्याम्योजसा चैव सन्तापं त्यज हृद्गतम् ।
ततः क्रोधेन तेनैव दशग्रीवः सहानुजः ॥ ४५ ॥
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म तपसे धृतमानसः ।
ऽप्स्यामि तपसा काममिति कृत्वा यथाविधि ।
आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थमत्र गोकर्णसन्निधौ ॥ ४६ ॥
सराक्षसश्चात्र सहानुजस्तदा
तपश्चचारातुलमुग्रविक्रमः ।
अतोषयच्चापि पितामहं विभुं
ददौ स तुष्टश्च वरं महात्मने ॥ ४८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
त्रयोविंशोऽध्याय; ॥ २३ ॥

तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे तुम भी इसके समान बन जाओ । माताके वचन श्रवणकर प्रतापी दशग्रीवने ॥ ४१-४३ ॥ अतुल क्रोध किया और प्रतिज्ञा की, मैं तुमसे सत्य-प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं या तो इसके समान या इससे अधिक तेजस्वी होऊँगा । अपने चित्ताके तापको हे मातः दूर करो । तब क्रोधके साथ रावण कुम्भकर्णके, विभीषणके साथ तपस्या करनेको चला गया । गोकर्णके पास वनमें भाईके साथ उसने यह निश्चय कर लिया था कि मैं तपसे मनचाही सिद्धि कर लूँगा । अतः घोर तप किया ॥ ४४-४७ ॥ राक्षसोंके साथ, छोटे भाईके साथ उग्र पराक्रमो उस रावणने घोर तप किया । प्रभु पितामहको प्रसन्न किया । प्रसन्न होकर ब्रह्माने उस महात्मा रावणको वरदान दिया ॥ ४८ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

अथाब्रवीन्मुनिः श्याम अत्रागत्य महाबलाः ।
आचक्ष्व कीदृशं ब्रह्मन् तपस्तेपुर्महौजसः ॥ १ ॥
अगस्त्यस्त्वब्रवीत् श्यामं भूयः प्रयतमानसम् ।
तांस्तान् धर्मविधींस्तात भ्रातरस्ते समाश्रिताः ॥ २ ॥
कुम्भकर्णस्तदात्यर्थं सत्यधर्मपरायणः ।
अतपद्ग्रीष्मकाले वै सोऽग्निभिः सूर्यपञ्चमैः ॥ ३ ॥
मेघाम्बुसिक्तो वर्षासु वीरासनमसेवत ।
नित्यं च शिशिरे काले जलमध्ये प्रतिश्रयः ॥ ४ ॥
एवं वर्षसहस्राणि दश तस्य तदा ययुः ।
सत्यधर्मानुरक्तस्य सत्येष्वधिष्ठितस्य च ॥ ५ ॥
विभीषणश्च धर्मात्मा नित्यं धर्मरतः शुचिः ।
पञ्च वर्षसहस्राणि पादेनैकेन तस्थिवान् ॥ ६ ॥
समाप्ते नियमे तस्य ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
पपात पुष्पवर्षं च तुष्टुवुश्चैव देवताः ॥ ७ ॥
पञ्च वर्षसहस्राणि सूर्यमेवानुवर्तयत् ।
तस्थावूर्ध्वशिरोबाहुः स्वाध्यायासक्तचेतनः ॥ ८ ॥
एवं विभीषणस्यापि गतानि सुमहात्मनः ।
दश वर्षसहस्राणि स्वर्गस्थस्येव नन्दने ॥ ९ ॥

मुनि श्याम ने अगस्त्य मुनि से पूछा—यहाँ गोकर्ण में आकर महाबली राक्षसोंने किस प्रकार की घोर तपस्या की ? ॥१॥ अगस्त्य ने श्याम से कहा—हे तात। उन राक्षसोंने धर्मविधियोंके पूर्णार्थ अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं ॥ २ ॥ कुम्भकर्णने, सत्यधर्मपरायण होकर ग्रीष्मकाल में भी धूपमें सूर्यको पञ्चाग्निमें मानकर घोर तपस्या की ॥ ३ ॥ वर्षाकाल में वीरासनसे मेघ जलसे भींगते हुए तपस्या की। शिशिर (जाड़े) में जलमें स्थित होकर घोर तपस्या की ॥४॥ इस प्रकारसे तप में सत्यधर्मानुरक्त, सत्यपर दृढ उसके दश सहस्र वर्ष व्यतीत हुए ॥ ५ ॥ नित्य धर्ममें रत, पवित्र, धर्मात्मा, विभीषणने पाँच सहस्र वर्ष एक चरणपर स्थित होकर तप किया। उसके तपकी समाप्तिपर अप्सराएँ नाचने लगीं देवोंने पुष्प वर्षा की ॥६–७॥ पाँच सहस्र वर्षतक ऊर्ध्वशिरो बाहु होकर, स्वाध्यायासक्त चित्तसे सूर्यके सम्मुख होकर तप किया ॥ ८ ॥ इस प्रकार महात्मा विभीषणकी तपस्याके वे दिन–दस सहस्र वर्ष

पुनश्च शङ्खमूलस्य सङ्गमे जलमाश्रितः ।
तपश्चचार सुमहन्निराहारो जितेन्द्रियः ॥ १० ॥
लिङ्गानां कोटिमुत्पाद्य व्रतं कृत्वा महत्तरम् ।
वाग्वत्या मणिमत्याश्च सङ्गमे पूर्वगे तटे ॥ ११ ॥
लिङ्गं संस्थाप्य कोटीनां लिङ्गानामुपरिस्थले ।
दिव्यवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः ॥ १२ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शीर्षमग्नौ जुहाव सः ।
एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः ॥ १३ ॥
शिरांसि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम् ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः ॥ १४ ॥
छेत्तुकामस्य धर्मात्मा प्राप्तस्तस्य प्रजापतिः ।
पितामहस्तु सुप्रीतः सह देवैरुपस्थितः ॥ १५ ॥
वत्स वत्स दशग्रीव प्रीतस्तेऽस्मीत्यभाषत ।
शीघ्रं वृणीष्व भद्रं ते वरं यत् तेऽभिवाञ्छितम् ॥ १६ ॥
तत् ते कामं करोम्यद्य न वृथा ते परिश्रमः ।
ततोऽब्रवीद्दशग्रीवः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १७ ॥
प्रणम्य शिरसा देव हर्षगद्गदया गिरा ।
भगवन् प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥ १८ ॥
न च मृत्युसमः शत्रुरमरत्वं ततो वृणे ।
एवमुक्तस्ततो ब्रह्मा दशग्रीवमुवाच ह ॥ १९ ॥

ऐसे बीते जैसे वह नन्दन वनमें स्थित हो । ॥ ६–९ ॥ पुनः शंखमूल प्रदेशमें संगमपर जलमें स्थित होकर उसने जितेन्द्रिय होकर, निराहार रहकर महान् तप किया ॥१०॥ वाङ्मती एवं मणिमतीके संगम स्थलके पूर्व तटपर एक करोड़ लिंग रचकर पूजन किया ॥ ११ ॥ रावणने भी एक करोड़ लिंगोंको स्थापित करके दिव्य सहस्र वर्षतक निराहार रहकर पूजन किया । एक दिव्य सहस्र बीतनेपर वह अपने एक शिरको काटकर अग्निमें होम कर देता था । इस प्रकार तपमें उसे दिव्य दश सहस्र वर्ष बीते तथा नव शिर भी अग्निमें होम कर दिये गये । जब दशम सहस्र वर्ष बीता तब वह अपना दशवां शिर काटनेपर तत्पर हुआ । उसी समय ब्रह्माजी ने देवोंके साथ आकर उस धर्मात्माको रोक दिया । और कहा - हे वत्स, दशग्रीव, मन चाहा वर मांगों, मैं तुमपर अति प्रसन्न हूँ ॥ १०–१६ ॥ तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ नहीं है । मैं तुम्हें सफल करूँगा । तब हर्षित अन्तरात्मासे रावणने शिरसे प्रणाम करके हर्षमयी वाणी से कहा—हे भगवन्, प्राणियोंको मरनेसे अधिक भय किसीका नहीं होता है । मृत्युके समान कोई शत्रु नहीं है । अतः अमर रहनेका वर चाहता हूँ । ब्रह्माने कहा हे दशग्रीव,

नास्ति सर्वामरत्वं ते वरमन्यं वृणीष्व वै ।
एवमुक्तस्तदा श्याम ब्रह्मणा लोककारिणा ॥ २० ॥
दशीग्रीव उवाचेदं कृताञ्जलिरथाग्रतः ।
सुपर्णनागयक्षाणां दैत्यदानवरक्षसाम् ॥ २१ ॥
अवध्यत्वं प्रजाध्यक्ष देवतानां च सर्वशः ।
न हि चिन्ता ममान्येषु प्राणिषु प्रपितामह ॥ २२ ॥
तृणभूता हि मे सर्वे प्राणिनो मानुषादयः ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दशग्रीवेण रक्षसा ॥ २३ ॥
उवाच वचनं श्याम सह देवैः पितामहः ।
भविष्यत तदेवं वै तव राक्षसपुङ्गव ॥ २४ ॥
शृणु चापि वरं भूयः प्रीतस्य विहितं मम ।
हुतानि यानि शीर्षाणि पूर्वमग्नौ त्वयाऽनघ ॥ २५ ॥
उत्थास्यन्ति पुनस्तानि तव राक्षसपुङ्गव ।
वितरामि वरं सौम्य तव चान्यं सुदुर्लभम् ॥ २६ ॥
छन्दतो विन्द भद्रं ते रूपमन्यद्यदीच्छसि ।
एवं पितामहोक्तस्य दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २७ ॥
अग्नौ हुतानि शीर्षाणि यानि तान्युत्थितानि वै ।
एवमुक्त्वा तु तं श्याम दशग्रीवं प्रजापतिः ॥ २८ ॥
विभीषणमथोवाच वाक्यं लोकपितामहः ।
विभीषण त्वया वत्स धर्मसंहितबुद्धिना ॥ २९ ॥

स्वीकार है । ॥१७–१९॥ यद्यपि अमरत्वका पूर्ण वरदान मैं नहीं देता हूँ परन्तु तुम्हारी कामना सफल हो । हे दशगीव, अन्य और मांगो । हे श्याम, ब्रह्मा के इस प्रकार कहने पर······ ॥२०॥ रावणने हाथ जोड़कर महा—गरुड़, नाग-यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षससे हे प्रजाध्यक्ष, देवोंसे मेरी मृत्यु न हो । हे ब्रह्मन्, मुझे अन्य प्राणियोंकी चिन्ता नहीं है अन्य प्राणी मनुष्य आदिको मैं तृणके समान मानता हूँ । दशग्रीवके द्वारा ब्रह्माजीने उपर्युक्त बातें श्रवणकर कहा—हे राक्षसेन्द्र, जो तुमने मांगा है वे सब बातें होंगी ॥२१–२४॥ हे रावण, सुनो मैं तुम्हें एक अन्य वर देता हूँ कि, तुम्हारे होम किये शिर पुनः आ जायें । एक और वर तुम्हें देता हूँ कि तुम अपना रूप मनचाही रीतिसे बदल सकते हो । इस प्रकार ब्रह्माके कहनेपर रावणके सब शिर जो उसने आगमें होम कर दिये थे पुनः आ गये । ब्रह्माजीने इस प्रकार रावणसे कहा–तथा पुनः वे विभीषणसे बोले—हे व्रतचारिन् विभीषण, तुमने धर्मपूर्वक मेरी सेवा की । हे धर्मज्ञ, अब मैं सन्तुष्ट हूँ तुम वरदान मांगो । सर्वगुणोंसे युक्त सर्वकिरणयुक्त चन्द्रके समान विभीषण

आराधितोऽस्मि धर्मज्ञ वरं वरय सुव्रत।
विभीषणस्तु धर्मात्मा प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३० ॥
ततः सर्वगुणैर्नित्यं चन्द्रमा रश्मिभिर्यथा।
भगवन् हितमेतावन्मन्ये लोकेश्वरः प्रभुः ॥ ३१ ॥
प्रीतो यदि तु दातव्यो वरो मे शृणु सुव्रत।
परमापद्गतस्यापि धर्मे एष मतिर्भवेत् ॥ ३२ ॥
अशिक्षितं च भगवन् ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे।
या या जायेत मे बुद्धिस्तेषु तेष्वाश्रमेष्विह ॥ ३३ ॥
सा सा भवतु धर्मिष्ठा तं तं धर्मं भजे तव।
एष मे परमोदारो वरः परमको मतः ॥ ३४ ॥
न हि धर्मानुरक्तानां किंचिल्लोकेऽस्ति दुर्लभम्।
अथ प्रजापतिः प्रीतो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ३५ ॥
धर्मिष्ठस्त्वं यथा वत्स तथैतत् ते भविष्यति।
यस्माद्राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रकर्षण ॥ ३६ ॥
नाधर्मे जायते बुद्धिरमरत्वं ददामि ते।
एष एव च ते कामो नित्यं वत्स भविष्यति ॥ ३७ ॥
अशिक्षितं च ब्रह्मास्त्रं यथावत् प्रतिपत्स्यते।
कुम्भकर्णाय तु वरं दातुकामं तपोधन ॥ ३८ ॥
प्रजापतिं सुराः सर्वे वाक्यं प्राञ्जलयोऽब्रुवन्।
न तावत् कुम्भकर्णाय प्रदातव्यो वरस्त्वया ॥ ३९ ॥
जानासि हि यथा लोकांस्त्रासयत्येष राक्षसः।
नन्दनेऽप्सरसः सप्त महेन्द्रानुचरा दश ॥ ४० ॥

हाथ जोड़कर बोला। हे ब्रह्मन्–लोकेश्वर इतनेमें ही अपना हित मानता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न हैं। यदि आप वरदान देना चाहते हैं तो सुनें। हे सुव्रत, कठिन विपत्तिमें भी मेरी बुद्धि धर्ममें स्थिर रहे ॥ २५–३२ ॥ हे भगवन्, अशिक्षित होनेपर भी ब्रह्मास्त्र मैं विधिवत् जान सकूँ। मेरी बुद्धि जिन-जिन आश्रमोंमें जाय वहाँ धर्म मेरा साथ दे। मेरा परमोदार एक वर है—धर्मानुरागियोंको कोई भी वस्तु संसारमें दुर्लभ नहीं। तब प्रजापतिने प्रसन्न होकर यह वचन कहा—हे वत्स, तुम धर्मिष्ठ हो तो भी ये सब वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त होंगी। तुम्हारी उत्पत्ति राक्षस योनिमें है अमित्रकर्षण होनेपर भी तुम (राक्षसोंकी भाँति अधर्मशील) अधर्मी नहीं होगे। तुम अमर होगे। तुम्हारा मनोरथ सदा पूर्ण होगा। अशिक्षित होनेपर भी दिव्य ब्रह्मास्त्रका ज्ञान तुम्हें यथावत् हो जायगा। हे तपोधन, कुम्भकर्णके लिये वर देनेवाले ब्रह्माजीसे सब देवगण हाथ जोडकर बोले—हे देव, कुम्भकर्णको इस प्रकारका वरदान आप न दें ॥ ३३-३९ ॥

अनेन भक्षिता ब्रह्मन् ऋषयो ब्राह्मणास्तथा ।
तच्छापो वरणादस्मै दीयताममितप्रभो ॥ ४१ ॥
लोके वै स्वस्ति चैवं स्याद्धवेदस्या च सम्मते ।
एवमुक्तः सुरैर्ब्रह्माऽचिन्तयत् पद्मसम्भवः ॥ ४२॥
देवीं सरस्वतीं देवः पद्माक्षीं पद्मसम्भवीम् ।
विलोक्य सर्वभूतेषु जिह्वा बुद्धिर्धृतिः स्मृतिः ॥ ४३ ॥
चिन्तिता चोपतस्थौ सा पार्श्वे हृष्टा सरस्वती ।
प्राञ्जलिः प्राह पार्श्वस्था सा तु देवी सरस्वती ॥ ४४ ॥
इयमस्म्यागता देव किं कार्यं करवाणि ते ।
प्रजापतिस्तु तां प्राह देवीं चैव सरस्वतीम् ॥ ४४ ॥
वाणि त्वं राक्षसस्यास्ये भव या देवतेप्सिता ।
इत्युक्त्वा सा प्रणम्याथ तं विवेश निशाचरम् ॥ ४६ ॥
ततो भार्गव तद्र नो ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
कुम्भकर्ण महाबाहो वरं वरय राक्षस ॥ ४७ ॥
कुम्भकर्णस्ततो हृष्टः श्रुत्वा वाक्यमुवाच ह ।
स्वप्तुंवर्षसहस्राणि देवदेव ममेप्सितम् ॥ ४८ ॥
षण्मासान्ते भवेद्देव दिनमेकं तु भोजनम् ।
एवमस्त्विति तं चोक्त्वा सह देवैः पितामहः ॥ ४९ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप जानते ही हैं कि यह राक्षस लोगोंको कष्ट दे रहा है । नन्दनवनमें सात अप्सराओंको दश इन्द्रके सेवकोंको इसने खा डाला है । कई ऋषिगण-ब्राह्मणोंको इसने खा डाला है । अतः हे प्रभो, इसे शाप दें । इस सम्मतिसे लोकमें शान्ति रहेगी । देवोंके ऐसा कहनेपर ब्रह्माने विचार किया तथा उन्होंने देवी सरस्वती, पद्माक्षी, पद्मसम्भवाका स्मरण किया—क्योंकि वे सब प्राणियोंकी जीभपर बुद्धि, धृति, स्मृति रूपमें विराजती हैं । ब्रह्माके स्मरण करते ही प्रसन्ना सरस्वती उनके पार्श्व (समीप) में आ गयीं । हाथ जोड़कर सरस्वतीने कहा—हे देव, मैं यहाँपर उपस्थित हूँ । आज्ञा दें क्या कार्य है । तब प्रजापतिने सरस्वतीजीसे कहा—॥ ४०-४५ ॥ हे देवि, तुम इस कुम्भकर्णके मुखपर, हे देव प्रार्थिता देवी, स्थित हो जाओ । ऐसा कहनेपर सरस्वती उस कुम्भकर्णके मुखमें, ब्रह्माको प्रणाम करके, प्रविष्ट हो गयीं ॥ ४६ ॥ अगस्त्यजीने कहा—हे भार्गव, तब ब्रह्माजीने उस राक्षससे कहा—हे राक्षस, महाबाहो, कुम्भकर्ण वरदान माँगो । तब प्रसन्न होकर कुम्भकर्णने कहा—हे देव, हजार वर्षतक मैं सोऊँ केवल छः मासमें एक दिनके लिये भोजनार्थ जागूँ । ऐसा ही हो । यह कहकर देवताओंके साथ ब्रह्माजी तथा उस राक्षसको छोड़कर सरस्वतीजी स्वर्ग चली गयीं । ब्रह्माजी तथा

देवी सरस्वती चैव मुक्त्वा तं प्रययौ दिवम् ।
गतेषु ब्रह्मपूर्वेषु दैवतेषु नभःस्थलम् ॥ ५० ॥
विमुक्तोऽसौ सरस्वत्या पूर्वां प्रकृतिमागतः ।
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः ॥ ५१ ॥
ईदृशं किमिदं वाक्यं वदनान्मम निःसृतम् ।
अनभिप्रेतपूर्वं हि संमोहादिव भाषितम् ॥ ५२ ॥
भक्षयामीति वदता स्वप्स्यामीत्युदितं मया ।
सन्तप्यमानो दुःखार्तो विधुन्वँश्चरणौ करौ ॥ ५३ ॥
आत्मानमेवमवशं श्वसन् निन्दन् पपात ह ।
एवं लब्धवराः सर्वे भ्रातरो दीप्ततेजसः ।
श्लेष्मान्तकवनं नाम तत्र ते न्यवसँश्चिरम् ॥ ५४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

देवोंके पूर्वकी ओर आकाशमें चले जानेपर ॥ ४७-५० ॥ सरस्वतीजोसे त्यक्त अपनी पूर्व प्रकृतिमें आकर कुम्भकर्ण दुष्टात्माने दुःखी होकर कहा—॥ ५१ ॥ इस प्रकारके वाक्य, पूर्व में कभी न सोचे हुए कैसे मेरे मुखसे निकले । मूर्खतासे मैंने ऐसे वाक्य कह दिये ॥ ५२ ॥ मैंने 'भक्षयामिके' स्थानमें 'स्वप्स्यामि' कह दिया । वह दुःखी होकर हाथ पैर मलने लगा ॥ ५३ ॥ अवश होकर अपनेको धिक्कारता हुआ वह—सांस लेता हुआ, निन्दा करता हुआ गिर पड़ा । इस प्रकार प्राप्त वरवाले वे सब लोग प्रचण्ड तेजवाले होकर अपने स्थानोंको चले गये । वे लोग श्लेष्मान्तक वनमें बहुत दिनतक रहे ।

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

सुमाली वरलब्धांस्तु ज्ञात्वा तान् वै निशाचरः।
उदतिष्ठद्भयं त्यक्त्वा सानुगः सर्व आतुरः॥ १ ॥
माली चण्डः प्रहस्तश्च विरूपाक्षो महोदरः।
सचिवाः परिवार्येनमुपातिष्ठन् सुमालिनम्॥ २ ॥
प्रस्थितः सचिवैः सर्वैर्वृतो राक्षसपुङ्गवैः।
अभिगम्य दशग्रीवं परिष्वज्येदमब्रवीत्॥ ३ ॥
दिष्ट्या ते पुत्र संप्राप्तश्चिन्तितोऽयं मनोरथः।
यस्त्वं त्रिभुवनश्रेष्ठाल्लब्धवान् वरमीदृशम्॥ ४ ॥
यत्कृते च वयं लङ्कां त्यक्त्वा याता रसातलम्।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम्॥ ५ ॥
असकृत् तेन भग्ना हि परित्यज्य स्वमालयम्।
विद्रुताः सहिताः सव प्रविष्टाः स्मो रसातलम्॥ ६ ॥
अस्मदीया च लङ्केयं नगरी राक्षसोषिता।
निवेशिता तव भ्रात्रा धनाध्यक्षेण धीमता॥ ७ ॥
यदि नाम न शक्येयं समावस्तुं त्वयाऽनघ।
तपसा वा महाबाहो प्रत्यानेतु त्वमर्हसि॥ ८ ॥
त्वं तु लङ्केश्वरस्तात भविष्यसि न संशयः।
सर्वेषा नः प्रभुश्चैव भविष्यसि महाबल॥ ९ ॥

जब सुमाली नामक राक्षसने, उन रावणादिको ब्रह्म वरदानित, सुना। तब सकुटुम्ब–ससेवक सब भय और चापल्यको त्यागकर तैयार होकर उठ खड़ा हुआ। तब चण्ड, माली, प्रहस्त, महोदर, विरूपाक्ष आनुचर्यसे उसके पास स्थिर होकर खड़े हो गये। वह, सब राक्षस श्रेष्ठोंके, सचिवोंके साथ चला और रावणके निकट जाकर आलिंगन करके बोला—॥ १-३ ॥ हे पुत्र, भाग्यसे तुमने यह चिन्तित मनोरथ प्राप्त किया। त्रिभुवनमें सर्वश्रेष्ठ वरदान प्राप्त किया॥ ४ ॥ जिस विष्णुके भयके कारणसे हम लंका त्याग पाताल आये। हे महाबाहो वह भय हमारा अब दूर हो गया॥ ५ ॥ उस विष्णुके बार-बार खदेड़नेसे हम लोग अपना गृह लंका छोड़कर पाताल आये। हमारी, राक्षससेविता, वह लंका नगरी है। जिसमें तुम्हारा मतिमान् भाई कुबेर आजकल रहता है। यदि, आप उसमें किसी कारणसे न रहने पावें तो आप, निष्पाप, रावण, उस नगरी (लंका) को तपस्यासे लौटानेके लिये भी समर्थ हैं। हे तात, तुम लंकेश्वर

दशग्रीव उवाच—

अथाऽब्रवीद्दशग्रीवो मातामहमुपस्थितम् ।
वित्तेशो गुरुरस्माकं नार्हस्येवं प्रभाषितुम् ॥ १० ॥
इत्येवमुक्तः स तदा सुमाली रावणेन हि ।
नोवाच किञ्चिदत्रैव न्यवसत् स सुहृद्वृतः ॥ ११ ॥
कस्य चित् त्वथ कालस्य वसन्तं तत्र रावणम् ।
प्रहस्तः प्रश्रितं वाक्यमिदं राक्षसमब्रवीत् ॥ १२ ॥

प्रहस्त उवाच—

दशग्रीव महाबाहो यत् पुरा प्रोक्तवानसि ।
वित्तेशो गुरुरस्माकं वाक्यमेतन्निबोध मे ॥ १३ ॥
महावीर महाबाहो नार्हस्त्वं वक्तुमीदृशम् ।
सौभ्रात्रं नास्ति वीराणां शृणु भूयो वचश्च मे ॥ १४ ॥
अदितिश्च दितिश्चैव द्वे एते सहिते किल ।
भार्ये परमरूपिण्यौ कश्यपस्य प्रजापतेः ॥ १५ ॥
अदित्यां जज्ञिरे देवास्तदा त्रिभुवनेश्वर ।
दितिश्चाजनयद्दैत्यान् कश्यपादात्मसम्भवान् ॥ १६ ॥
दैत्यानां किल धर्मज्ञ पूरियं सवनार्णवा ।
आसीत् सर्वैर्वृता भूमिस्तेऽभवन् प्रभविष्णवः ॥ १७ ॥
ततस्ते निहताः सर्वे विष्णुना प्रभविष्णुना ।
देवानां तु वशं नीतं त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥ १८ ॥

होगे—इसमें सन्देह नहीं है। हे महाबल, तुम हम सबके स्वामी होगे ॥ ४-९ ॥ यह बात श्रवण करके रावणने कहा—हे मातामह, कुबेर मेरे पूज्य हैं उन्हें ऐसा कहना उचित नहीं। रावणके द्वारा इस प्रकार भाषित सुमाली चुप हो गया और मित्रोंके साथ वहीं रहने लगा ॥ १०-११ ॥ रावणके समीप निवास करते जब कुछ समय बीता। तब प्रहस्तने नम्र वचन रावणसे कहे—॥ १२ ॥ हे महाबाहो, जो आपने पहले कहा था कि कुबेर मेरे पूज्य हैं। इस बातको मुझसे सुनो। हे महाबाहो, आप इस प्रकारके वाक्य कहनेके योग्य नहीं हैं, क्योंकि, वीरोंका सौभ्रात्र (भाई चारा) नहीं होता है। इस विषयमें मेरे वचन पुनः सुनो ॥ १३-१४ ॥ कश्यप मुनिकी अतिरूपिणी दो भार्याएँ थीं। उनके नाम दिति तथा अदिति थे। हे त्रिलोकेश्वर, उन कश्यप मुनिसे उत्पन्न दितिके पुत्र दैत्य हुए और अदितिके पुत्र आदित्य हुए ॥ १५-१६ ॥ हे देव, सवन, ससमुद्र, लंकाकी भूमि हे धर्मज्ञ, पहले दैत्योंकी थी। फिर विष्णुकी शक्तिसे उन देवोंने राक्षसोंको मार भगाया तब तीनों लोकके स्वामी देवगण हो गये। इसी प्रकार

तथा वैरमपर्याप्तं गरुडस्योरगैः सह ।
भ्रातृभिः संप्रयुक्तं वै संहारो यस्य नाभवत् ॥ १९ ॥
नैतदेको भवामद्य करिष्यति विपर्ययम् ।
सुरैराचरितं पूर्वं कुरुष्वैतद्वचो मम ॥ २० ॥
एवमुक्तो दशग्रीवः प्रहस्तेन महात्मना ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु वाढमित्येव सोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥
स तु तेनैव हर्षेण तस्मिन्नहनि वोर्यवान् ।
लङ्कां गतो दशग्रीवः सह तैः क्षणदाचरैः ॥ २२ ॥
त्रिकूटस्थः स तु तदा दशग्रीवो महाबलः ।
प्रेषयामास दौत्येन प्रहस्तं वाक्यकोविदम् ॥ २३ ॥
प्रहस्त शीघ्र तं गत्वा ब्रूहि राक्षसपुङ्गव ।
वचनान्मम वित्तेशं सामपूर्वमिदं वचः ॥ २४ ॥
इय लङ्कापुरी राजन् राक्षसानां महात्मनाम् ।
निवासो देवविहितः सर्वलोकपरिश्रुतः ॥ २५ ॥
किंचित् कारणमुद्दिश्य त्यक्ताऽसीद्राक्षसैरियम् ।
ते पुनः समये प्राप्ते स्वं निवासमुपागताः ॥ २६ ॥
त्वया निवेशिता चेयं तत् ते न सदृशं कृतम् ।
तद्भवान् यदि नामैतां दद्यादतुलविक्रमे ॥ २७ ॥
कृता मम भवेत् प्रीतिर्धर्मश्चैवानुपालितः ।
इत्युक्तः स तदा गत्वा प्रहस्तो वाक्यकाविदः ॥ २८ ॥

गरुड़ और सापोंका—भाई-भाईका झगड़ा है। जिसका निर्णय आजतक नहीं हुआ ॥१७-१९॥ आप अकेले इन झगड़ोंका निर्णय नहीं कर सकते। जैसा देवोंने पहले राक्षसोंके साथ व्यवहार किया है। वैसा ही व्यवहार आप कर सकते हैं—उनके साथ। इस प्रकार प्रहस्त के द्वारा कहा गया वह रावण, क्षणभर सोचकर बोला—ठीक है ॥२१॥ क्षणदाचरों (राक्षसों) के साथ वह बलिष्ठ रावण उसी दिन हर्षसे लंकाको गया। त्रिकूट पर्वतपर स्थित होकर उस महा बली रावणने दौत्य (दूतकार्य) में वाक्यपण्डित प्रहस्तको कुबेरके समीप भेजा ॥ २२-२३॥ हे राक्षस श्रेष्ठ, प्रहस्त, तुम शीघ्र कुबेरके समीप जाकर साम (नीति) युक्त मेरे वचनोंसे उससे (समझाते हुए) यह बात कहना ॥ २४ ॥ हे राजन् ! यह लंकापुरी महात्मा राक्षसोंकी है—ऐसा देवोंके द्वारा किया हुआ निर्णय सर्वलोक प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥ कुछ थोड़ेसे कारणसे राक्षसोंने नगरी छोड़ दी थी। वे लोग पुनः, समयके प्राप्त होनेपर, निवास स्थानको आ गये हैं ॥ २६ ॥ आपने इसमें निवास करना प्रारम्भ किया है—यह उचित नहीं है। यदि आप इसे अतुल विक्रमशाली (रावण) को दे दें तो अनुपालित धर्म और

दशग्रीववचः सर्वं वित्तेशाय न्यवेदयत् ।
प्रहस्तादभिसंश्रुत्य सर्वं वैश्रवणो वचः ॥ २९ ॥

वैश्रवण उवाच—

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः प्रहस्तं स निशाचरम् ।
सर्वं कर्ताऽस्मि भद्रं ते राक्षसेशवचोऽचिरात् ॥ ३० ॥
किन्तु तावत् प्रतीक्षस्व पितुर्यावन्निवेदय ।
एवमुक्त्वा धनाध्यक्षो जगाम पितुरन्तिकम् ॥ ३१ ॥
अभिवाद्याब्रवीत् तं च रावणस्य यदीप्सितम् ।
एष तात दशग्रीवो दूतं प्रेषितवान्मम ॥ ३२ ॥
ममेयं दीयतां लङ्का पूर्वं रक्षोगणोषिता ।
तन्मया यदनुष्ठेयं तदाचक्ष्व ममानघ ॥ ३३ ॥
धनदेनैवमुक्तस्तु विश्रवा मुनिपुङ्गवः ।
सोऽब्रवीद्वचनं तत्र शृणु पुत्र वचो मम ॥ ३४ ॥

विश्रवा उवाच—

दशग्रीवो ममाप्येतदुक्तवान् मुनिसन्निधौ ।
मया निर्भर्त्सितः सोऽपि बहुधोक्तः सुदुर्मतिः ॥ ३५ ॥
क्रोधेन च पुनश्चोक्तो ध्वंस ध्वंसेति वै मुहुः ।
तच्छृणुष्व वचः पुत्र मम धर्मार्थसंहितम् ॥ ३६ ॥
वरप्रदानात् संमूढो धर्माधर्मं न वेद सः ।
न बिभेति च मे शापात् प्रकृतिं दारुणां गतः ॥ ३७ ॥

प्रीति (आपसमें) बनी रहेगी। इस प्रकार रावण कथित वाक्योंको वाक्यपण्डित प्रहस्तने कुबेरसे पूर्णरूपेण कह दिया। प्रहस्तसे ये वचन श्रवणकर वाक्यज्ञ कुबेरने कहा—मैं तुम्हारे राक्षसेश के सब वचनोंको शीघ्र कर दूँगा किन्तु, जबतक मैं पिताजोसे निवेदन न कर लूँ तबतक आप प्रतीक्षा करें। इस प्रकारसे कहकर कुबेर पिताके समीप गये ॥ २७-३१ ॥ पिताजोसे प्रणाम करके उन्होंने रावणकी इच्छा उनसे कह दी। हे निष्पाप, पिताजो रावणने दूतसे मेरे समीप कहलाया है कि लंकामें राक्षसगण रहते थे। इस कारण यह नगरी मुझे दे दो ॥ ३२-३३॥ कुबेर से प्रार्थित विश्रवा मुनिने उत्तररूपमे कहा—हे पुत्र, मेरे वचन सुनो ॥ ३४ ॥ दशग्रोवने मुनियोंके सामने मुझसे भी यही बात कही थी। मेरे द्वारा वह निर्भसित किया गया है तथा डांटा गया है। अन्त में क्रोधसे मैंने कह दिया—जाओ, नष्ट हो। हे पुत्र, मैंने उससे जो धर्मयुक्त वचन कहा उसे तुम सुनो ॥ ३५-३६ ॥ वरदानसे मोहित वह धर्म-अधर्म नहीं जानता है। न वह मेरे शापसे डरता है। उसकी प्रकृति दारुण हो गयी है ॥ ३७ ॥ इस कारणसे तुम

तस्मात् प्रयाहि भद्रं ते कैलासं धरणीधरम् ।
निशामय निकेतार्थं त्यज लङ्कां सहानुगः ॥ ३८ ॥
तत्र मन्दाकिनी नाम नदीनां प्रवरा नदी ।
काञ्चनैः सूर्यसंकाशैः पङ्कजैर्मण्डितोदका ॥ ३९ ॥
तत्र देवाः सगन्धर्वाः साप्सरोगणकिन्नराः ।
विहारशीलाः सततं रमन्ते धरणीधरे ॥ ४० ॥
रमस्व पुत्र त्वमपि रम्ये तस्मिन् शिलोच्चये ।
न हि क्षेमं तवानेन वैरं धनद रक्षसा ॥ ४१ ॥
जानीषे च यथा तेन लब्धः परमको वरः ।
तथेत्युक्त्वा स पितरमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ४२ ॥
ययौ लङ्कां पुनस्तूर्णं प्रहस्तं चेदमब्रवीत् ।
ब्रूहि गच्छ दशग्रीवं पुरीं राज्यं च यन्मम ॥ ४३ ॥
तवाप्येतन्महाभाग भुङ्क्ष्वैनं गतकण्टकम् ।
अविभक्तं त्वया सार्धं राज्यं यच्चास्ति मे वसु ॥ ४४ ॥
अहं गच्छामि कैलासं निवासाय सहानुगः ।
लङ्कामावस भद्रं ते स्वधर्ममनुपालय ॥ ४५ ॥
एवमुक्त्वा धनाध्यक्षो बलेन महता तदा ।
सपौरदारः सामात्यः सवाहनधनागतः ॥ ४६ ॥
प्रहस्तोऽथ दशग्रीवं गत्वा वचनमब्रवीत् ।
प्रहृष्टात्मा महात्मानं सहामात्यं सहानुगम् ॥ ४७ ॥

कैलास पर्वतपर अनुचरसहित चले जाओ। इसीमें तुम्हारा हित है तुम, लंका नगरी छोड़ दो। वहाँ कैलास पर्वतपर प्रवरा मन्दाकिनी नदी बहती है। वह नदी सूर्य प्रभा तुल्य स्वर्णकमलोंसे शोभित है ॥ ३८-३९ ॥ उस कैलास पर्वतपर-देव-गन्धर्व-अप्सराएँ, किन्नर सदा रमण करते हैं—विहारशील होकर रमण करते हैं ॥ ४० ॥ हे पुत्र, तुम भी उस रम्य पर्वतपर रमो। तुम्हारा इस रावणके साथ वैर भला नहीं ॥ ४१ ॥ तुम जानते ही हो कि वह वरदान प्राप्त कर चुका है। इस बातको श्रवणकर धनेशने कहा—हे पिताजी, आज्ञा स्वीकार है और प्रणाम करके वे लंका चले गये। वहाँ शीघ्र प्रहस्तको बुलाकर उन्होंने कहा—हे प्रहस्त, दशग्रीवके समीप जाकर कहो—हे रावण, यह लंका पुरी और राज्य सब तुम्हारा है। हे महाभाग इसे निष्कण्टक भोगो। जो कुछ धन-राज्य है वह तुम्हारे साथ ही मेरा है ॥ ४२-४४ ॥ मैं सब अनुचरोंके साथ निवासार्थं कैलास जाता हूँ। तुम लंकामें आकर रहो अपने धर्मका पालन करो। भली प्रकार करो। इस प्रकार कहकर कुबेर बड़ी सेनाके साथ तथा पुरवासी, स्त्री, अमात्य, वाहन-धनके साथ, कैलास चले गये ॥ ४५-४६ ॥ प्रहस्तने दशग्रीवके समीप

शून्या सा नगरी लङ्का त्यक्त्वैनां धनदो गतः ।
प्रविश त्वं महाबाहो स्वधर्ममनुपालय ॥ ४८ ॥
एवमुक्तः प्रहस्तेन दशग्रीवो निशाचरः ।
निवेशयामास पुरीं सभ्राता सपदानुगः ॥ ४९ ॥
धनदेन परित्यक्तां संविभक्तमहापथाम् ।
स चाभिषिक्तः क्षणदाचरैस्तदा
निवेशयामास पुरीं दशाननः ।
निकामपूर्णा च बभूव सा पुरी
निशाचरैर्नीलवलाहकोपमैः ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

जाकर कहा—हे रावण, प्रहृष्टात्मा, कुबेर, महात्माओं, अमात्यों, अनुचरोंके साथ लंकाको छोड़कर चले गये । अब लंका सूनी है । हे महाबाहो, तुम उसमें प्रवेश करो और अपने धर्मका पालन करो ॥४७-४८॥ प्रहस्तसे इस प्रकार कथित रावण अनुचरोंके भ्राता सहित उस लंकामें गया । जिसे कुबेरने त्याग दिया था और जिसमें बड़े-बड़े मार्ग स्थान-स्थानपर संविभक्त थे ॥ ४९ ॥ राक्षसोंसे अभिषिक्त वह रावण लंका नगरीमें गया वह पुरी नीलेमेघ तुल्य राक्षसोंसे परिपूर्ण थी—उसमें रावण निवास करने लगा ॥५०॥ पञ्चविंश अध्याय समाप्त

●

अथ षड्विंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच ।

अत्र श्याम दशग्रीवो गोकर्णेश्वरसन्निधौ ।
तपस्यां परमां कृत्वा त्रैलोक्ये दुर्जयोऽभवत् ॥ १ ॥
देवेन्द्रं स्ववशे कृत्वा जित्वा सर्वान् महीपतीन् ।
नागलोकं वशे कृत्वा तस्थौ लोकेश्वरो बली ॥ २ ॥

अगस्त्यने कहा—हे श्याम, गोकर्णेश्वरके समीप दशग्रीवने परम तपस्याकी जिससे वह त्रैलोक्यमें दुर्जय हो गया ॥ १ ॥ उसने देवेन्द्रको, सब राजाओंको, नागलोकको वशमें कर लिया तथा लोकेश्वर होकर रहने लगा ॥ २ ॥ मार्कण्डेयने कहा—हे जैमिने,

मार्कंण्डेय उवाच—

जैमिने मुनिशार्दूल स मुनिः कुम्भसम्भवः ।
दशग्रीवसमुत्पत्तिमुक्त्वा कारुणिकेश्वरम् ॥ ३ ॥
मुनिभिर्वेष्टितो भूत्वा ययौ चन्द्रसमन्वितः ।
चन्द्रमास्तत्र दानानि दत्वा कारुणिकेश्वरम् ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा स प्रययौ धीरो द्रष्टुं वै वज्रयोगिनीम् ।
वज्रां देवीं समभ्यर्च्य यथाविभवविस्तरैः ॥ ५ ॥
द्रष्टुं नारायणं देवं ययौ दोलागिरिं विधुः ।
अनन्तलिङ्गमालोक्य सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ६ ॥
पुनः कुम्भेश्वरं द्रष्टुं जगामागस्त्यसंयुतः ।
गत्वा किं चित् ततो दूरं विश्रान्तोऽगस्त्यसंयुतः ॥ ७ ॥
ततो जलाशये एकश्चटकः सलिलं तदा ।
पातुं समागतं वीक्ष्य श्येन एकः प्रधावितः ॥ ८ ॥
श्येनो गृहीत्वा चटकं दृष्ट्वा चन्द्रः कृपान्वितः ।
त्याजयामास चटकं चन्द्रमा मनिपुङ्गव ॥ ९ ॥
मुमूर्षुं चटकं दृष्ट्वा चन्द्रमास्तं जलाशये ।
स्थापयामास कृपया घटसम्भवसंयुतः ॥ १० ॥
प्राणांस्तत्याज चटकस्तस्मिँस्तीर्थे मनोहरे ।
ततो दिव्यतनुर्भूत्वा तप्तकाञ्चनभूषणः ॥ ११ ॥
बभूव चटकः सद्यस्तत्र त्यक्त्वा कलेवरम् ।
शिवरूपधरास्तत्र शिवदूताः समागताः ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ, अगस्त्यजीने दशग्रीवकी उत्पत्तिको तथा कारुणिकेश्वरवर्णनको कहकर मुनियोंके साथ चन्द्रसहित वहाँ प्रस्थान कर दिया । चन्द्रमादेव कारुणिकेश्वरमें दान देकर एवं कारुणिकेश्वरके दर्शनकर वहाँसे उन लोगोंके साथ वज्रयोगिनीके दर्शनार्थ चल पड़े ॥५॥ यथा स्थितिके अनुरूप वज्रयोगिनीकी पूजा करके नारायणके दर्शनार्थं चन्द्रमा दोलागिरिको गये । सर्वपापनाशक अनन्तलिंगके दर्शन करके अगस्त्यमुनिके साथ श्री कुम्भेश्वरके दर्शनको गये । कुछ दूर जाकर अगस्त्यजीके साथ विश्राम किया । वहाँपर एक जलाशयपर एक चटक पक्षी जल पीने गया । उसी समय एक श्येन (बाज) उस पक्षीपर झपटा ॥ बाजने चटकको पकड़ा । उसी समय कृपार्द्र चन्द्रमाने देखा और पक्षीको बाजसे छुड़ा दिया । हे मुनिश्रेष्ठ, चन्द्रमाने अगस्त्यके साथ उस पक्षीको, कृपाकरके जलाशयपर स्थापित कर दिया । उस मनोहर तीर्थपर चटकने प्राण त्याग दिये । तब दिव्यस्वर्ण भूषणधारी शरीरको धारण करके चटक (अपने पुराने कलेवरको छोड़कर) शोभित

विमानवरमादाय ज्वलत्पकतेजसः ।
विमाने स्थापयामासुर्विद्याधरमिवापरम् ॥ १३ ॥
चामरैर्वीज्यमानं तं द्वितीयमिव भास्करम् ।
विस्मितोऽभूत् क्षपानाथो मुनिभिः परिवारितः ॥ १४ ॥
भूत्वा च विस्मितश्चन्द्र उवाच घटसम्भवम् ।
स्थापयिष्यामि तीर्थेऽस्मिन् शिवलिङ्गं मनोहरम् ॥ १५ ॥
चटकस्य चरित्रं हि दृष्ट्वा हर्षसमागतः ।
चन्द्रस्य वचनं श्रुत्वा प्राह वै घटसम्भवः ॥ १६ ॥
स्थापयात्र महालिङ्गं तीर्थे परमदुर्लभे ।
ततो विधुर्मुनिप्रोक्तैमन्त्रैः परमपावनैः ॥ १७ ॥
स्वनाम्ना स्थापयामास लिङ्गं विभवविस्तरैः ।
स्थापनादेव लिङ्गस्य निशानाथः स्वकां प्रभाम् ॥ १८ ॥
प्रतिपेदे मुनिश्रेष्ठमुनीनामग्रतस्तदा ।
ततः प्रोवाच भगवानगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ १९ ॥

अगस्त्य उवाच—

श्रृण्वन्तु मुनयः सर्वे यथार्थं वचनं मम ।
सोमेन स्थापितं यस्माच्छिवलिङ्गमनुत्तमम् ॥ २० ॥
सोमलिङ्गं ततो विप्रा नाम चास्य भविष्यति ।
नरश्चटकतीर्थे हि स्नात्वा भक्तिपरायणः ॥ २१ ॥
सोमलिङ्गप्रभुं दृष्ट्वा मुच्यते घोरकिल्विषात् ।
चतुर्दश्यां सोमवारे सोमलिङ्गं वरं भुवि ॥ २२ ॥

हुआ । वहाँ शिवरूपधारी शिवदूत आये । ज्वलत् अग्नितुल्य तेजवाले विमान लाकर उसपर दूसरे विद्याधरके समान उसको बैठा दिया ॥ ६-१३ ॥ दूसरे सूर्यके समान उसे चामर डुलाते हुए उसे ले चले । मुनिवेष्टित चन्द्र यह बात देखकर विस्मित हो गया । विस्मित चन्द्रने अगस्त्यसे कहा—इस तीर्थमें मनोहर शिवलिंगको स्थापित करूँगा ॥१५॥ चटकके चरित्रको देखकर हर्षित अगस्त्यने चन्द्रके वचन श्रवणकर कहा—हे चन्द्र, इस परम दुर्लभ क्षेत्रमें महालिंगकी स्थापना करो । तब चन्द्रने परमपवित्र मुनिकथित मन्त्रोंसे अपने नामसे विस्तारके साथ विभव युक्त शिवलिंग स्थापित किया—स्थापनाके पश्चात् ही चन्द्रने मुनियोंके सामने अपनी कान्ति प्राप्त कर ली । तब भगवान् अगस्त्यने कहा— ॥ १४-१९ ॥ हे मुनियो, सुनिये—मेरे यथार्थ वचनोंको । सोम (चन्द्र) स्थापित शिवलिंगका नाम, हे विप्रो, सोमलिंग है । जो नर चटक तीर्थमें स्नान करके भक्तिसे सोमलिंगका दर्शन करेगा वह सब पापोंसे छूट जायगा । जो चतुर्दशी सोमवारको दर्शन

ये च द्रक्ष्यन्ति मनुजास्तेषां सिद्धिः करस्थिता ।
हेलयाऽपि च ये लोः सोमलिङ्गं शुभोदयम् ॥ २३ ॥
द्रक्ष्यन्ति सोमवारे वैतेऽपि स्युः शिववल्लभाः ।
तीर्थे हि कलविङ्कस्य जलस्पर्शेन मानवः ॥ २४ ॥
मुच्यते घोरपापेभ्यो नात्र कार्या विचारणा ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं शृण्वन्तु मुनयो वचः ॥ २५ ॥
सोमलिङ्गस्य भक्तानां नापत् कुत्रापि वर्तते ।
सोमलिङ्गस्य भक्तानां धनधान्यं भविष्यति ॥ २६ ॥
इत्यत्क्वा स मुनीन् सर्वानगस्त्यः कुम्भसम्भवः ।
उवाच चन्द्रं विधिवत् पूजयाशु महेश्वरम् ॥ २७ ॥
चतुर्वेदोक्तमन्त्रैश्च मुनीनां मुखनिःसृतैः ।
पूजयामास विधिवत् सोमलिङ्गं कलानिधि. ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

पूजयित्वा यथान्यायं चन्द्रः सोऽगस्त्यसंयुतः ।
मुनिभिर्वेष्टितो भूत्वा कुम्भेश्वरशिवं ययौ ॥ २९ ॥
कुम्भेश्वरं पूजयित्वा स मुनिः कुम्भसम्भवः ।
हरसिद्धि समालोक्य दक्षिणाशां ययौ तदा ॥ ३० ॥
चन्द्रोऽपि निर्मलो भूत्वा स्वर्लोकं प्रजगाम हि ।
यज्ञभागं ययुः सर्वे मुनयो लोकपूजिताः ॥ ३१ ॥
स्वं स्वं स्थानं ययुः सर्वे मुनयो लोकपूजिताः ।
सोमलिङ्गसमुत्पत्ति यः शृणोति नरोत्तमः ॥ ३२ ॥

करेंगे । उनके हाथमें सिद्धि, मानो, रखी है । खेलमें भी जो इनका दर्शन सोमवारको करेंगे वे शिववल्लभ हो जायेंगे । कलविङ्क तीर्थमें जलस्पर्शसे मनुष्य निःसन्देह घोर पापोंसे रहित हो जाते हैं । हे मुनियो, ये वचन सत्य हैं—सत्य हैं ॥ २०-२५ ॥ सोमलिंगके भक्तोंको विपत्ति नहीं आती । सोमलिंग भक्त धनधान्यसे सुखी रहते हैं । इस प्रकार अगस्त्यने मुनियोंसे कहकर चन्द्रसे कहा—हे चन्द्र, सोमनाथकी पूजा विधिसे करो ॥ २६-२७ ॥ चन्द्रने मुनियोंके मुखसे निःसृत चारवेदोंके मन्त्रोंसे विधिवत् सोमलिङ्गका पूजन किया ॥ २८ ॥ अगस्त्यके साथ चन्द्रने मुनिवेष्टित होकर विधानतः सोमलिंगकी पूजा की । ततः वे लोग श्री कुम्भेश्वरको गये । अगस्त्यने कुम्भेश्वरकी पूजा करके हरसिद्धिकी पूजा करके दक्षिणकी ओर गये ॥ २९-३० ॥ चन्द्र भी निर्मल होकर स्वर्ग गये और सर्वदेव पूजित होकर अपने यज्ञभागको पाने लगे ॥ ३१ ॥ सब लोकपूजित मुनि अपने-अपने स्थान चले गये । जो नर सोमलिंगकी उत्पत्ति सुनता है ।

इह लोके सुखं भुक्त्वाऽप्यन्ते स्वर्गमवाप्नुयात् ।
प्रायः कलियुगे कोऽपि सोमलिङ्गस्य तत्त्वतः ॥ ३३ ॥
न वेद महिमानं वै जैमिने मुनिसत्तम ।
इति ते कथितं विप्र किमन्यच्चच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ३४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

वह यहाँ सुख भोगकर स्वर्ग जाता है । हे जैमिने, मुनिश्रेष्ठ, कलियुगमें प्रायः कोई भी सोमलिंगकी महिमा तत्त्वसे नहीं जानते हैं । हे विप्र, यह महिमा तुमसे कह दी । अब और क्या सुनना चाहते हो ॥ ३२-३४ ॥

●

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

सूत उवाच ।

मार्कण्डेयमुखोद्भूतं सोमेश्वरसमुद्भवम् ।
श्रुत्वा तुष्टतमो भूत्वा जैमिनिः पर्यपृच्छत ॥ १ ॥

जैमिनिरुवाच ।

मार्कण्डेय महाभाग साधुसाधुमुनीश्वर ।
त्वद्वक्त्राम्बुजनिर्यातां कथाममृतरूपिणीम् ॥ २ ॥
पिबतो नास्ति मे तृप्तिः सन्तोषश्च परोऽभवत् ।
सोमलिङ्गसमुत्पत्तिं दशग्रीवकथान्विताम् ॥ ३ ॥
श्रुत्वा मे परमस्तोषो जातश्च मुनिसत्तम ।
अन्यान्यपि च लिङ्गानि सोमलिङ्गसमानि च ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय मुनिके मुखसे उद्भूत सोमेश्वर उत्पत्तिको श्रवणकर सन्तुष्ट जैमिनिने पूछा—॥ १ ॥ हे मार्कण्डेय महाभाग, आप धन्य हैं । हे मुनीश्वर, आपके मुखकमलसे निःसृत कथारूपी अमृतको पीते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती । सन्तोष भी अधिक नहीं होता है । दशग्रीवकथासे युक्त सोमलिंगकी उत्पत्तिको श्रवणकर मुझे अधिक सन्तोष हुआ । हे मुनिश्रेष्ठ, सोमलिंगके समान अन्य जो लिंग श्लेष्मान्तक वनमें हैं । हे ब्रह्मन् ! आप उनकी कथा मुझसे कहें—इस प्रकार जैमिनिकी प्रार्थनासे प्रेरित होकर मुनिश्रेष्ठ

ब्रह्मन् कथय मे भूयः श्लेष्मान्तकवने मुने ।
इति जैमनिवाक्येन प्रेरितो मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय चवाच—

मार्कण्डेयो महाभागः पुनराह कथां शुभाम् ।
जैमिनेऽहं प्रवक्ष्यामि भृङ्गीश्वरसमुद्भवम् ॥ ६ ॥
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
पुरा कैलासशिखरे नानाधातुविचित्रिते ॥ ७ ॥
नानानिर्झरणोपेते नानाद्रुमसमन्विते ।
अप्सरोगणसंकीर्णे सिद्धविद्याधरान्विते ॥ ८ ॥
मन्दाकिनीस्वर्णपद्मसमूहैश्च विराजिते ।
कामधेनुसमाकीर्णे कल्पद्रुमसमन्विते ॥ ९ ॥
नानापक्षिनिनादेन सदा श्रुतिमनोहरे ।
नानाविधैः शिवगणैः समन्तात् परिवेष्टिते ॥ १० ॥
व्याघ्राननैर्विडालस्यैः शार्दूलवदनैस्तथा ।
अपादैर्बहुपादैश्च ह्रस्वपादैस्तथैव च ॥ ११ ॥
अकर्णैर्बहुकर्णैश्च गोकर्णैः खरकर्णकै ।
अश्वकर्णैरुष्ट्रकर्णैर्गजकर्णैर्महोदरैः ॥ १२ ॥
कुब्जैर्वानरकंर्दीर्घैर्विकटैर्दन्तुरैस्तथा ।
उदरास्यैर्महास्यैश्च बहुहस्तैस्तथैव च ॥ १३ ॥
वानरास्यैर्वराहास्यैर्हस्तशून्यैस्तथैव च ।
एवंविधगणैस्तत्र समन्तात् परिवारिते ॥ १४ ॥

मार्कण्डेयजीने पुनः शुभ कथा कही—उन्होंने कहा—हे जैमिने, मैं तुम्हें भृङ्गीश्वरकी उत्पत्ति सुनाता हूँ ॥ २-६ ॥ जिसके श्रवणमात्रसे सर्वपाप दूर हो जाते हैं । प्राचीन कालमें—अनेक धातुओंसे चित्रित, अनेक झरनोंसे युक्त, अनेक वृक्षोंसे शोभित, अप्सराओंसे व्याप्त, सिद्धविद्याधरोंसे भूषित, मन्दाकिनीके स्वर्णकमलोंसे मण्डित, कामधेनुसे संकीर्ण, कल्पद्रुमसे परिव्याप्त, कर्णमनोहर पक्षियोंके कूजनसे प्रफुल्लित, अनेक शिवगणोंसे परिवेष्टित, कैलास पर्वत था । उस पर्वतपर व्याघ्रमुख, विडाल (बिल्ली) मुख, शार्दूलमुखवालोंसे सेवित, अपाद, बहुपाद, ह्रस्वपादवालोंसे सेवित, अकर्ण, बहुकर्ण, गोकर्ण, खर (गदहा) कर्ण अश्वकर्ण, उष्ट्रकर्ण, गजकर्णवालोंसे सेवित, विशाल उदर वालोंसे, कुबडे, वानर, दीर्घ, विकट दन्तवालोंसे सेवित, उदरमुख तथा विशालमुखवालोंसे सेवित, अनेक हाथवालोंसे सेवित, वानरमुख, शूकर मुखवालोंसे तथा अहस्तवालोंसे सेवित, तथा विचित्रगणोंसे वेष्टित, व्याघ्रचर्मासीन, चन्द्रधवल भूषित, परमा-

व्याघ्रचर्मसमासीनं शशाङ्कधवलं शिवम् ।
विभूतिभूषितं त्र्यक्षं परमानन्दरूपिणम् ॥ १५ ॥
सुप्रसन्नमुखं दृष्ट्वा हसन्तं स्मितभाषिणम् ।
एकान्ते गिरिज देवी प्रणम्य च कृताञ्जलिः ॥ १६ ॥

पार्वत्युवाच—

विनायात् परिपप्रच्छ कौतूहलसमन्विता ।
देवदेव महादेव शशाङ्ककृतशेखर ॥ १७ ॥
कथां विचित्रां कथय कस्याप्यविदितां प्रभो ।
त्वत्तः श्रुत्वा कथां चित्रां सखीनामग्रतः प्रभो ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

वक्ष्येऽहं जगतां नाथ तासां तोषो भविष्यति ।
पार्वत्या वचनं श्रुत्वा विहस्य जगतां पतिः ॥ १९ ॥
नन्दिकेशं समाहूय वचनं चेदमब्रवीत् ।
यावद्देव्या कथा कुर्वे विचित्रे मन्दिरोत्तमे ॥ २० ॥
द्वारि स्थित्वा नन्दिकेश गणान् सर्वान् निवारय ।
महादेववचः श्रुत्वा नन्दिकेशः शिवाज्ञया ॥ २१ ॥
द्वाःस्थो भूत्वा गणान् सर्वान् वारयामास तत्क्षणात् ।
ततो विचित्रभवने सह देव्या महेश्वरः ॥ २२ ॥
गत्वा दत्वा कपाटं च कथां प्राह मनोहराम् ।
एतस्मिन्नन्तरे भृङ्गीतद्द्वारं समुपाययौ ॥ २३ ॥

नन्दरूधारी सुप्रसन्नमुख, तीन नेत्रधारी, स्मितभाषी, हँसमुख महादेवजीको एकान्तमें देखकर पार्वतीजीने हाथ जोड़कर प्रणाम करके कौतूहलसे पूर्ण होकर विनयसे पूछा—॥ ७-१६ ॥ हे देव, हे महादेव, हे चन्द्रशेखर, किसीसे भी न ज्ञात की हुई विचित्रकथा आप कहें। आपसे कथा सुनकर हे प्रभो, सखियोंके सामने ॥ १७-१८ ॥ हे जगन्नाथ, मैं, उसे कहूँगी तब उन्हें सन्तोष होगा। पार्वतीके वचन श्रवणकर, हँसकर शिवजीने ॥ १९ ॥ नन्दिकेश नामकगणको बुलाकर कहा—इस विचित्र मन्दिरमें जबतक मैं पार्वतीके साथ कथा कह रहा हूँ। तबतक हे नन्दिकेश तुम द्वारपर स्थित रहो और सब गणोंको यहाँ न आने दो। शिववाक्य श्रवणकर नन्दिकेश उनकी आज्ञासे द्वारपर स्थित हो गया और सब गणोंको वहाँ आनेसे रोक दिया। तब उस मन्दिरमें शिवजीने दरवाजा बन्द करके मनोहर कथा कहना प्रारम्भ किया। इसी समय भृंगीनामकगण वहाँ आया और भीतर अपने स्थानपर गया। क्षणभरमें सोच-विचार करके वह भौंरा बनकर जहाँ शंकरजी थे वहाँ गया ॥२०–२४॥ किवाड़ेकी सुराखसे वह भौंरा भीतर प्रविष्ट हो गया।

गत्वा स्वभवनं भृङ्गी चिन्तयित्वा क्षणार्धतः ।
भृङ्गरूपं समास्थाय ययौ तत्र महेश्वरः ॥ २४ ॥
कपाटच्छिद्रमार्गेण भृङ्गी तत्र विवेश ह ।
पार्वतीपुरतः प्रोक्ताः कथाश्चामृतसन्निभाः ॥ २५ ॥
प्रत्याह भृङ्गरूपेण भृङ्गी शुश्राव ताः कथाः ।
स्वस्त्रियै विजयानाम्न्यै प्रत्याह तां कथां वराम् ॥ २६ ॥
कथयामास भृङ्गी वै महादेवमुखाच्छ्रुताम् ।
एकदा गिरिजा देवी विचित्रासनसंस्थिता ॥ २७ ॥
विजयाद्याः सखी सर्वा प्रोवाच स्मितपूर्वकम् ।
कथयामि कथां दिव्यां कयाऽपि हि न च श्रुताम॥ २८ ॥
कृताञ्जलिपुटाः प्रोचुर्जयाद्या गिरिजां तदा ।
आज्ञापय महादेवि दैत्यदर्पनिषूदिनि ॥ २९ ॥
इति तासां वचः श्रुत्वा गिरिजा हरवक्त्रतः ।
निर्गतां कथयामास परमानन्दतस्तथा ॥ ३० ॥
सखीमध्यात् समुत्थाय विजया प्राह चण्डिकाम् ।
मयाऽपि ज्ञायते देवि कथय त्वं प्रसादतः ॥ ३१ ॥
कथयामि कथामुक्ता विजया प्रावदत् कथाम् ।
विजयावक्त्रतः श्रुत्वा कथां सा हरवल्लभा ॥ ३२ ॥
दुःखिताऽभूत् समुत्थाय ययौ च हरसन्निधौ ।
अतीव दुःखितां दृष्टवा शङ्करः प्राणवल्लभाम् ॥ ३३ ॥
प्रोवाच स्नेहपूर्वं हि विषण्णाऽसि कथं प्रिये ।
इति शम्भुवचः श्रुत्वा प्रोवाच गिरिजा रुषा ॥ ३४ ॥

वहाँ शंकर जी जो अमृत तुल्य कथा पार्वतीसे कह रहे थे उसे उसने श्रवण कर लिया तथा पुनः स्थानपर आकर उसने वह कथा अपनी भार्या विजयासे कह दी। एक दिन पार्वतीजी सुन्दर सिंहासनपर आसीन थीं उन्होंने हँसते हुए विजया आदि सखियोंसे कहा—हे सखियो, मैं आज एक कथा कहती हूँ जो किसीने भी नहीं सुनी है। तब जया आदि सखियोंने कहा—हे दैत्यनिषूदिनि, देवि, अवश्य वह कथा कहिये। उनके ऐसे वचन श्रवणकर देवीने शिवमुखसे सुनी कथा परम हर्षसे कहना शुरू किया ॥२५-३०॥ तब सखियोंके बीचमें से उठकर विजया नामक सखीने कहा—हे देवि, मैं भी इस कथाको जानती हूँ यदि आज्ञा हो तो सुना दूँ। देवीकी आज्ञा प्राप्त करके उसने कथा सुना दी। तब विजयाके मुखसे वह कथा श्रवणकर पार्वतीजी दुःखी होकर शिवजीके पास गयीं। पार्वतीको अति दुःखी देखकर शिवजीने प्रेमसे पूछा—हे प्रिये, दुःखी क्यों हो? तब शिवजीके वचन श्रवणकर पार्वतीजी बोलीं—उनका मुख उस समय बार-बार

स्फुरदोष्ठपुटद्वन्द्वा वेपमाना मुहुर्मुहुः ।
महादेव न जानामि हृदयं कुटिलं तव ॥ ३५ ॥
उक्ता कथा या भवता संगोपनपरेण च ।
मदग्रे जगतां नाथ त्वयैव विजयाऽपि च ॥ ३६ ॥
सखीनामग्रतो लज्जा मम जाता महेश्वर ।
इति तस्या वचः श्रुत्वा प्रोवाच गिरिजां हरः ॥ ३७ ॥
मा विषीद वरारोहे यावद्ध्यानं करोम्यहम् ।
इत्युक्त्वा गिरिजां नाथो दध्यौ तस्मिन् क्षणे मुने ॥ ३८ ॥
ध्यात्वा तु कारणं ज्ञात्वा चाहूय भृङ्गिणं शिवः ।
क्रोधसंरक्तनयनः शशापाशु स भृङ्गिणम् ॥ ३९ ॥
त्वया कपटपूर्वं हि भृङ्गरूपेण चाधम ।
रहोवार्ता श्रुता यस्माद्देव्यग्रे च मयोदिता ॥ ४० ॥
अतो ध्वसेति कैलासान्मानुषो भव सर्वथा ।
शापं सुदारुणं लब्ध्वा भृङ्गी देवान्महेश्वरात् ॥ ४१ ॥

भृङ्ग्युवाच—

दण्डवत् प्रणिपत्याग्रे वचनं चेदमब्रवीत् ।
अजानता मया देव चरितं विप्रियं तव ॥ ४२ ॥
क्षन्तव्यो मेऽपराधस्तु देवदेव महेश्वर ।
मन्दस्य मम दुष्टस्य चापराधः पदे पदे ॥ ४३ ॥
अन्तरेण महादेव कः सहेतापरः प्रभुः ।
इति भृङ्गिवचः श्रुत्वा महादेवः कृपानिधिः ॥ ४४ ॥

क्रोधसे फड़क रहा था। हे शंकर, मैं जानती हूँ, नाथ, आपका हृदय बड़ा कुटिल है ॥ ३१-३५ ॥ जो कथा आपने मुझे गुप्तरूपसे सुनायी थी वही कथा आपने विजयासे भी कही थी। सखियोंके मध्यमें मुझे इस कारण लज्जित होना पड़ा। पार्वतीजीके इस कथनको श्रवणकर शंकरजीने कहा—हे उत्तमे, दुःख मत करो। मैं ध्यान लगाकर देखता हूँ। ऐसा कहकर हे मुने, शंकरजीने ध्यान लगाया ॥ ३६-३८ ॥ ध्यानसे देखकर शंकरजीने भृंगीको बुलाया और क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे शाप दे दिया। ऐ भृंगिन्—तुमने भौरेके कपटरूपसे मेरी एकान्त वार्ताको जो पार्वतीके साथ हुई थी सुना, अतः हे अधम कैलाससे हटकर तुम मनुष्य हो जाओ। भृंगीने महादेवजी के मुखसे भयंकर शाप श्रवणकर दण्डवत् करके कहा—हे प्रभो मैंने अनजानमें यह विप्रिय (अनुचित) कार्य कर दिया ॥३९-४२॥ हे ईश, मुझ दुष्टके अपराधको क्षमा करें। मुझे दुष्टसे पदे-पदे अपराध होता है। हे प्रभो, आपको छोड़कर मेरा अपराध और कौन सह सकता

मार्कण्डेय उवाच—

उवाच भृङ्गिन् मे वाक्यं न कदाऽपि मृषा भवेत् ।
पृथिव्यां ब्राह्मणो भूत्वा विद्यावान् धार्मिकः कृती ॥ ४५ ॥
नवलक्षमिता गाथाः कृत्वा रससमन्विताः ।
शिवलिङ्गं हि संस्थाप्य क्षेत्रे परमदुर्लभे ॥ ४६ ॥
मानुष्यं हि परित्यज्य कैलासं पुनरेष्यसि ।
इति शङ्करवाक्यान्ते भृङ्गी परमदुःखितः ॥ ४७ ॥
पतितः पृथिवीमध्ये स्वापराधेन जैमिने ।
पुत्रोऽभूद्विष्णुदत्तस्य मथुरायां सुतेजसः ॥ ४८ ॥
जातकर्मादिकं चास्य पिता चक्रे समाहितः ।
गुणाढ्य इति तन्नाम पृथिव्यां प्रथितं तदा ॥ ४९ ॥
पपाठ सकला विद्या मुने व्याकरणादिकाः ।
स सर्वशास्त्रवेत्ताऽभूद्गुणाढ्यो द्विजसत्तम ॥ ५० ॥
पितर्युपरते सोऽथ गुणाढ्यो गुणसंयुतः ।
ययावुज्जयिनीं धीरो मदनो यत्र भूपतिः ॥ ५१ ॥
आचार्यः सर्ववर्माऽभून्मदनद्वारि पण्डितः ।
स परीक्ष्य महाबुद्धिं गुणाढ्यं कविपण्डितम् ॥ ५२ ॥
कथयामास भूपाय सर्ववर्मा बुधोत्तमः ।
यथार्थनामा नृपते गुणाढ्योऽयं द्विजोत्तमः ॥ ५३ ॥
योग्योऽथ भवतो द्वारि वृत्तिरस्मै प्रदीयताम् ।
सर्ववर्मवचः श्रुत्वा राज्ञा सुस्थापितो द्विजः ॥ ५४ ॥

है । भृंगीकी ऐसी वाणीपर शंकरजीने कहा—हे भृङ्गिन्—मेरे वाक्य मिथ्या नहीं होते है । अतः पृथ्वीपर तुम ब्राह्मणरूपमें उत्पन्न होगे तथा नव लाख कथा रचकर, शंकर जीके लिंग परमदुर्लभ तीर्थमें मानुष शरीर त्यागकर कैलास आओगे । महादेवजीके इस वचनको श्रवणकर भृङ्गी पृथ्वीपर गिर पड़ा, परमदुःखी अपने अपराधसे हुआ । हे जैमिने, वह मथुरामें तेजस्वी विष्णुदत्तका पुत्र हुआ । पिताने उसके जातकर्मादि संस्कार कराये और उसका नाम गुणाढ्य रखा तथा उसे समस्त विद्याएँ, हेमुने, पढ़ायीं । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, वह गुणाढ्य सर्वशास्त्रवेत्ता हो गया । पिताके मरनेके पश्चात् गुणाढ्य उज्जयिनी नगर गया जहाँ राजा मदनका राज्य था ॥ ३९-५१ ॥ मदन भूपतिका, द्वारपर स्थित श्रेष्ठ विद्वान्, आचार्य सर्ववर्मा था । उसने गुणाढ्यकी परीक्षा करके राजा मदनसे कहा—हे राजन्, यह गुणाढ्य पण्डित यथार्थ नामवाले योग्य हैं । अतः आपके द्वारपर स्थित होने योग्य हैं । इन्हें वृत्ति दी जानी चाहिये । राजाने सर्ववर्माके

द्वारे मदनभूपस्य पण्डितः सर्वदा स्थितः ।
मुने मदनभूपस्य भार्याऽभूदतिसुन्दरी ॥ ५५ ॥
नाम्ना लीलावती देवी विद्या व्याकरणादिकाः ।
राजा व्याकरणं नैव जानाति मुनिपुङ्गव ॥ ५६ ॥
एकदा ग्रीष्मसमये घर्मार्तो मदनो नृपः ।
लीलावतीसमायुक्तो जलक्रीडां चकार हि ॥ ५७ ॥
जलाञ्जलिप्रदानेन परस्परमभीक्ष्णशः ।
चिक्रीडतुर्दम्पती तौ सखीभिः परिवारितौ ॥ ५८ ॥
जलाञ्जलिप्रदानेन खिन्ना लीलावती पतिम् ।
प्राह नाथ परिश्रान्ता मोदकं देहि सर्वथा ॥ ५९ ॥
प्रस्तावसदृशं वाक्यमबुध्वा नृपतिस्तदा ।
लड्डुका दापयामास नानारससमन्विताः ॥ ६० ॥
एतादृशं पतिं बुध्वा ज्ञानशून्यं मुने तदा ।
लीलावती जिहासोच्चैर्विषण्णा चाभवत् क्षणात् ॥ ६१ ॥
उच्चैर्हाससमायुक्ता विषण्णा तदनन्तरम् ।
व्रीडितोऽभून्नरपतिर्मदनो मुनिपुङ्गव ॥ ६२ ॥
एकान्ते सर्ववर्माणमाचार्यं पण्डितोत्तमम् ।
गुणाढ्यं च तथाऽऽहूय राजा वचनमब्रवीत् ॥ ६३ ॥

राजोवाच—

मत्पण्डितावुभावेव भवन्तौ गुणसंयुतौ ।
मया जलविहारेऽद्य लज्जा लब्धा कलत्रतः ॥ ६४ ॥

वचन श्रवणकर गुणाढ्यको नियुक्त कर दिया। वह पण्डित सदा मदनके द्वारपर स्थित रहता था। हे मुने मदननृपकी भार्या अति सुन्दरी थी ॥ ५२-५५ ॥ उसका नाम कलावती था। वह व्याकरणादि शास्त्रोंमें प्रवीण था। हे मुनिश्रेष्ठ, राजा मदन व्याकरणादिशास्त्र नहीं जानते थे। एक दिन ग्रीष्ममें राजा मदन घामसे व्याकुल होकर लीलावतीके साथ जलमें खेल रहे थे। परस्पर जलाञ्जलि प्रक्षिप्त कर रहे थे। वे लोग—राजा-रानी सखियोंके सहित उस समय जलक्रीड़ा कर रहे थे। बार-बार जलप्रक्षालनसे रानी थक गयीं और बोली—हे प्राणनाथ, मैं थक गयी हूँ। अब जल मत फेंकिये। नृपतिने उस वाक्यका अर्थ न जानकर मधुर लड्डू उसे दिये। हे मुने, इस प्रकारसे ज्ञानहीन पतिको ज्ञातकर, वह जोरसे हँसी, तथा खिन्न हो गयीं। रानीके, अट्टहास करके खिन्न होनेपर, राजा मदन लज्जित हो गये। एकान्तमें सर्ववर्मा पण्डितको तथा गुणाढ्य-को बुलाकर राजाने कहा—आप दोनों, पण्डितगण, गुणवान् हैं। हे पण्डितो, मैंने

प्राह लीलावती मां तु मोदकं देहि भूपते ।
इति तस्या वचः श्रुत्वा ततोऽहं द्विजसत्तमौ ॥ ६५ ॥
मोदकानां सहस्रं हि ददौ तस्यै क्षणार्धतः ।
सा जहास तदा राज्ञी विषण्णा चाभवत् क्षणात् ॥ ६६ ॥
ततो विषादो मे जातो लज्जा च महती पुनः ।
कोऽर्थो मोदकशब्दस्य भवेद्ब्राह्मणसत्तमौ ॥ ६७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहत्म्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

आज जलविहारमें रानीसे पराजय प्राप्त की है ॥ ५६-६४ ॥ लीलावतीने उस समय मुझसे कहा—हे प्राणेश्वर, मुझे मोदक दो। उसके ये वचन श्रवणकर मैंने उसे आधे क्षणमें ही एक सहस्र लड्डू दे दिये। तब वह रानी जोरसे हँसी, फिर और खिन्न हो गयी तब मुझे दुःख हुआ और बड़ी लज्जा हुई। हे दोनों द्विजो, इस 'मोदक' शब्दका क्या अर्थ है ॥ ६५-६७ ॥

अथ अष्टविंशोऽध्यायः

मार्कण्डेय उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा भूपतेर्द्विजसत्तमौ ।
ऊचतुर्युक्तिमद्वाक्यं भूपतिं वाक्यकोविदौ ॥ १ ॥

सर्ववर्मगुणाढ्यावूचतुः

राजँल्लीलावती राज्ञी गौडभूपस्य कन्यका ।
सा विद्या विविधा वेद काव्यव्याकरणादिकाः ॥ २ ॥
उदकं मा प्रयच्छेति तयोक्तं नृपसत्तम ।
अपां विहारे भवता प्रस्तावो नावधारितः ॥ ३ ॥
अतस्तया च हसितं नान्यदस्तीह कारणम् ।
एवं वचस्तयोः श्रुत्वा मदनः प्राह तौ पुनः ॥ ४ ॥

इस प्रकार उस भूपतिके वाक्य श्रवणकर, वाक्यपण्डित वे दोनों विद्वान् बोले—हे राजन्, रानी लीलावती गौडनरेशकी पुत्री हैं। वे अनेक विद्याओंकी—काव्य-व्याकरणादिकी पण्डिता है। हे नृप, उन्होंने कहा—हे नृपश्रेष्ठ, जल मत फेंकिये।

कालेन कियता विप्रौ ज्ञानं व्याकरणे मम ।
भवेत् तद्द्विजशार्दूलावेष मे संशयो महान् ॥ ५ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा गुणाढ्यः प्राह भूपतिम् ।
अब्दैर्द्वादशभिर्भूप ज्ञानं व्याकरणे तव ॥ ६ ॥
अहं हि कारयिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ।
गुणाढ्यवचनं श्रुत्वा सर्ववर्मा बुधाग्रणीः ॥ ७ ॥
राजानं प्राह राजेन्द्र ज्ञानं व्याकरणे तव ।
वर्षद्वयेन संपूर्णं कारयिष्याम्यहं किल ॥ ८ ॥

राजोवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा भूपतिः प्राह तं पुनः ।
यदि वर्षद्वयेनैव ज्ञानं व्याकरणे मम ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

कारयिष्यसि विप्रेन्द्र राज्यस्यार्धं ददामि ते ।
एवं तयोर्वचः श्रुत्वा गुणाढ्यः प्राह भूपतिम् ॥ १० ॥

गुणाढ्य उवाच—

यदि वर्षद्वयेनैव ज्ञानं व्याकरणे तव ।
सर्ववर्मा कारयति तदा शास्त्रं त्यजाम्यहम् ॥ ११ ॥
तुभ्यं दत्वा हि सर्वस्वं यास्यामि गहनं खलु ।
सस्कृतस्य परित्यागं यावज्जीवं करोम्यहम् ॥ १२ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा सर्ववर्मा द्विजोत्तमः ।
प्रतिज्ञापूर्वकं प्राह गुणाढ्यं गुणभूषितम् ॥ १३ ॥

जलमें विहारके समय आपने ध्यान नहीं दिया । इसलिये वे हँसी—और कोई कारण नहीं है । इस प्रकारसे उनके वचन श्रवणकर मदनराजाने कहा—हे पण्डितवरो, मुझे कितने समयमें व्याकरण आ जायगा इस विषयमें हे विज्ञो, महान् सन्देह है । गुणाढ्यने कहा—हे राजन्, बारह वर्षों में व्याकरणका ज्ञान आपको हो जायगा । मैं ज्ञान करा दूँगा आप विचार विमर्श न करें । गुणाढ्यके वचन श्रवणकर पण्डितवर सर्ववर्माने कहा—मैं आपको व्याकरणका ज्ञान दो वर्षोंमें करा दूँगा । इस प्रकार सर्ववर्माके वचन श्रवणकर राजाने उससे कहा—यदि आप मुझे दो वर्षोंमें व्याकरण पढ़ा देंगे तो मैं आपको आधा राज्य दे दूँगा । इस प्रकार उन दोनोंके वचन श्रवणकर गुणाढ्यने कहा—॥ १-१० ॥ यदि दो वर्षोंमें व्याकरणका ज्ञान सर्ववर्मा करा देंगे तो मैं शास्त्रको त्याग दूँगा ॥ ११ ॥ हे सर्ववर्मा, सब कुछ तुम्हें देकर वनको चला जाऊँगा । सदाके लिये संस्कृतका ज्ञान त्याग दूँगा । गुणाढ्यके ऐसे वचन श्रवणकर सर्ववर्माने कहा—यदि

यदि वर्षद्वयादर्वाग्ज्ञानं व्याकरणे दृढम् ।
न शक्यते मया कर्तुं नरेन्द्रस्य द्विजोत्तम ॥ १४ ॥
यावज्जीवं परित्यागं संस्कृतस्य करोम्यहम् ।
सर्वस्वं भवते दत्वा यास्यामि गहनं ध्रुवम् ॥ १५ ॥
इति प्रतिज्ञां कृत्वा हि समुत्थाय गृहं ययौ ।
रात्रावाराधयामास कुमारं हरनन्दनम् ॥ १६ ॥
धूपैर्दीपैश्च नैवेद्यैः परां भक्तिं समाश्रितः ।
प्रसन्नश्च कुमारोऽभून्निशीथे सर्ववर्मणे ॥ १७ ॥
तं विलोक्य नमश्चक्रे सर्ववर्मा द्विजोत्तमः ।
विनतं तं समालोक्य प्रोवाच हरनन्दनः ॥ १८ ॥

कुमार उवाच—

वरं वरय विप्रेन्द्र प्रसन्नोऽस्मि न संशयः ।
कुमारवाक्यमाकर्ण्य सर्ववर्माऽवदत् पुनः ॥ १९ ॥

सर्ववर्मोवाच—

यदि प्रसन्नो मे देव स्वल्पं व्याकरणं तदा ।
देहि मे मदनो येन पण्डितो भवति ध्रुवम् ॥ २० ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा कुमारोऽमितविक्रमः ।
कलापाख्यं व्याकरणं ददौ कृत्वा द्विजन्मने ॥ २१ ॥
आचार्योऽपि तदादाय पुस्तकं मदनं नृपम् ।
पाठयामास यत्नेन पण्डितो मदनोऽभवत् ॥ २२ ॥

दो वर्षोंके भीतर मैं राजाको संस्कृतका ज्ञान न करा सका तो यावज्जीवन संस्कृत छोड़कर सब कुछ तुम्हें देकर वनको मैं चला जाऊँगा ॥ १२-१५ ॥ ऐसी प्रतिज्ञा करके वह घर आया । रातमें उसने शिवकुमारकी आराधना की । धूपदीप नैवेद्यसे पराभक्तिसे पूजा की । तब स्वामी कार्तिकने प्रसन्न होकर सर्ववर्माको आधी रातमें दर्शन दिया । सर्ववर्माने उन्हें साक्षात् देखकर प्रणाम किया । उसको विनीत भावमें देखकर स्वामी कार्तिक देवने कहा—॥ १६-१८ ॥ हे द्विजवर, मैं प्रसन्न हूँ वर माँगो । तब कुमारके वचन श्रवणकर सर्ववर्माने कहा—॥ १९ ॥ हे कुमार यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे स्वल्प व्याकरण दीजिये । जिसको पढ़ाकर मैं मदनराजाके पण्डित बना दूँ ॥ २० ॥ उसके ऐसे वचन श्रवणकर कुमारने जो अति पराक्रमशाली थे 'कलाप' नामक व्याकरण रचकर उसे दे दिया ॥ २१ ॥ आचार्यने वह पुस्तक लाकर राजाको पढ़ाना प्रारम्भ किया । वह राजा दो वर्षोंमें ही पण्डित हो गया । मदननृपके ठोस व्याकरण ज्ञानको देखकर गुणाढ्य

मदनस्य दृढं ज्ञानं दृष्ट्वा व्याकरणे तदा ।
गुणाढ्यो लज्जितो भूत्वा सर्वस्वं सर्ववर्मणे ॥ २३ ॥
दत्वा त्यक्त्वा संस्कृतं च जगाम गहनं खलु ।
तत्राश्रमं विधायाशु गुणाढ्योऽप्यतिसुन्दरम् ॥ २४ ॥
विभूतिभूषितो नित्यं जटाजूटसमन्वितः ।
रुद्राक्षमालया नित्यं शिवनाम जजाप हि ॥ २५ ॥
एकदा ह्याश्रमे तस्य पुलस्त्यो मुनिसत्तमः ।
समागतो दैवयोगान्मुनिभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य पुलस्त्यं मुनिसत्तमम् ।
प्रत्युद्ययावादरेण गुणाढ्यो गुणसंयुतः ॥ २७ ॥
आसने तं समावेश्य पाद्यादिभिरथो मुने ।
गुणाढ्यः पूजयामास मुनीनपि यतव्रतान् ॥ २८ ॥
ततो विश्रान्तमासीनं पुलस्त्यं मुनिसंयुतम् ।
गुणाढ्यः परिपप्रच्छ भाषया नतकन्धरः ॥ २९ ॥

गुणाढ्य उवाच—

सर्वा कथा मे विदिता भवता मुनिसत्तम ।
निस्तारस्तु कथं मे स्यात् तदाचक्ष्व दयानिधे ॥ ३० ॥

मार्कण्डेय उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा पुलस्त्यो धातृनन्दनः ।
गुणाढ्यं पुनरेवाह सर्वज्ञो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥

पुलस्त्य उवाच—

पिशाचभाषया गाथा नवलक्षमिताः कुरु ।
ततो हि परमे पीठे नेपालाख्ये मनोहरे ॥ ३२ ॥

लज्जित हो गया और सर्वस्व सर्ववर्माको देकर संस्कृत छोड़कर वन चला गया । वहाँपर गुणाढ्यने शीघ्र आश्रम बनाकर, जटाजूट धारणकर, रुद्राक्ष माला धारणकर शिव नामका जप करना प्रारम्भ किया ॥ २२-२५ ॥ एकदिन उसके आश्रमपर पुलस्त्यमुनि अन्य मुनियोंके साथ आये । उन मुनिको आया देखकर गुणाढ्यने उनकी अगवानी की और आदरके साथ आसनपर बैठाया । ततः पाद्य आदिसे उनका पूजन किया तथा अन्य मुनियोंका भी पूजन किया । तब आसनपर आसीन उनसे गुणाढ्यने झुककर विनोत-भावसे भाषामें पूछा—हे मुने, आपसे मैंने सब कथाएँ सुनीं । हे दयानिधे, इनका लेखन किस भाषा में हो—यह कृपाकर आप बतायें ॥ २५-३० ॥ गुणाढ्यके वचन श्रवणकर धातृपुत्र पुलस्त्यने कहा—गुणाढ्य ! पैशाची भाषामें नवलाख परिमाणमें इसका लेखन करो—नवलाख कथा पैशाची भाषामें रचो । तब नेपालके परमरम्य पीठमें शिवलिंगकी

शिवलिङ्गं स्थापयित्वा विप्र मोक्षमवाप्स्यसि ।
इत्युक्त्वा स्वाश्रमं यातो मुनिभिः परिवारितः ॥ ३३ ॥
पुलस्त्यो ब्रह्मणः पुत्रो जैमिने मुनिसत्तम ।
ततो गुणाढ्यो गुणवान् पत्राण्यादाय शाखिनाम् ॥ ३४ ॥
धातुभिर्विलिलेखाशु कृत्वा गाथा मनोहराः ।
पपाठ च स्वयं गाथा गुणाढ्यो गुणिसत्तमः ॥ ३५ ॥
गाथाः श्रुत्वा हि पशवो गुणाढ्यरचितास्तदा ।
आहारं हि परित्यज्य तस्थुस्तस्याश्रमे सदा ॥ ३६ ॥
यदा जजाप हि मुने गुणाढ्यो गुणिनां वरः ।
तदा हि पशवः सर्वे ग्रासान्वेषणतत्पराः ॥ ३७ ॥
व्याधा हत्वा मृगाँस्ताँस्तु मदनस्य महीपतेः ।
ददौ हि सूपकारेभ्यः पेचुस्तेऽपि तदा मुने ॥ ३८ ॥
नीरसं हि परं भुक्त्वा नृपः प्राह च पाचकान् ।

राजोवाच—

कथं शुष्कानि मांसानि मह्यं दत्तानि पाचकाः ॥ ३९ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रोचुस्ते पाचका नृपम् ।
व्याधैराहृतमांसानि ह्यस्माभिः संस्कृतानि च ॥ ४० ॥
पाचकानां वचः श्रुत्वा व्याधानाहूय पार्थिवः ।
जगाद हेतुना केन शुष्कमांसमुपागतम् ॥ ४१ ॥
इति भूपवचः श्रुत्वा व्याधाः प्रोचुर्भयातुराः ।
दुर्बला हरिणाः सर्वे वने जाता नरेश्वर ॥ ४२ ॥

स्थापना करके मोक्ष प्राप्त करोगे। ऐसा कहकर पुलस्त्यजी अपने आश्रमको चले गये ॥ ३१-३३ ॥ इसके पश्चात् वह वृक्षसे पत्रको ले आता और मनोहर गाथा रचकर गेरू आदि धातुओंसे लिख देता। उन गाथाओंका पाठ वह स्वयं करता। उन गाथाओंको श्रवणकर पशु भी भोजन छोड़कर उसके आश्रमपर गाथा सुननेके लिये तत्पर रहते थे। जब वह गुणाढ्य शिवनाम जपता तब पशु भोजनकी खोजमें जाते—अन्यथा वहीं स्थिर रहते थे। व्याधागण तब (आश्रमसे दूर) उन पशुओंको मारकर उनका मांस लाकर रसोईदारको देते तब रसोईदार भोजन पकाकर राजाको देता था। नीरस मांसका भोजन करके राजाने रसोईदारसे कहा—क्यों मुझे सूखे मांसका भोजन खानेको देते हो ? तब रसोईदारोंने कहा—व्याधोंके द्वारा लाये हुए मांसको पकाकर भोजन हम लोग आपको देते हैं ॥ ३४-४० ॥ रसोईदारके वचन श्रवणकर राजाने व्याधोंको बुलाकर पूछा—ऐ व्याधो, क्यों तुम सूखा मांस लाते हो ? ॥ ४१ ॥ तब व्याधोंने

कारणं तु न जानीमो येन ते दुर्बला मृगाः ।
व्याधानां वचनं श्रुत्वा व्याधान् प्राह नरेश्वरः ॥ ४३ ॥
ज्ञायतां कारणं व्याधा येन ते दुर्बला मृगाः ।
इति भूपवचः श्रुत्वा ययुर्व्याधा वनं तदा ॥ ४४ ॥
गत्वा तदाश्रमं रम्यं गुणाढ्यं ददृशुस्तदा ।
कृत्वा गाथा वदन्तं च जटिलं श्मश्रुसंयुतम् ॥ ४५ ॥
गाथाश्च शृण्वतस्तस्थुः पशूँश्च ददृशुस्तदा ।
गाथाः श्रुत्वाऽथ ते तस्थुस्तत्रैव विपिने मुने ॥ ४६ ॥
चकार भोजनं राजा तदा मांसविवर्जितम् ।
सूपकारांश्च प्रपच्छ कोपसंरक्तलोचनः ॥ ४७ ॥
कथमद्य समानीतं भोजनं मांसवर्जितम् ।
इत्याकर्ण्य नरेन्द्रस्य वचः कोपसमन्वितम् ॥ ४८ ॥
सूपकारास्तदा प्रोचुर्मुने प्राञ्जलयो नृप ।
मांसार्थं विपिने ये च व्याधा यान्ति नरेश्वर ॥ ४९ ॥

सूपकारा ऊचुः—

न हि ते विनिवर्त्तन्ते यमलोकं गता इव ।
इति तेषां वचः श्रुत्वा राजा बुद्धिमतां वरः ॥ ५० ॥
सर्ववर्माचार्ययुक्तो जगाम विपिनं तदा ।
स ददर्श नृपो धीरं गुणाढ्यं गुणिनां वरम् ॥ ५१ ॥
कथयन्तं कथाश्चित्रा नानाश्चर्यसमन्विताः ।
तत्कथाश्रवणामोदत्यक्तग्रासान् पशूँस्तदा ॥ ५२ ॥

कहा—हे नरेश्वर, सब हरिण वनमें दुर्बल हो गये हैं। हम लोग नहीं जानते वे मृग क्यों दुर्बल हो गये हैं। व्याधोंकी बात श्रवणकर राजाने कहा—हे व्याधो, वनमें जाकर कारण ज्ञात करो क्यों हरिण दुर्बल हो गये? भूपके ऐसे वचन श्रवणकर व्याधागण वनमें गये ॥ ४२-४४ ॥ वे लोग वनमें गुणाढ्यके रम्य आश्रमपर पहुँचे। और देखा कि, गुणाढ्य डाढ़ी बढ़ाये हुए गाथा कह रहे हैं तथा गाथा सुनते हुए पशु वहाँपर खड़े हैं। गाथा श्रवणकर वे लोग (व्याधागण) भी वहीं रह गये लौटे नहीं। तब रसोईदारने मांस रहित भोजन पकाकर राजाको दे दिया। जब राजाने रक्तनेत्र करके क्रोधसे पूछा—क्यों आज भोजन मांस रहित है? तब रसोईदारने हाथ जोड़कर कहा। हे नृप, मांसके लेनेके लिये व्याधागण वनमें गये किन्तु, अभीतक वे लौटे नहीं हैं—जैसे—यमलोक जाकर जीव नहीं लौटता। रसोईदारका ऐसा वाक्य श्रवणकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा सर्ववर्माके साथ वनको गया। उसने वहाँ गुणियोंमें श्रेष्ठ गुणाढ्यको देखा

ददर्श दुर्बलान् भूपो मेदोमांसविवर्जितान् ।
आत्मनश्च रसोत्पत्ति ज्ञात्वा भूपतिसत्तमः ॥ ५३ ॥
ववन्दे गुणिनां श्रेष्ठं गुणाढ्यं धर्मतत्परम् ।
गुणाढ्योऽपि ततो दृष्ट्वा सर्ववर्माणमागतम् ॥ ५४ ॥
ननाम गुरुवद्धीरो ददौ भूपाय चाशिषम् ।
चकार विधिवत् पूजां तयोर्द्विजनरेन्द्रयोः ॥ ५५ ॥
ततो नरपतिः प्राह सर्ववर्ममते स्थितः ।
गुणाढ्य यामो नगरं यथापूर्वस्थिति कुरु ॥ ५६ ॥

गुणाढ्य उवाच—

इति भूपतिवाक्यान्ते गुणाढ्यः प्राह भूपतिम् ।
जानामि सर्वं नृपते तवास्मीति निगद्यते ॥ ५७ ॥
पिशाचभाषया राजन् कृता गाथा मनोहराः ।
नवलक्षमितास्तास्त्वं संस्कृतेन लिखापय ॥ ५८ ॥
अहं यास्यामि नेपालं क्षेत्राणां क्षेत्रमुत्तमम् ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तानि शाखिपत्राणि जैमिने ॥ ५९ ॥
आदाय तानि नृपतिः स्वकीयां नगरीं ययौ ।
तदा ययौ गुणाढ्योऽपि श्लेष्मान्तकवनं मुने ॥ ६० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्येऽ-
ष्टविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

॥ ४५-५१ ॥ वे गुणाढ्य आश्चर्यकारिणी कथा कह रहे थे और पशुगण ग्रास छोड़कर उन कथाओंको श्रवण कर रहे थे। पशु भोजन न करनेसे दुर्बल हो रहे थे। राजाने स्वयं भी कथाके श्रवणसे हर्ष प्राप्त किया और धर्मतत्पर गुणाढ्यको प्रणाम किया। गुणाढ्यने सर्ववर्माको भी आया देखकर उन्हें गुरुके समान प्रणाम किया तथा राजाको आशीर्वाद दिया। उसने विधिवत् सर्ववर्माका राजाका सम्मान किया ॥ तब सर्ववर्माकी सलाहसे राजाने गुणाढ्यसे कहा—हे गुणाढ्य, नगरमें चलो तथा जैसे पहले रहते थे चलकर रहो ॥ ५२-५६ ॥ भूपतिके ऐसा कहनेपर गुणाढ्यने कहा—हे राजन्! आपका प्रेम जानता हूँ। आप मुझे मानते हैं। अतः यह निवेदन करता हूँ कि, मैंने पैशाची भाषामें नौ लाख गाथाएँ रची हैं। उन्हें आप संस्कृतमें लिखवा डालें। मैं तीर्थोंमें श्रेष्ठ नेपालतीर्थ जाता हूँ। इस प्रकार कहकर, हे जैमिने, गुणाढ्यने उन वृक्षोंके पत्रोंपर लिखित पत्रोंको राजाको दे दिया। राजा भी उन गाथा पत्रोंको लेकर अपनी नगरी चला गया तथा गुणाढ्य भी श्लेष्मान्तक वन (नेपाल) चले गये ॥ ५७-६० ॥

अथ ऊनत्रिंशोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच—

नेपालक्षेत्रमासाद्य गुणाढ्येन महात्मना ।
किमकारि महाभाग तदाचक्ष्व पुरो मम ॥ १ ॥

सूत उवाच—

इति जैमिनिवाक्यान्ते मार्कण्डेयस्तपोधनः ।
गुणाढ्यचरितं सर्वं जैमिनिं प्राह शौनकः ॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

नेपालक्षेत्रमासाद्य गुणाढ्यो द्विजसत्तमः ।
वाग्वत्याः सलिले स्नात्वा दृष्ट्वा पशुपतीश्वरम् ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रदक्षिणं कृत्वा लिङ्गं संस्थाप्य यत्नतः ।
आरुरोह ततो भृङ्गी कैलासं पर्वतोत्तमम् ॥ ४ ॥

जैमिनिरुवाच—

भृङ्गिणा मुनिशार्दूल कथं क्षेत्रप्रदक्षिणम् ।
कृत तद्विधिमाचक्ष्व लिङ्गस्थापनकं विधिम् ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

क्षेत्रप्रदक्षिणविधिः श्रूयतां मुनिसत्तम ।
क्षेत्रप्रदक्षिणं कृत्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ ६ ॥
पूर्वेद्युर्मानवो यत्नाद्धविष्याशी जितेन्द्रियः ।
भूमिशायी ध्रुवं भूयाच्छिवस्मरणतत्परः ॥ ७ ॥

जैमिनिने कहा – हे महाभाग, नेपालतीर्थ जाकर महात्मा गुणाढ्यने क्या किया ? वह बात मुझे बताइये ॥ १ ॥ जैमिनिके वचन श्रवणकर मार्कण्डेयमुनिने गुणाढ्यका सब चरित, हे शौनक मुनि, कहा—नेपालतीर्थमें पहुँचकर गुणाढ्यने वाङ्मतीमें स्नान करके, पशुपतिका दर्शन करके, तीर्थप्रदक्षिणा करके लिंगकी स्थापना करके पर्वत श्रेष्ठ कैलासकी यात्रा की कैलासके ऊपर चला ॥ २-४ ॥ जैमिनिने पूछा—गुणाढ्य (भृङ्गी) ने तीर्थप्रदक्षिणा कैसे की ? उस विधिको तथा लिंग स्थापन विधिको बताइये ॥ ५ ॥ मार्कण्डेयने कहा—हे जैमिने, तीर्थप्रदक्षिण विधि सुनिये—तीर्थकी प्रदक्षिणा करके मनुष्य पापरहित हो जाता है ॥ ६ ॥ मनुष्यको चाहिये कि तीर्थयात्राके पहले दिन वह हविष्य (फलाहार प्रसाद) खाये । जितेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर सोये । शिव-शिव जपता रहे ॥७॥

ततः प्रभाते वाग्वत्यां स्नानं कृत्वा यथाविधि ।
पूजयित्वा पशुपतिं संकल्पं नियतश्चरेत् ॥ ८ ॥
मासपक्षतिथीनां च निमित्तानां च सर्वशः ।
आदावुल्लेखनं कृत्वा ततः संकल्पमाचरेत् ॥ ९ ॥
क्षेत्रप्रदक्षिणं देव करिष्ये विधिपूर्वकम् ।
संकल्पसिद्धिर्मे भूयात् त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥ १० ॥
अनुज्ञां देवदेवेश देहि मे परमेश्वर ।
इत्यनुज्ञां प्रार्थयित्वा त्रिः प्रदक्षिणमाचरेत् ॥ ११ ॥
ततो दक्षिणद्वारेण राजराजेश्वरीं व्रजेत् ।
विलोक्य भैरवं देवं वत्सलां प्रविलोक्य च ॥ १२ ॥
गुह्येश्वरीं ततो गच्छेन्नदीमुत्तीर्य वाग्वतीम् ।
नत्वा गुह्येश्वरीं देवीं चैलगङ्गां ततो व्रजेत् ॥ १३ ॥
स्नात्वा वै चैलगङ्गायां पितॄन् सन्तर्प्य यत्नतः ।
गोकर्णेशं ततो गच्छेन्महापातकनाशनम् ॥ १४ ॥
तमभ्यर्च्य महाभक्त्या यथाविभवविस्तरैः ।
तत्रानुज्ञां प्रार्थयित्वा गच्छेत् कारुणिकेश्वरम् ॥ १५ ॥
सुन्दरीं च ततो दृष्ट्वा गच्छेद्वै वज्रयोगिनीम् ।
ततो गरुडपूर्वं हि नारायणमथो व्रजेत् ॥ १६ ॥
तं संपूज्य यथा भक्त्या गच्छेच्चैव कीलेश्वरम् ।
ततो वागीश्वरं गच्छेद्वाग्विभूतिप्रदायकम् ॥ १७ ॥

तब प्रातः वाङ्मतीमें यथाशास्त्र स्नान करे । ततः पशुपतिका पूजन करके संकल्प करे । संकल्पमें मास-पक्ष-तिथि आदिका उल्लेख करके कहे ॥ ८-९ ॥ हे देव, मैं तीर्थप्रदक्षिणा विधिपूर्वक करूँगा । हे महेश्वर, मेरी संकल्पसिद्धि अनुग्रहसे पूर्ण होवे ॥ १० ॥ हे देव, मुझे आज्ञा दें । इस प्रकार आज्ञाके लिये प्रार्थना करके तीन बार प्रदक्षिणा करे ॥ ११ ॥ ततः दक्षिणद्वारसे राजराजेश्वरी को जाय । भैरवदेवका दर्शन करके वत्सला देवीके दर्शन करके गुह्येश्वरी देवीको, वाङ्मती नदीको पार करके जाना चाहिये । गुह्येश्वरी देवीको नमस्कार करके चैलगंगाको जाय । चैलगंगामें स्नान करके पितृतर्पण करे । ततः महापातकनाशी गोकर्णेशको जाना चाहिये ॥ १०-१४ ॥ गोकर्णेशका यथाशक्ति पूजन करें । वहाँ आज्ञाके लिये प्रार्थना करके कारुणिकेश्वरको जाना चाहिये । ततः सुन्दरी-देवीका दर्शन करना चाहिये । पश्चात् वज्रयोगिनी देवीको जाना चाहिये । अनन्तर गरुडनारायण जाना चाहिये । भक्तिसे गरुडनारायणकी पूजा करके कीलेश्वरको जाये । ततः वाङ्मूतिदायक वागीश्वर जाये । पश्चात् वहाँ कुण्डमें स्नान करके वाल्मीकेशको

तत्र कुण्डे नरः स्नात्वा वाल्मीकेशं प्रपूजयेत्।
तत्रैव वसतिं कुर्याद्ब्राह्मणान् भोजयेत् ततः॥ १८॥
रात्रौ जागरणं कुर्यान्नृत्यगीतादिकौतुकैः।
ततः प्रभाते विमले स्नात्वा कुण्डे मनोहरे॥ १९॥
अनुज्ञां प्रार्थयेद्धीमान् कृताञ्जलिपुटस्तदा।
जय वागीश्वर विभो जय त्र्यक्ष महेश्वर॥ २०॥
क्षेत्रप्रदक्षिण कर्म निर्विघ्नं भवतु प्रभो।
इत्यनुज्ञां प्रार्थयित्वा त्रिचम्पकसरो व्रजेत्॥ २१॥
देवान् पितॄँश्च सन्तर्प्य तस्मिँस्तीर्थे शुभोदके।
भोगिभोगसमासीनं माधवं पूजयेज्जले॥ २२॥
ततश्चण्डेश्वरीं गच्छेन्महादुरितनाशिनीम्।
चण्डेश्वरी पूजयित्वा चण्डेश्वरसमन्विताम्॥ २३॥
गच्छेद्धनेश्वरं लिङ्गं धनवृद्धिकरं तदा।
मौनी व्रजेत् ततो धीमान् लिङ्गं गोखुरकेश्वरम्॥ २४॥
अद्यापि दृश्यते लिङ्गं गोखुराङ्कसमं मुने।
तमभ्यर्च्य ततो गच्छेल्लिङ्गमिन्द्रेश्वराभिधम्॥ २५॥
लीलावत्या रुद्रमत्या सङ्गमे सुमनोहरे।
स्नात्वा पितॄन् समभ्यर्च्य दत्वा दानानि शक्तितः॥ २६॥
अर्चयित्वेश्वरं लिङ्गमाशापूरेश्वरं व्रजेत्।
तं समभ्यर्च्य विधिवड्डोलेश्वरमथो व्रजेत्॥ २७॥

जाना चाहिये। वहाँ पूजा करके वहीं विश्राम करना चाहिये। तथा ब्राह्मण भोजन कराकर रातमें नाच गाना करके जागरण करना चाहिये। ततः प्रातः काल विमल जलवाले रम्य कुण्डमें स्नान करके हाथ जोड़कर जानेकी आज्ञा माँगे। हे वागीश्वर प्रभो, हे त्र्यक्ष, हे महेश्वर, तीर्थप्रदक्षिणाकार्य मेरा निर्विघ्न पूर्ण हो। इस प्रकार आज्ञाके लिये प्रार्थना करके त्रिचम्पक सर जाये। उस तीर्थके जलसे देव तर्पण, पितृतर्पण करे। ततः सर्पासन पर जलमें आसीन माधवका पूजन करना चाहिये। ततः महान् उपद्रवनाशिनी चण्डेश्वरी देवीको जाये। चण्डेश्वर सहित चण्डेश्वरीका पूजन करके धनवृद्धिकर्त्ता धनेश्वरको जाना चाहिए। पश्चात् मौन होकर गोखुरकेश्वर जाना चाहिये। हे मुने, आज भी उस लिंगपर गौके खुरके चिह्न दीखते हैं। गोखुरकेश्वरका पूजन करके इन्द्रेश्वरको जाये। पश्चात् लीलावती और रुद्रमती (रोषमती) के मनोहर संगमतीर्थमें स्नान करके पितृतर्पण करे तथा यथा शक्ति दान करे॥ १०-२६॥ वहाँपर स्थित महादेवजीका पूजन करके आशापूरेश्वर को जाये। उनकी पूजा विधानतः करके श्री डोलेश्वरको जाना

तत्रैव वसतिं कुर्याद्धारातीर्थेऽतिपुण्यदे ।
रात्रित्रये नृत्यगीतपुराणश्रवणैर्नरः ॥ २८ ॥
प्रातः स्नात्वा समभ्यर्च्य डोलेश्वरमिति क्रमात् ।
अनुज्ञां प्रार्थयेत् तत्र भक्तियुक्तो नरोत्तमः ॥ २९ ॥
जय डोलेश्वर विभो क्षेत्रवासिजनप्रिय ।
अनुज्ञां देहि देवेश प्रदक्षिणविधौ मम ॥ ३० ॥
इत्यनुज्ञां गृहीत्वा तु गच्छेत् सूर्यविनायकम् ।
गणेश विघ्नहरण भक्तानुग्रहकारक ॥ ३१ ॥
क्षेत्रप्रदक्षिणविधिमविघ्नं कुरु मे प्रभो ।
इति मन्त्रेण गणपं नत्वा भक्तिपुरःसरम् ॥ ३२ ॥
अनन्तलिङ्गं नियमाद्गच्छेद्धर्मार्थकामदम् ।
तत्र पुष्करिणीं प्राप्य देवाग्रे निर्मलोदकाम् ॥ ३३ ॥
स्नात्वा यथाविधि जले पितॄन् सन्तर्प्य यत्नतः ।
तल्लिङ्गं पूजयित्वा तु यथाविभवविस्तरैः ॥ ३४ ॥
दानानि च यथाशक्त्या शिवप्रीत्या उदारधीः ।
द्विजातिभ्यस्ततो दद्यात् सात्त्विको यतमानसः ॥ ३५ ॥
गच्छेद्वै वज्रवाराहीं सर्वदेवनमस्कृताम् ।
भक्त्या देवीं नमस्कृत्य भारभूतेश्वरं व्रजेत् ॥ ३६ ॥
भुजङ्गशैलमारुह्य गुहाद्वारि मनोहरे ।
क्षेत्रसीमानिवसतिं गणेशं द्वारि पूजयेत् ॥ ३७ ॥
योन्याकारेण च्छिद्रेण प्रविश्य मनुजः सुधीः ।
भारभूतेश्वरं नत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३८ ॥

चाहिए। वहीं पर धारातीर्थपर विश्राम करना चाहिए। त्रिरात्र विश्राम नाच-गानके साथ एवं दिनमें पुराणादि की चर्चा करे। तत; प्रातः स्नान करके डोलेश्वरसे आज्ञा के लिए प्रार्थना करे। जय डोलेश्वर, प्रभो, तीर्थवासिजनप्रिय, प्रदक्षिणाविधिमें मुझे आज्ञा दीजिये। इस प्रकार आज्ञा लेकर सूर्यविनायको जाय। वहाँ पर हे गणेश, हे भक्तानुग्रहकारक, हे प्रभो मेरी तीर्थ प्रदक्षिणा अविघ्न पूर्ण है। इस प्रकार भक्तिसे गणेश वन्दना करके धर्म-अर्थ-कामके दाता अनन्त लिंग को जाये। वहाँ उन्हीं अनन्त लिंगके सामने निर्मल जलवाली पुष्करिणी है उसमें यथाविधि स्नान करके पितृ तर्पण करके, यथाशक्ति अनन्तलिंगका पूजन करके यथाशक्ति दान देकर, ब्राह्मणोंका पूजन करके सर्वदेवनमस्कृत वाराहीदेवी जाये। भक्तिसे वाराहीका दर्शन करके भारभूतेश्वरको जाय। ततः भुजंगशैलपर चढ़कर गुहाद्वारपर तीर्थसीमापर स्थित द्वार पर गणेशपूजन करें— वहाँपर द्वारपर आसीन गणेशजीका पूजन करके ॥ २६–३७ ॥ ततः योन्याकार छिद्र

योन्याकारेण च्छिद्रेण यः प्रविश्य नरः सुधीः ।
भारभूतेश्वरं पश्यन् न स गर्भगृहं विशेत् ॥ ३९ ॥
मनःशिलामहातीर्थे दृष्ट्वा हरिहरावुभौ ।
भैरवं च नरो दृष्ट्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४० ॥
यथा तेन परावृत्य मातृतीर्थं ततो व्रजेत्
अद्यापि तत्र वर्तन्ते जैमिने मुनिसत्तम ॥ ४१ ॥
मीनाः सुवर्णतिलका मातृतीर्थे मनोहरे ।
मातृतीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा हरिहरावुभौ ॥ ४२ ॥
न स गर्भगृहं याति पुमान् स्त्री वा न संशय ।
हरसिद्धिमथो दृष्ट्वा गोपालेशं ततो व्रजेत् ॥ ४३ ॥
गोपालेशं पूजयित्वा दृष्ट्वा नारायणं प्रभुम् ।
तत्रैव वसतिं कुर्याद्धविष्याशी जितेन्द्रियः ॥ ४४ ॥
रात्रौ जागरणं कुर्याद्गीतनृत्यसुमङ्गलैः ।
ततः प्रभाते विमले स्नात्वा चैव यथाविधि ॥ ४५ ॥
अनुज्ञां प्रार्थयेद्धीमान् गोपालेश्वरसन्निधौ ।
गोपालेश महादेव क्षेत्रविघ्ननिवारक ॥ ४६ ॥
क्षेत्रप्रदक्षिणविधिर्भवतु त्वत्प्रसादतः ।
इत्याज्ञां प्राप्य मनुजा गच्छेद्वै पाण्डुकेश्वरम् ॥ ४७ ॥
पाण्डुनद्यां नरः स्नात्वा दृष्ट्वा वै पाण्डुकेश्वरम् ।
अपि दुष्कृतकर्माऽपि मुच्यते सर्वकिल्विषात् ॥ ४८ ॥

वाले मार्गमें प्रविष्ट होकर सर्वपापहारक भारभूतेश्वर जाये। भारभूतेश्वरका स्मरण कर जो नर योन्याकार छिद्रसे प्रविष्ट होकर उनका दर्शन करता है वह पाप रहित हो जाता है और पुनः गर्भमें नहीं आता है। भारभूतेश्वरका दर्शन करके मनः शिला तीर्थपर जाये वहाँ हरि और हरका एक साथ दर्शन करे। ततः भैरवनाथका दर्शन कर—इनके दर्शनसे सर्वपाप नष्ट होते हैं। ततः उसी मार्गसे लौटकर मातृतीर्थ जाये। हे जैमिने, आज भी वहाँ पर मछलियाँ सुवर्ण तिलकसे परिपूर्ण दिखायी पड़ती हैं। पुनः मातृतीर्थमें स्नान करके हरि-हरका दर्शन जो नर या नारी करता है। वह पुनर्जन्म नहीं पाता है। ततः हरसिद्धिका दर्शन करके गोपालेश्वरको जाये। गोपालेश्वरकी पूजा करके नारायणका दर्शन करके वहाँ ही विश्रान्ति ले वहाँ रातमे गाना बजाना के साथ जागरण करे। ततः प्रातः स्नान करके गोपालेश्वरके प्रति जानेकी आज्ञा मांगे। हे गोपालेश्वर, हे महादेव, तीर्थविघ्ननिवारक, देव, तीर्थप्रदक्षिणा विधि आपकी कृपासे परिपूर्ण होवे। इस प्रकार आज्ञाको लेकर पाण्डुकेश्वरको जाये। पाण्डु नदी में स्नान करके पाण्डुकेश्वरका दर्शन करनेसे दुष्कृतकर्मकारी मनुष्यके भी पाप नष्ट हो जाते

ततः पर्वतमुल्लङ्घ्य चतुर्वक्त्रेश्वरं व्रजेत् ।
चतुर्वक्त्रेश्वरं भक्त्या पूजयित्वा यथाविधि ॥ ४९ ॥
इन्द्रेश्वरमथो गच्छेत् सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
तं पूजयित्वा विधिवन्महाविभवविस्तरैः ॥ ५० ॥
ततः पर्वतमुल्लङ्घ्य प्रत्यङ्ङ्नारायणं व्रजेत् ।
नारायणं पूजयित्वा तत्रैव वसतिं चरेत् ॥ ५१ ॥
रात्रौ जागरणं कुर्याद्विष्णुधर्मकथादिभिः ।
ततः प्रभाते विमले स्नानं कृत्वा यथाविधि ॥ ५२ ॥
अनुज्ञां प्रार्थयेत् तत्र श्रीनारायणसन्निधौ ।
मह्यं देहि प्रभोऽनुज्ञां विष्णो त्रैलोक्यपूजित ॥ ५३ ॥
क्षेत्रप्रदक्षिणविधिः पूर्णोऽस्तु कृपया तव ।
इत्यनुज्ञां ततो लब्ध्वा बुद्धस्थानं ततो व्रजेत् ॥ ५४ ॥
परमानन्दकन्दाब्जे धर्मधातुद्रवे जले ।
*गयातीर्थात् समागत्य बुद्धो देवः स्वयं स्थितः ॥ ५५ ॥
वसन्ति भिक्षवो यत्र विहाय सुतबान्धवान् ।
ज्ञानानन्दसमायुक्ता बुद्धदर्शनलालसाः ॥ ५६ ॥
बुद्धं प्रदक्षिणीकृत्य ततो विष्णुमतीं व्रजेत् ।
विष्णुमत्यां नरः स्नात्वा सन्तर्प्य च पितामहान् ॥ ५७ ॥
लुण्ठिकेशं ततो गच्छेद्यत्रास्ते भगवान् हरिः ।
अनन्तशयनासीनं वीक्ष्य नारायणं नरः ॥ ५८ ॥

हैं ॥ ३९–४८ ॥ ततः पर्वत लांघकर चतर्वक्त्रेश्वरको जाये चतुर्वक्त्रेश्वरका यथाशास्त्र पूजन करके सर्वसिद्धिदायक इन्द्रेश्वरको जाये । उनकी यथाशक्ति विधिवत् पूजा करके । ततः पर्वत लांघकर प्रत्यङ् नारायण जाये । नारायणकी पूजा करके वहीं पर विश्रान्ति लेकर रातमें जागरण करे तथा विष्णु कथा वार्ता करे । प्रातः स्नान करके नारायणजीसे प्रार्थना करे हे त्रैलोक्य पूजित देव, मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये, हे प्रभो तीर्थ प्रदक्षिणा आपकी कृपासे पूर्ण हो । इस प्रकार प्रार्थना करके बुद्धस्थान जाना

---

* टिप्पणी—गया में बुद्धजीको परम ज्ञान प्राप्त हुआ था । किसी-किसी पुस्तक में 'महाचीनात्' पद मिलता है । उसका अर्थ चीन देशसे नहीं है अपितु महाज्ञान युक्त गया तीर्थसे है । बुद्धकालमें भी महाचीन का अर्थ महाज्ञान था ।

द्रष्टव्य—कई सौ वर्षोंसे पशुपतिका पूजन सर्वजन सुलभ नहीं है । अतः पञ्चामृतादि पूजन भी सर्वजन सुलभ नहीं है । केवल उनका दर्शन मात्र सर्वजन सुलभ है ।

उत्तरेण ततो गच्छेद्विष्णुस्मरणतत्परः ।
अधस्तात् पर्वतस्यैव भोगिभोगासनस्थितम् ॥ ५९ ॥
नरो नारायणं दृष्ट्वा मुच्यते चापि किल्विषात् ।
आगच्छेद्दक्षिणपथा जयवागीश्वरीं शिवाम् ॥ ६० ॥
तामभ्यर्च्य यथाशक्त्या दण्डवत् प्रणिपत्य च ।
मानसा संस्मरन् विष्णुं गच्छेत् पशुपतीश्वरम् ॥ ६१ ॥
दृष्ट्वा पशुपतिं देवं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
पञ्चामृतैः पञ्चगव्यैः स्नापयेत् परमेश्वरम् ॥ ६२ ॥
नानासुगन्धि द्रव्यैश्च सुगन्धिकुसुमैस्तथा ।
अभ्यर्चयेद्यथाशक्त्या धूपैर्नैवेद्यविस्तरै. ॥ ६३ ॥
ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या दद्याच्चापि च दक्षिणाम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा मन्त्रं चेमं ततः पठेत् ॥ ६४ ॥
देवदेव महादेव पार्वतीप्राणवल्लभ ।
क्षेत्रप्रदक्षिणविधिः संपूर्णस्त्वत्प्रसादतः ॥ ६५ ॥
इमं मन्त्रं समुच्चार्यं वाग्वतीसरितं व्रजेत् ।
तत्र स्नात्वा यथान्यायं सन्तर्प्य च पितामहान् ॥ ६६ ॥

चाहिए। जो बुद्ध भागवान् परमानन्दकन्द कमलनेत्रवाले धर्मधातुद्रवजलवाले स्थानमें [गयातीर्थसे आकर स्वयं विराजमान हुए हैं] जहाँ उनके दर्शनार्थ लालायित चित्तवाले भक्त भिक्षुगण, अपने पुत्रबन्धुओंको छोड़कर; उनके समीप ज्ञानानन्दसे युक्त होकर, देखिये—यहाँ, उपस्थित हैं। इस प्रकारसे बुद्धकी प्रार्थना करके विष्णुमती नदीको जाये। विष्णुमतीमें स्नान करके पितृ तर्पण करके लुण्ठिकेशके स्थानको जाये। जहाँ भगवान् हरि अनन्त नागपर शयन किये हुए स्थित हैं। उनके दर्शन करके मनुष्य, विष्णु नाम जपता हुआ उत्तरकी ओर जाये। ततः पर्वतके अधःस्तलमें नागशय्यापर स्थित नारायणका दर्शन करे—इनके दर्शनसे मनुष्य पापशून्य हो जाता है। ततः दक्षिण मार्गसे जय बगीश्वरीके स्थान पर आवे ॥ ४९–६० ॥ उन जयवागीश्वरीकी पूजा करके, प्रणाम करके मनमें विष्णुको जपता हुआ पशुपतीश्वरको जाये ॥ ६१ ॥ पशुपतिके दर्शनसे सर्वपापसे हीन होकर उन पशुपतिको पञ्चगव्य तथा पञ्चामृतसे स्नान करावे। उनका पूजन अनेक सुगन्धि द्रव्योंसे पुष्पोंसे, धूप-दीप-नैवेद्यसे यथाशक्ति करे। ततः विप्रोंको भोजन कराकर यथाशक्ति दक्षिणा दे। हाथ जोड़कर यह मन्त्र पढ़े। हे देवदेव, महादेव, पार्वती प्राण वल्लभ, आपकी कृपासे तीर्थप्रदक्षिणाकी विधि पूर्ण हुई। यह प्रार्थना पढ़कर वाङ्मतीको जाये। वहाँ स्नानकर पितृ तर्पणकर, वत्सला देवीके दर्शन करके, दक्षिण द्वार जायें। वहाँ वासुकि देवकी पूजा करके—दर्शन करके, पूर्व दिशामें द्वारपर स्थित अग्रपूज्य द्वारपाल

विलोक्य वत्सलां देवीं गच्छेद्द्वारं च दक्षिणम् ।
देवं प्रदक्षिणीकृत्य वासुकिं प्रविलोक्य च ॥ ६७ ॥
प्राच्यां दिशि ततो दृष्ट्वा द्वारपालविनायकम् ।
ततः कृतार्थो भवनं गच्छेन्मनुजसत्तमः ।
सुहृद्भिः सह भुञ्जीत पापशून्यो नरोत्तमः ॥ ६८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये
ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

विनायका दर्शन करे । ततः कृतार्थ होकर अपने गृह जाकर मित्रोंके साथ, पापमुक्त होकर, भोजन भोजन करे ॥ ६२–६८ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

जैमिनिरुवाच—

भवदुक्तप्रकारेण कृत्वा क्षेत्रप्रदक्षिणम् ।
कथं संस्थापितं लिङ्गं भृङ्गिणा तद्ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

क्षेत्रप्रदक्षिणं कृत्वा गुणाढ्यो गुणिनां वरः ।
आहूय च मुनीन् सर्वान् नेपालक्षेत्रवासिनः ॥ २ ॥
गुह्येश्वरीसन्निधिस्थान् वत्सलापार्श्वसंस्थितान् ।
शङ्खमूले स्थितांश्चापि कुम्भेशसविधे स्थितान् ॥ ३ ॥
स्थितान् पशुपतेः पार्श्वे तथा दोलागिरिस्थितान् ।
हनुमत्तीर्थसंस्थांश्च तथा वागीश्वरस्थितान् ॥ ४ ॥

जैमिनि ने कहा – हे मार्कण्डेयजी, आपके कथनानुसार उक्त प्रणालीसे तीर्थं प्रदक्षिणा करनेके पश्चात् भृंगी नामक शिवगणने लिंग स्थापना कैसेकी ? ॥ १ ॥ तब मार्कण्डेय मुनिने कहा—गुणाढ्य (भृंगी) ने नेपाल तीर्थकी प्रदक्षिणा करके सभी नेपाल तीर्थस्थ मुनियों को बुलाकर ॥ २ ॥ गुह्येश्वरीसन्निधिस्थ, वत्सलापार्श्वस्थ, पशुपति समीपस्थ, दोलाचलस्थ, हनुमत्तीर्थस्थ वागीश्वरस्थ, चण्डेश्वरी निकटस्थ, वज्रादेवी निकस्थ, मृगेन्दशिखरस्थ, विष्णुमती तटस्थ, आशापूरेश्वरस्थ, डोलेश्वरस्थ, भारभूतेश्वरस्थ,

चण्डेश्वरीसन्निधिस्थान् वज्रासन्निधिवासिनः ।
मृगेन्द्रशिखरस्थाँश्च विष्णुमत्युद्भवस्थितान् ॥ ५ ॥
आशापूरेश्वरस्थाँश्च डोलेश्वरनिवासिनः ।
भारभूतेश्वरस्थाँश्च गोपालेश्वरसंस्थितान् ॥ ६ ॥
इत्यादिनानातीर्थस्ताँस्तापसान् विजितेन्द्रियान् ।
तेषां सम्मतिमादाय वेदोक्तविधिना तदा ॥ ७ ॥
लिङ्गसंस्थापनं कर्म प्रारेभे होमपूर्वकम् ।
ततः प्रववृते यज्ञो गुणाढ्यस्य महात्मनः ॥ ८ ॥
दीयतां भुज्यतां चैव जातो हि निनदो महान् ।
मरुतस्य यथा यज्ञो यथा दाशरथेरपि ॥ ९ ॥
तथैव यज्ञो ववृधे गुणाढ्यस्य महात्मनः ।
होमान्ते स्थापयामास शिवलिङ्गं द्विजोत्तम ॥ १० ॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा गुणाढ्यो गुणिनां वरः ।
प्रोवाच तापसान् सर्वान् विनायानतकन्धरः ॥ ११ ॥

गुणाढ्य उवाच—

शृण्वन्तु ब्राह्मणाः सर्वे शिवलिङ्गस्य तापसाः ।
किं नामधेयं कर्तव्यं तत् समाख्यातुमर्हथ ॥ १२ ॥
गुणाढ्यं वचनं श्रुत्वा मुनीनामग्रगस्तथा ।
हारीतो नाम विप्रर्षिर्गुणाढ्यं प्राह धार्मिकम् ॥ १३ ॥

हारीत उवाच—

गुणाढ्य श्रूयतां वाक्यं न त्वं प्राकृतमानुषः ।
हेतुना केन चिच्छिप्तः शम्भुना पूर्वजन्मनि ॥ १४ ॥

गोपालेश्वरस्थ तथा अन्य अनेक तीर्थस्थ पूर्णजितेन्द्रिय तापसोंको बुलाकर एवं उनकी सम्मति लेकर वेदोक्त विधिसे लिंगस्थापन कार्य प्रारम्भ किया। पहले होम किया ततः गुणाढ्यने यज्ञ प्रारम्भ किया। उस समय "दीजिए" "खाइए" की ध्वनियाँ सुनायी पड़ रही थीं। राजा रामचन्द्र, राजा मरुतके यज्ञों के समान गुणाढ्यका यज्ञ था। हे जैमिने—होमके अन्तमें शिवलिंग स्थापित किया। ततः हाथ जोड़कर विनीत-भावसे गुणाढ्यने तपस्वियोंसे कहा—हे तापसो, कृपया आप लोग बतायें। इस शिव लिंगका क्या नाम रखा जाये। गुणाढ्यकी प्रार्थनापर मुनियोंमें अग्रणी हारीतमुनिने धार्मिक गुणाढ्यसे कहा--॥३-१३॥ हे गुणाढ्य, सुनिये—आप साधारण पुरुष नहीं हैं। किसी कारणसे पूर्व जन्ममें शिवाजीने आपको शाप दे दी अतः आप इस रूपमें हैं।

भृङ्गी ते नाम शम्भोस्त्वं सर्वदा द्वारपालकः ।
अतो भृङ्गीश्वरं नाम कुरु लिङ्गस्य सर्वथा ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

हारीतस्य वचः श्रुत्वा प्राह वेदशिरा मुनिः ।
इति भृंगीश्वरं लिङ्गं वदन्तु द्वापरे युगे ॥ १६ ॥

वेदशिरा उवाच—

स्पर्शपाषाणजं लिङ्गं यतो भृङ्गीश्वराभिधम् ।
अतः कलियुगे लोकाः सुवर्णेश्वरसंज्ञितम् ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

वदिष्यन्ति मुनिश्रेष्ठाः सर्वकामप्रदं सदा ।
ततो गुणाढ्यो गुणवान् रत्नगोवस्त्रकाञ्चनैः ॥ १८ ॥
ब्राह्मणांस्तोषयामास गुणश्रेष्ठपुरस्सरम् ।
ततः पपात गगनात् पुष्पवृष्टिर्मनोहरा ॥ १९ ॥
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
ववौ वायुः सुखस्पर्शो गन्धर्वा ललितं जगुः ॥ २० ॥
मुनीनां पश्यतां तत्र वृषयानं मनोहरम् ।
विमानमागतं तत्र नानाश्चर्यसमन्वितम् ॥ २१ ॥
रुद्ररूपधरैः श्रेष्ठैर्गणैश्च समधिष्ठितम् ।
तदाश्चर्यं महद्दृष्ट्वा सर्वे संभ्रान्तमानसाः ॥ २२ ॥

॥१४॥ आपका नाम भृंगी है । आव शम्मुके द्वारपाल हैं । अतः इस लिंगका नाम भृङ्गीश्वर रखिये ॥ १५ ॥ हारीतके वाक्य श्रवणकर वेदशिरा मुनिने कहा—हे मुनियो, द्वापरमें एक मक्त मौंरेके द्वारा पाषाणके स्पर्शसे भृंगीश्वरनामक लिंग उत्पन्न हुआ था । अतः लोग उसे भृंगीश्वर कहते हैं । कलियुगमें लोग इसका नाम सुवर्णेश्वर कहेंगे । यह लिंग सर्वकामफलप्रद है । ततः गुणाढ्यने रत्न, गौ, वस्त्र, सुवर्णसे— ॥१६–१७॥ ब्राह्मणोंको दान देकर प्रसन्न किया । उसी समय आकाशसे देवोंने पुष्प वर्षा की ॥ १९ ॥ देवोंने दुन्दुभियां बजायीं, अप्सराएँ नाचने लगीं । सुखकारी पवन बहने लगा । गन्धर्वगण ललित नृत्य करने लगे । उसी समय मुनियोंके देखते हुए ही वहाँपर बैलोंसे सन्नद्ध एक आकाशरथ—विमान-आया । वह विमान आश्चर्यकारी था । उस विमानमें रुद्ररूप धारण किये हुए श्रेष्ठगण बैठे थे । इस आश्चर्यको देखकर सभी लोग विस्मित हो गये । सब मुनि एकसाथ, उस आश्चर्यको देखकर खड़े हो गये । और कहने गे—हे प्रभो आप, साक्षात् देवस्वरूप हैं । निर्गुण मी हैं—सगुण मी हैं । अदृश्य भी हैं—दृश्य मी हैं । उनके अन्तको ब्रह्मा-बिष्णु मी नहीं जानते । वे देवदेब सर्वव्यापी महेश्वरके

उत्तस्थुर्मुनयः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ।
अवतीर्य विमानात् तु ततो रुद्रगणा मुने ॥ २३ ॥
प्रोचुर्मुनिगणान् हर्षाद्रुद्रसमरुद्राक्षधारिणः ।
त्रिशूलधारिणो गौरा जटामुकुटधारिणः ॥ २४ ॥

रुद्रगणा ऊचुः—

लोचनत्रयसंयुक्ता दिव्या डमरुपाणयः ।
भवन्तो मुनयः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ २५ ॥
आसनेषु समासीनाः शृणुध्वं वचनं मम :
एवं गणवचः श्रुत्वा हारीतः प्राह तान् गणान् ॥ २६ ॥

हारीत उवाच—

रुद्ररूपधराः सर्वे तेजसा भास्करोपमाः ।
उपविश्य भवन्तोऽपि कथां कुर्वन्तु सर्वथा ॥ २७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

उपविश्य गणाः सर्वे कथाः प्रोचुर्मनोहराः ।
यो देवः सर्वदेवानां देवेषु परिगीयते ॥ २८ ॥

रूपमें ध्यानमें लाये जाते हैं । उन्हीं की कृपासे इन्द्रादि देवोंने लोकपालत्व प्राप्त किया है । उन गिरिजापतिका निवासस्थान श्मशान है । उनके ललाटमें चन्द्र हैं । उनके वामाङ्गमें भवानी (पार्वती) सदा स्थिर रहती हैं । उन्होंने जो आदेशित किया है । उस आदेशको श्रवण करें—हे भक्तो, यदि कोई दुराचारी भी भक्ति से मेरा लिंग स्थापित करता है तो निःसंन्देह वह सर्वपापोंसे रहित हो जाता है । जो मनुष्य हेलासे (खेलसे) कपटसे, शोभा से रुद्राक्ष धारण करता है । वह निष्पाप हो जाता है । जो भस्मभूषित रहते हैं । रुद्राक्ष धारण करते हैं । शिवलिंगकी स्थापना करते हैं—वे कैलासवासी, होते हैं । जो मेरे लिंगके पूजनरत हैं । मेरे नामके जपनेमें रत हैं । मेरे लिंगस्थानके चारोंओर जो पुष्पोद्यान लगाते हैं—वे कैलासवासी होते हैं । हे मुने, तब रुद्राक्षधारी, त्रिशूलधारी, जटाजूटधारी तीननेत्रधारी, गौरवर्णी, डमरूधारी, उन शिवगणोंने हर्षसे मुनियोंसे कहा हे मुनियो, आप सब वेद वेदांगपारंगत हैं । आपलोग अपने आसनों पर बैठ जायें और हमारी बात श्रवण करें । इस प्रकार के वाक्य श्रवणकर हारीतमुनिने उन शिवगणोंसे कहा— ॥ २०-२६ ॥ आप लोग सभी रुद्ररूप धारण किये हैं । तेजस्वितामें सूर्य तुल्य हैं । आप लोग भी कृपया, बैठकर ही कथा—वार्ता करें— ॥ २७ ॥ ततः उन रुद्रगणोंने दिए आसनोंपर बैठकर मनोहर कथा–वार्ता की । उन गणोंने कहा–जो शिवजी सब देवोंके देव हैं—ऐसा देवता लोग कहते हैं । वे ही परमेश्वर, सृष्टिकी उत्पत्ति तथा पालन एवंसहार भी, करते हैं । जिन शिवको वेद भी वास्तविक रूपमें नहीं जानते हैं

रुद्रगणा ऊचुः—

येन सृष्टं जगत् सर्वं यः पाति सकलं जगत् ।
संहरत्यपि भूतानि स देवः परमेश्वरः ॥ २९ ॥
वेदा अपि न जानन्ति यं रुद्रं परमार्थतः ।
इह नैको गुणान् वक्तुं तस्य सर्वात्मनो विभोः ॥ ३० ॥
परमात्मस्वरूपेण वर्तते सर्वजन्तुषु ।
नित्यानन्दमयः साक्षात् स देवः केवलो विभुः ॥ ३१ ॥
निर्गुणो देहवान् योऽपि सर्वगो न हि गोचरः ।
यस्यान्तं नैव जानाति ब्रह्मा हरिरपि स्वयम् ॥ ३२ ॥
स देवैश्चिन्त्यते साक्षात् सर्वव्यापी महेश्वरः ।
कृपया यस्य देवस्य वासवाद्याः सुरा अपि ॥ ३३ ॥
संप्राप्ता लोकपालत्वं स देवो गिरिजापतिः ।
श्मशाने वसतिर्यस्य ललाटे यस्य चन्द्रमाः ॥ ३४ ॥
वामाङ्गे गिरिजा यस्य स यदाह शृणुष्व तत् ।
अपि दुष्कृतकर्माऽपि यो लिङ्गं स्थापयेन्नरः ॥ ३५ ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो नात्र कार्या विचारणा ।
हेलया कपटेनापि शोभया मनुजोत्तमः ॥ ३६ ॥
धारयन्ति च रुद्राक्षं तेषां पापं न विद्यते ।
विभूतिभूषिता ये वै ये च रुद्राक्षधारिणः ॥ ३७ ॥

इस लोकमें ऐसा कोई नहीं है जो उनके सब गुणों का वर्णन कर सके । वे शंकरजी सब प्राणियोंमें परमात्मस्वरूपमें निवास करते हैं । तथा जो नित्य आनन्दमय रूपमें रहते हैं वे केवल साक्षात् भगवान् शंकर जी ही हैं । वे शिवजी निर्गुण भी हैं सगुण (देहधारी) भी हैं । सर्वस्थानमें भ्रमण भी करते हैं किन्तु अगोचर हैं । जिनके अन्तको हरि एवं ब्रह्मा भी नहीं जानते हैं । वे सर्वव्यापी शिवजी सब देवोंके द्वारा ध्यानमे लाये जाते हैं । जिन शिवजीकी कृपापर इन्द्रादि देवोंने लोकपालत्व प्राप्त किया है । जिनका नाम देवदेव महादेव गिरिजापति हैं । जिनका निवास श्मशानमें हैं जिनके भालमें चन्द्र हैं । जिनके वामाङ्गमें पार्वतीजी विराजती हैं । उन शंकरजी ने जो कहा है । वह आप लोग श्रवण करें—"दुष्कृतकर्मवाला जन भी यदि मेरे लिंगको स्थापित करता है तो वह सर्वपापोंसे रहित हो जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये । जो जन लीलासे, कपटसे, शोभावृद्धिके लिए भी रुद्राक्ष धारण करते हैं वे पापमुक्त हो जाते हैं । जो नर भस्मधारी हैं, रुद्राक्षधारी हैं । लिंग संस्थापक हैं वे मरनेपर कैलासवास करते हैं । जो व्यक्ति मेरे पूजनमें रत हैं । जो मेरे नाम जपनेमें रत हैं । जो मेरे लिये पुष्प वाटिकाका

लिङ्गसंस्थापका ये च ते स्युः कैलासवासिनः ।
मल्लिङ्गपूजनरता मन्नामग्रहणे रताः ॥ ३८ ॥
मत्पुष्पवाटीकर्तारस्ते स्युः कैलासवासिनः ।
अर्कधत्तूरपुष्पैश्च विल्वपुष्पैस्तथा जलैः ॥ ३९ ॥
मां पूजयन्ति मनुजास्ते स्युः कैलासवासिनः ।
अपि दुष्कृतकर्माऽपि युक्तो वा सर्वपातकैः ॥ ४० ॥
लिङ्गसंस्थापनादेव मुच्यते नात्र संशयः ।
हेलया परिहासेन संकेतेनापि मानवाः ॥ ४१ ॥
मन्नामग्रहणे युक्ता मुच्यन्ते घोरकिल्वषात् ।
अयं तु गुणवाँल्लोके गुणाढ्यो लोकपूजितः ॥ ४२ ॥
आचारवान् योगयुक्तो वेदवेदाङ्गपारगः ।
विद्यावान् विनयाधारः स्वाध्यायी देवपूजकः ॥ ४३ ॥
विशेषतो हि मद्भक्तो मन्नामग्रहणे रतः ।
अस्य प्राक्तनकं जन्म श्रृण्वन्तु मुनयो ध्रुवम् ॥ ४४ ॥
अयं किल पुरा भृङ्गी नन्दितुल्यो महाबलः ।
मद्द्वारपालको नित्यं मम रूपधरः सदा ॥ ४५ ॥
एकस्मिन् दिवसे देव्या मया च रहसि स्थितम् ।
कुर्वतो हि कथास्तत्र नानारससमन्विताः ॥ ४६ ॥
तत्रानेन समास्थाय भृङ्गरूपं हि दुर्धिया ।
आगत्य हि श्रुताः सर्वाः कथा मन्मुखनिर्गताः ॥ ४७ ॥

निर्माण कराते हैं वे भी कैलासवास करते हैं। सदा जो मुझे अर्क (मदार) अथवा धतूरा, वा पुष्प या जल चढ़ाते हैं। वे जन कैलाश वास करते हैं ॥ ३८-३९ ॥ दुराचारी वा सर्व पातकीभी भक्तिसे मेरे लिंग की स्थापनासे पापसे मुक्त हो जाता है। खिलवाड़से परिहाससे, संकेतसे जो मेरा नाम लेते हैं वे भयंकर पापोंसे भी दूर हो जाते हैं। यह गुणाढ्य लोकमें लोकपूज्य, आचार्यनिष्ठ, वेदावेदांगपारंगत, विद्यावान, विनय शाली, स्वाध्यायी, देवपूजक, विशेष करके मेरी भक्तिमें रत है। अतः इसके पूर्व जन्म की कथा आप सुनें। ।। ४०—४४ ॥ प्राचीन काल में यह गुणाढ्य महाबल शाली, नन्दीके तुल्य, मेरे रूपको धारण करने वाला सदा मेरा भक्त था। ॥ ४५ ॥ एक दिन हम और पार्वतीजी एकान्तमें कथा वार्तामे लीन थे हम दोनों रसपूर्ण ललित कथाएं—कह सुन रहे थे ॥ ४६ ॥ उस समय इसने भृंग (भौंरे) का रूप धारण कर लिया और वहां आकर हमारे मुखसे निःसृत कथा सुनने लगा ॥ ४७ ॥ ततः इसने मेरी उन कथाओंको अपनी भार्यासे कह दिया। इस बातको ज्ञातकर मैंने इसे शाप दी कि,

कथास्ताः कथयामास स्वपत्न्यै रससंयुताः ।
एतज्ज्ञात्वा मया शप्तः कैलासात् पतितो ह्ययम् ॥ ४८ ॥
स तस्य चरितं सर्वं ज्ञात्वाऽन्तर्यामिना तदा ।
शप्तोऽसौ देवदेवेन ततो मानुषतामियात् ॥ ४९ ॥
लब्ध्वा विप्रकुले जन्म गुणाढयो गुणिनां वरः ।
नवलक्षमिता गाथाः कृत्वा रससमन्विताः ॥ ५० ॥
नेपाले परमे क्षेत्रे देवानामपि दुर्लभे ।
लिङ्गं संस्थापयामास शिवस्यानुग्रहोऽभवत् ॥ ५१ ॥
विमानं प्रेषितं दिव्यं देवदेवेन शम्भुना ।
एहि विप्र गुणाढय त्वं विमानेऽधिष्ठितो भव ॥ ५२ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

सहैव यामः कैलासं शम्भुमद्य प्रपश्यसि ।
एवं गणवचः श्रुत्वा गुणाढयो गुणिसन्नमः ॥ ५३ ॥
वदनं समुदैक्षेत मुनीनामुग्रतेजसाम् ।
ततो गुणाढयामालोक्य मुनीनां मुखवीक्षकम् ॥ ५४ ॥

चण्डतपा उवाच—

प्राह चण्डतपा वाक्यं मुनीनां तत्र शृण्वताम् ।
अदावेव हि संप्रोक्तं हारीतेन तपस्विना ॥ ५५ ॥
सेवको देवदेवस्य न त्वं प्राकृतमानुषः ।
नेपाले परमे क्षेत्रे लिङ्गं संस्थापितं त्वया ॥ ५६ ॥

"जाओ कैलास पर्वतसे दूर पृथ्वीपर घूमो" । इसकी प्रार्थनापर मैंने इसे क्षमा करते हुए कहा--मेरे वचन मिथ्या नहीं होते हैं । अतः तुम एक बार पृथ्वीपर उत्पन्न होकर मेरी भक्तिकर पुनः मुझे प्राप्त करोगे । पुनः रुद्रगणोंने कहा-शंकर जी शापित होकर यह भृंगी पृथ्वीपर, आकर विप्रकुलमें उत्पन्न हुआ । उसका नाम गुणाढ्य हुआ । इसने नौ लाख ललित कथाएं पैशाचीभाषामें रची । ततः देवदुर्लभ परम पावन नेपालतीर्थमें इसने शिवलिंग स्थापित किया । पुनः इसपर प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने यह विमान इसके आनयनार्थ भेजा है । अतः- हे गुणाढ्य, आओ इसपर स्थित हो और हमारे साथ चलो तुम आज शिवजीका दर्शन साक्षात् करोगे । इस प्रकारके वचन श्रवणकर गुणाढ्यने उग्रतेजस्वी मुनियोंके मुख आन्दनसे देखे । तब मुनियोंके मुखको देखने वाले गुणाढ्यसे चण्डतपा मुनिने कहा—अभी शुरूमें ही हारीत मुनिने कहा था कि, हे गुणाढ्य तुम महादेवके सेवक हो साधारण पुरुष नहीं हो । तुमने परममान्य तीर्थ नेपालमें

शापान्तस्तेन ते जातस्तुष्टोऽभूत् पार्वतीपतिः ।
विमानवरमारुह्य याहि पश्य महेश्वरम् ॥ ५७ ॥

मार्कण्डेय उवाच—

आशीर्वादैर्द्विजादीनां शीघ्रं पश्य महेश्वरम् ।
इति श्रुत्वामुनेर्वाक्यं गुणाढ्यो द्विजसत्तमान् ॥ ५८ ॥
आमन्त्र्याधिरुरोहाशु विमानमतिसुन्दरम् ।
जयध्वनिस्ततो जातो मुनीनां वदनोद्गतः ॥ ५९ ॥
पपात खात् पुष्पवृष्टिर्विद्याधरकरच्युता ।
देवदुन्दुभयो नेर्दुननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ६० ॥
ववौ वायुः सुखस्पर्शो गन्धर्वा ललितं जगुः ।
विमानस्पर्शमात्रेण गुणाढ्यो गुणिनां वरः ॥ ६१ ॥
त्र्यक्षरूपधरो भूत्वा कैलासं प्रययौ तदा ।
एवं ते कथितं विप्र भृङ्गीश्वरसमुद्भवम् ॥ ६२ ॥
भृङ्गीश्वरसम लिङ्गं न भूतं न भविष्यति ।
भृङ्गीश्वरं ये पश्यन्ति नेपाले क्षेत्रसत्तमे ॥ ६३ ॥
तेषां मनोरथावाप्तिर्भविष्‍ ति न संशयः ।
भृङ्गीश्वरं ये पश्यन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा ॥ ६४ ॥
तेषां दास्यति कैलासं भगवान् पार्वतोपतिः ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां संक्रान्तिदिवसे तथा ॥ ६५ ॥

लिग स्थापित किया है । इससे तुम्हारे शापका अन्त हो गया है। तुमपर पार्वतीपति प्रसन्न हैं श्रेष्ठ विमानपर आरोहण करके जाओ और शंकरजी का दर्शन करो । ॥ ४८–५७ ॥ विप्रोंके आर्शीवादसे शीघ्र उमापतिका दर्शन करो । इस प्रकार मुनिके वाक्य श्रवणकर गुणाढ्य ब्राह्मणोंसे आमन्त्रणा करके सुन्दर विमानपर चढ़ गया । मुनियोंने तब जयध्वनि की । विद्याधरोंने आकाशसे पुष्पवृष्टि की देवोंने दुन्दुभि बजायी । अप्सराएँ नाचने लगी ॥ ५८—६० ॥ सुखद वायु बही । गन्धर्वोंने मधुर गान किया । विमान का स्पर्श होते ही गुणाढ्य त्रिनेत्ररूप होकर कैलास चला गया । हे विप्र, जैमिने इस प्रकार मैंने तुमसे भृंगीश्वरकी उत्पत्ति कह दी ॥ ६१–६२ ॥ भृंगीश्वरके समान लिंग न हुआ न होगा । पवित्र उत्तमतीर्थ नेपालमें जो भृंगीश्वरके दर्शन करते हैं निःसन्देह उनके मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं । जो भक्तिसे भृंगीश्वरके दर्शन करते हैं उन्हें शिवजी कैलासवास देते हैं । अष्टमी, चतुर्दशी, संक्रान्तिको जो भृंगीश्वरका दर्शन करते हैं । उन्हें परम गति प्राप्त होती है । छः मासतक निरन्तर दर्शन करनेसे विप्र विद्यावान्

भृङ्गीश्वरं ये द्रक्ष्यन्ति ते यास्यन्ति परां गतिम् ।
षण्मासं प्रत्यहं दृष्ट्वा देवं भृङ्गीश्वरं मुदा ॥ ६६ ॥
विद्यावान् जायते विप्रः कवीनामग्रणीर्भवेत् ।
वन्ध्याऽपि नियमं दृष्ट्वा शीघ्रं गर्भमवाप्नुयात् ॥ ६७ ॥
भृङ्गीश्वरस्य सेवातो दरिद्रो धनमाप्नुयात् ।
अद्यापि भृङ्गरूपेण भृङ्गी पर्वणि पर्वणि ॥ ६८ ॥
समायाति मुने द्रष्टुं लिङ्गं भृङ्गीश्वराभिधम् ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं भृङ्गीश्वरसमुद्भवम् ॥ ६९ ॥
यः शृणोति नरः श्रेष्ठः श्रीशम्भोर्विजयं शुचिः ।
श्रद्दधानः सदा भक्त्या सर्वैनोभिः स मुच्यते ॥ ७० ॥
मनःशुद्धिविहीनत्वात् समस्तं कर्म निष्फलम् ।
ब्राह्मणं पूजयित्वा च भूषणाच्छादनादिभिः ॥ ७१ ॥
लभते तत्तदेवाशु प्रसादाच्छङ्करस्य च ।
द्विजो विद्यामवाप्नोति वर्षादर्वाङ्न संशयः ॥ ७२ ॥
अस्य श्रवणमात्रेण क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
महतीं श्रियमाप्नोति नरेन्द्रेण सुदुर्लभाम् ॥ ७३ ॥
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं महापातकनाशनम् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्यात् महाधर्ममवाप्नुयात् ॥ ७४ ॥

सूत उवाच—

श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं शूद्रः सद्गतिमाप्नुयात् ।
इति नेपालमाहात्म्यं मार्कण्डेयस्तपोधनः ॥ ७५ ॥

तथा कविश्रेष्ठ—कविराज हो जाता है। वन्ध्या भी नित्य दर्शन करनेसे गर्भवती हो जाती है ॥ ६३–६७ ॥ भृंगीश्वरकी सेवासे दरिद्र धन पाता है। आज भी भृंगीश्वर भौंरेके रूप में पर्व-पर्वपर भृंगीश्बर दर्शनार्थ आते हैं। इस भृंगीश्वर उत्पत्तिवाले अध्यायको श्रवणकर जो नर शम्भुविजय श्रद्धाके साथ सुनता है। वह पापोंसे रहित हो जाता है ॥ ६८–७० ॥ मनकी शुद्धि न होनेसे सब कार्य निष्फल होते हैं। अतः श्रद्धासे वस्त्र-भूषणसे, ब्राह्मणोंकी जो पूजा करता है। वह शंकरजीके प्रसादसे मन चाहा फल पाता है। ब्राह्मण एक वर्षमें ही—वर्षके भीतर ही। विद्या प्राप्त कर लेता है। ॥ ७१–७२ ॥ इस भृंगीश्वरकी कथा श्रवणसे क्षत्रिय विजयी होता है और नरेन्द्रसे भी दुर्लभ लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ ७३ इस महापातक नाशी पुण्य अध्यायको श्रवणकर वैश्य महाधर्म पाता है तथा धन धान्य पूर्ण हो जाता है ॥ ७४ ॥ इस पुण्यप्रद अध्यायको श्रवणकर शूद्र भी सद्गति पाता है। इस प्रकार द्विजाति हितार्थ नेपाल माहात्म्य कहकर

कथयित्वा द्विजातिभ्यः सायंसन्ध्यामुपासितुम् ।
ययौ शिष्यगणैः सार्धं विभावसुरिवापरः ॥ ७६ ॥
अन्येऽपि मुनयः सर्वे ययुः सन्ध्यामुपासितुम् ।
इदं नेपालमाहात्म्यं गुह्यमत्यन्तदुर्लभम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन धार्मिकाय प्रकाशयेत् ॥ ७७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे हिमवत्खण्डे नेपालमाहात्म्ये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

तपोधन श्री मार्कण्डेय मुनि सायं सन्ध्याकी उपासना करनेके लिये शिष्यगणों के साथ ऐसे शोभित होते हुए चले जैसे सूर्य भगवान् ही देवोंके साथ जा रहे हों। अन्य सब मुनिगण भी सन्ध्या करनेके लिये चले गये। इस रीतिसे गोप्य दुर्लभ नेपाल, माहात्म्यका वर्णन समाप्त हुआ। इसे धार्मिकोंके आगे वर्णन करना श्रेयस्कर है। अधार्मिकोके आगे नहीं।

टिप्पणी

"गयातीर्थात् समागत्य" का अर्थ है। "गयातीर्थ से (बुद्धत्व) प्राप्तकर"। जब गौतमबुद्ध भगवान् नेपाल आये।

जिन पुस्तकोंमें "महाचीनात् समागत्य" ऐसा पाठ है। उसका अर्थ कुछ जन ऐसा करते हैं—चीन राष्ट्रसे लौटकर नेपाल आकर।

'महाचीनात् समागत्य' का दूसरा अर्थ है—महा=विशाल, चीन=ज्ञान—अर्थात् विशाल ज्ञान (गया तीर्थसे) प्राप्त करके। तीसरा अर्थ है—महाचीनात्=महा-निर्वाणसे—अर्थात्—घनघोर तपकर मृत्युको जीतकर।

इस विषयमें निम्न गाथाएँ ज्ञातव्य हैं—

(१) कुछ लोगोंके मतसे गौतम बुद्ध बुद्धत्व प्राप्त करके नेपाल गये। उस समय उनकी ख्यातिपर मुग्ध होकर तदानीन्तन चीनराष्ट्रके अधिपति सैकड़ों चीन निवासियोंके साथ नेपाल आये और बौद्धधर्ममें दीक्षित होकर अपने देशमें जाकर बौद्धधर्मका प्रबल प्रचार किया। (२) कुछ लोग कहते हैं—नेपालसे चीनाधिपतिके आग्रहपर गौतमबुद्ध भगवान् चीनदेश प्रचारार्थ गये और सफल हुए। (३) कुछ लोग कहते हैं कि गौतमबुद्धने अपने शिष्योंको प्रचारार्थ भेजा और वे शिष्य, चोनदेशमें, सफल रहे। (४) कुछ लोग कहते हैं कि, गौतमबुद्ध कभी भी चीन नहीं गये न उन्होंने शिष्य भेजे। चीनवाले स्वयमेव नेपाल आकर उनकी शिक्षाको लेकर अपने देश गये तथा प्रचार किया। चीनके अधिपति नहीं आये थे।

उपर्युक्त गाथाओंसे सिद्ध है कि, बुद्धभगवान्‌के सामने ही बौद्धधर्म चीनमें फैल गया था। इस विषयमें एक कथा और विचारणीय है—

जब हिमालयमें—नेपाल आदिमें—देवगण प्रत्यक्ष रहते थे। तब पृथ्वीके सब राष्ट्रोंके लोग—जो राष्ट्र उस समय थे उनके लोग—हिमालय-नेपाल आते थे। यह क्रम राजा दिवोदासतक जारी रहा। राजा दिवोदास गौतम बुद्धके पश्चात् हुए हैं। अतः जब गया तीर्थसे, विशाल ज्योति (ज्ञान) से, सम्पन्न होकर भगवान् बुद्ध नेपाल (हिमालय) गये हों। उस समय चीन-जापान आदिसे लोग उनके समीप एकत्र हुए हों तथा बुद्धजीसे ज्ञान अर्जनकर अपने देशोंमें जाकर प्रचार किया हो।

यह बात तो सर्वथा पुराणोंसे सिद्ध है कि देवगण हिमालय—नेपालमें रहते थे तथा पाल या कुरुजांगल, या श्लेष्मान्तक वनका डंका सारे विश्वमें बजा था। किं बहुना,ने

नेपाल—हिमालय—पर ही सब जन आते थे। नेपालवासी—हिमालयवासी—उस समय कहीं नहीं जाते थे। देवोंके अदृश्य होनेपर जब नेपालका ह्रास हुआ तब नेपालवासी चीन आदि जाने लगे। कुछ कालके पश्चात् स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गयी आजकल नेपाल विश्वका एक स्वतंत्र राष्ट्र है तथा आर्यत्वका प्रतीक है।

यह विषय अति गम्भीर है अतः ऐतिहासिक लोग ही इसे समझ सकते हैं—जिन्होंने पुराणोंके अध्ययनके साथ इतिहासका समुचित ज्ञान किया है। वे लोग इसे पूर्णतया जान सकते हैं।

पुराणोंके आधारपर यह भी उपलब्धि है कि, जब हिमालय-नेपालमें देवगण रहते थे तब विशिष्ट जनके प्रयाससे लोग वहाँपर जा सकते थे किन्तु, निवास नहीं कर सकते थे—

अर्थात् जहांतक देव सीमा थी वहाँपर कोई मानव नहीं रह सकता था केवल अपने कष्ट निवारणार्थ दिनमें—नियत समयपर जा सकता था। और देवगणोंसे प्रार्थना कर सकता था।

परिशिष्ट

'नेपाल' अथवा नेमिपालकी व्युत्पत्ति।

(१) न्=नरोत्तम। आ=ब्रह्मा। ई=ईशानः [महादेवजी] [न्+आ+ई=ने] 'ने' से पालित=नेपाल।

(२) न्=नरोत्तमः। आ=आदित्यः। ई=ईशानः। म्=मोदकप्रियः। इ=शक्ति [देवी]

[न्+आ+ई+म्+इ=नेमिः] ''नेमि'' पालित=नेमिपाल [नेपाल महात्म्यके अनुसार इस देशका नाम नेपाल है]

'ने' अथवा 'नेमि' महोदय कुछ लोगोंके मतानुसार नेपाल साम्राज्यके मन्त्री थे। अन्योंके मतसे यह मुनि थे तथा महाभारतके कालसे कलियुगके आरम्भकालतक अति दीर्घजीवी होकर समाधिस्थ हुए हैं। कहते हैं कि इनके समयमें नेपालके तीन नाम हुए। १. कुरुजांगल। २. श्लेष्मान्तकवन। ३. नेपाल। नेपाल नाम इन्हींकी स्मृतिका परिचायक है। ने अथवा नेमि मुनि पञ्चदेवके उपासक थे नित्य पञ्चदेवकी पूजा करते थे। उक्त 'ने' मुनिमें—ब्रह्मा, विष्णु-महेश त्रिदेवोंका विशेष तेज था। इन्हें साक्षात् शंकरजीने आकर वरदान दिया था। ''तुम इस क्षेत्रके अधिपतिरूपमें निवास करो।'' कहते हैं कि नित्य प्रातः गौएँ स्वयं आकर पूजार्थ दुग्धदानार्थ उपस्थित हो जाती थीं। नेपालमें पञ्चदेवोपासना अभी भी होती है।

[पञ्चदेवगण—१. गणेशजी। २. अम्बिकाजी। ३. विष्णुजी। ४. शंकरजी। ५. सूर्यभगवान्।]

शाक्तसंगमतन्त्रमें नेपाल वर्णन

''जटेश्वरं समारभ्य योगेशान्तं महेश्वरि।
नेपाल देशो देवेशि, साधकानां सुसिद्धिदः॥''
''आर्यावर्त्तः पुण्यभूमिः मध्यं विन्ध्यहिमालयोः।''

इन अमरसिंहजीके वचनोंसे भी नेपाल पुण्यभूमि है ही। उस नेपालका वर्णन कई पुराणमें है। अतः 'नेपाल' कहना भी तीर्थमय है।

नेपालभ्रमण

नेपाल भ्रमणार्थियोंको चाहिए कि पहले नेपालकी राजधानी काठमांडू जायें—वहांपर वाङ्मतीमें स्नान करके पशुपतिका दर्शन करें। पशुपति मन्दिरमें दर्शन करते समय उच्च नंदीका भी दर्शन करें। ऐसा नंदी (नादिया) अन्यत्र अप्राप्य है।

पशुपति मन्दिरमें जो शिवजी हैं। उनके विषयमें ऐसा सुना जाता है कि, प्रातः स्नानमें उनसे बाष्प (भाप) निकलती है। कुछ लोग कहते हैं कि, यह गन्धककी भाप है जो उस प्रदेशमें नीचे वर्त्तमान है—अर्थात् गन्धकके पहाड़पर पशुपतिजी स्थित हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पशुपतिजी श्वांस द्वारा नन्दी आदिको वनगमनार्थ संकेतित किया करते हैं—क्योंकि चौपाये प्रातः वनमें जाते हैं। अतः वन गमनार्थ उन्हें उद्बोधित करते हैं। लिंगपुराणमें ५७ श्लोकमें पशुपति भगवानका वर्णन है। भ्रमणार्णियोंको काठमाण्डूके सब मन्दिर देखकर—भात गाँव तथा पाटन गाँव अवश्य जाना चाहिए। ये दोनों स्थान अति सुरम्य तथा वास्तुकलासे परिपूर्ण हैं। तीनों नगरोंमें लकड़ीके काम अभूतपूर्व हैं जिन्हें अच्छी तरह देखना चाहिए। काठामांडूके कुछ मदिरोंमें नग्नमूर्तियाँ ऊपर बनी हैं उन्हें अवश्य देखना चाहिए—इन्हें लोग कहते हैं कि, इन मूर्तियोंसे बिजलीका प्रकोप नहीं होता—अर्थात् मेघगर्जनसे जो बिजली उत्पन्न होकर गिरती है—वह इन मूर्तियोंके कारण नहीं गिरती। जिससे मन्दिरकी क्षति नहीं होती, जो भी हो। क्या सत्य है, क्या असत्य है, ईश्वर जाने। तन्त्रशास्त्रानुसार इन नग्नमूर्तियोंसे युक्त मन्दिरका ऐश्वर्य सदा स्थित रहता है और भी अनेक लाभ वहाँ तन्त्रमें लिखे हुए हैं। अवर्षणके समय पशुपति मन्दिरमें जल भरनेसे वृष्टि होती देखी गयी है—इसमें सन्देह नहीं है।

गुह्येश्वरी मन्दिर अति स्तुत्य मन्दिर है यहाँपर महादेवजीकी पत्नी सती माताका टेहुना गिरा था। यहाँपर दुर्गापाठसे तत्काल सिद्धि होती है।

तन्त्रशास्त्रकी प्रबलता

नेपाल ऐसी, तन्त्र शास्त्रकी प्रबलता, अन्यत्र नहीं है। यद्यपि कामरूप कामाक्षामें भो तन्त्रकी प्रबलता है पर नेपाल सदृश नहीं है। नेपालका तन्त्रशास्त्र—"मणि-मन्त्र-महौषधि" से भरपूर है। अतः यहाँके पुस्तकालयमें अलभ्य तन्त्रशास्त्रकी पुस्तकें हैं जो अन्यत्र सर्वथा अप्राप्य हैं। नेपालकी राजभवनोंकी काठकी सोपानोंकी पंक्ति केवल शोभार्थ नहीं है—तन्त्रशास्त्र विहित लोक हितार्थ है।

अन्य ज्ञातव्य वार्ता

यहाँकी भातगाँवकी प्रसिद्ध नागपोखरी (नागह्रद) की कहानी इस तन्त्रका ज्वलन्त उदाहरण है। कथा प्रसिद्ध है—एक प्रकाण्ड तान्त्रिकने अपनी पत्नीके बड़े आग्रह पर—अपनी पत्नी को मन्त्रमुक्त अक्षत देकर कह दिया था कि, प्रिये, तुम्हारे कहनेपर मैं सर्परूप धारण करता हूँ किन्तु जब मैं शिर हिलाऊँ तब तुम अक्षत फेंक देना तो मैं पुनः अपने स्वरूप में हो जाऊँगा। पत्नीने स्वीकार कर लिया परन्तु, जब उन्होंने सर्परूपमें अपने पतिको देखा तब दौड़कर भाग गयीं। वेचारे तान्त्रिक-सर्परूपमें वहीं पर स्थित नागपोखरीमें कूद पड़े तथा कुछ दिन उसीमें पड़े रहे। पुनः एक तांत्रिकने उन्हें नवजीवन दिया।

मन्त्रकी विशेषता

नेपालमें मन्त्रकी विशेषता पदे-पदे है। उसमें एक घटना आपके समक्ष उपस्थित करता हूँ। जब भीष्म पितामहने, शर शय्यापर स्थित अवस्थामें, जल मांगा। तब अर्जुनने पातालगङ्गासे—मन्त्रयुक्त बाण मारकर पातालसे जल स्रोत प्रकट करके उन्हें जल पिलाया। उस कालमें श्रीकृष्णजी उनके साथ थे। अर्जुन उन श्रीकृष्णके विराट रूपको देख चुके थे। अर्जुनने देखा—जलस्रोतके साथ शिवलिंग भी नीचेसे आते हैं। जल तो अधिक ऊपर उछल जाता है शिवलिंग पृथ्वीपर आसीन हो जाते हैं अर्जुनने जब इसका रहस्य भीष्मपितामहसे पूछा तब उन्होंने उत्तर दिया— हे अर्जुन, ये शिवलिंग—बाणलिंग हैं। इनका दर्शन—पूजन अति श्रेयस्कर है तथा सद्यः फलदायक है। अर्जुनने कहा— बाणलिंगकी उत्पत्ति कई पावन नदियोंसे है। अतः यहाँपर उत्पन्न बाणलिंगके स्वरूपमें विशेषता होनी चाहिये—जिससे ये पृथक् मालूम पड़ें। भीष्मजीके संकेतपर श्रीकृष्णजीने कहा "हे अर्जुन—यहाँपर उत्पन्न बाणलिंगमें देदीप्यमान प्रकाश स्नानके समय दीखेगा, यज्ञोपवीत चिह्न भी लम्बे रूपमें—जैसे लम्बे रूपमें लोग यज्ञोपवीत धारण करते हैं, उसी रूपमें रहेगा। अन्यत्र बाण लिंगोंमें यज्ञोपवीतका चिह्न बेड़े-बेड़े रहेगा। यहाँ पर बाणलिंग कई रंगके होंगे—किन्तु वे जिस रंगके होगे उसी रंगका यज्ञोपवीत उनमें रहेगा जो इन्हें पुरुषसूक्तसे दुग्ध मिश्रित जलसे स्नान करायेगा—वह यदि भिक्षुक भी होगा तो धनवान् हो जायगा।" लक्ष्मीप्राप्तिमन्त्र, सरस्वतीमन्त्र नीलसरस्वतीमन्त्र, कालीमन्त्र [नेपालमें नीलसरस्वतीका मन्दिर है] तो अति प्रसिद्ध हैं ही। उन मन्त्रोंकी उपासना—दीवाली, शिवरात्रि तथा कृष्णाष्टमीसे प्रारम्भ, वहाँपर, तान्त्रिकगण करते हैं।

मणिका प्रभाव

मणिका प्रभाव नेपालमें अभी भी अधिक है। अमुक ज्वरमें अमुक रोगमें, अमुक मन्त्रके साथ अमुक मणि धारण करनेसे अमुक रोग नष्ट होता है। अभी भी नेपाली विद्वान् मणिके प्रभावको अच्छी तरह जानते हैं। कथा प्रसिद्ध है—एक विदेशी दम्पती नेपाल गये थे। वहाँ, उनमें पुरुष (पति) वनमें प्रति वृक्षकी एक-एक पत्तोका स्वाद लेते घूम रहा था—आश्चर्य, एक वृक्षकी पत्ती खाकर वह सर्प बन गया। इतनेमें ही भाग्यसे एक मणिमन्त्र प्रभाववेत्ता वहाँ आगये। उन्हें देखकर वह विदेशी महिला रो पड़ी और सामने स्थित सर्प दिखाया। मणि प्रभाववेत्ता—यद्यपि उसकी भाषा न समझ सके पर संकेतसे और सर्पके भयावह न होनेसे परिस्थिति ज्ञात कर ली। अन्तमें उन्होंने मन्त्रयुक्त मणि प्रक्षिप्त कर उस सर्पको पुनः अपने स्वरूपमें ला दिया। नेपालकी मणि मन्त्र शक्ति अद्भुत है।

(प्राचीन बूढ़े नीलकण्ठ)

नेपालमें काठमांडू नगरसे प्राय: छ.मील दूर शिवपुरीमें सुन्दर तालाबमें भगवान् विष्णुकी विशालमूर्ति शयनावस्थामें स्थित है। यह मूर्त्ति बड़ी भव्य एवं मनोरम है। इसकी, तालाबके जलमें, अनूठी छटा दिखायी देती है—इस मूर्त्तिकी छाया जलमें ऐसी भली दीखती है। मानो दूसरी विष्णुमूर्त्ति ही जलमें नीचे स्थित है। इस मूर्तिमें शिवजीके तुल्य सर्पगण उनके बाहु आदि प्रदेशोंमें आभूषणरूपमें बने हुए हैं तथा माथेपर सूक्ष्म त्रिपुण्ड (भस्मकी सूक्ष्म त्रिरेखायें) दीख पड़ती हैं। कहते हैं—जैसे 'नेमुनि' विष्णु तथा शंकरको ऐक्यभावसे मानते थे। उसी भावको अधिक स्पष्ट करते हुए इस मूर्त्तिका आविर्भाव हुआ हैं। मूर्त्तिका रंग नीला (हल्का) है—अत: साक्षात् विष्णु भगवान् जल शायी प्रतीत होते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि, 'ने' मुनिके पश्चात् एक नरेश भक्ति भावसे पूर्ण होकर नग्नपाद नित्य अपनी राजधानीसे यहाँ पूजनार्थ प्रात: पालकीपर आते थे। ग्रीष्म कालमें लौटते समय उन्हें घामसे पीड़ा हो जाती थी—क्योंकि वे नित्य उस मूर्त्तिका पूजन—साक्षात् विष्णुरूपमे; करते थे। तथा पशुपति मन्दिरमें शिवस्तवन वहाँ से आकर करते थे। एक दिन, रात्रिमें स्वयं स्वप्न हुआ कि, राजन्, तुम दूसरी मूर्त्ति राजधानीमें बनवाकर पूजन करो। अधिक कष्ट न करो। तब राजाने दूसरी विष्णु मूर्त्ति राजधानीमें बनवाकर पूजन आरम्भ किया। कुछ समय पश्चात्—अनेक जनश्रुतियाँ चल पड़ीं। आजकल जो जनश्रुति प्रसिद्ध है। वह यह है कि, नरेश भी विष्णुके अवतार हैं और वह मूर्त्ति भी विष्णुकी है। इस कारणसे नरेशने मन्त्रियोंके परामर्शसे प्राचीन नीलकण्ठ जाना छोड़ दिया। अर्वाचीन नीलकण्ठ भी दर्शनीय हैं तथा मनोहर छविसे परिपूर्ण हैं। यह मूर्ति भी दर्शनीय है।

[स्व० पं० कुलचन्द्र गौतमके मुखसे सुनी गयी गाथा]

चरणपादुका स्थल

काशीकी भाँति नेपालमें भी चरणपादुका स्थल बना है। यहाँपर राजवंशके शव जलाये जाते हैं। शास्त्रानुसार विष्णुचरणपर शवदाहसे विष्णुलोककी प्राप्ति होती है। इस स्थानका दर्शन भी परम पावन माना जाता है।

टूड़ीखेलका मैदान

टूड़ीखेलका मैदान नामक स्थान परमरम्य है। यह मैदान ६ मील लम्बा है। यहाँ अनेक प्रकारके क्रीड़ास्थल हैं। राजकीय—सार्वजनिक सभा महोत्सव यहींपर सम्पादित होते हैं।

हनुमान ढोका

यहाँपर हनुमानजीकी मूर्त्ति विशालमुद्रामें स्थित है। यह भी दर्शनीय स्थान है। इसकी गरिमामें इतना ही कहना पर्याप्त है कि, ये हनुमानजी, पशुपतिके एक द्वाररक्षक,

इस निमित्त हैं कि पशुपति श्रीरामचन्द्रसे पूजित हैं—शंकर भक्त हैं—नगरमें कई द्वार होते थे—उनमें एक द्वारपर ये स्थित हैं ।

भक्तिभाव

नेपालमें लोग इतने धार्मिक हैं कि, सड़कपर यदि पीपलका वृक्ष स्थित है तो उसकी परिक्रमा दाहिनी ओरसे करके जाते हैं । प्रायः ९५ प्रतिशत नेपाली बालकोंके यज्ञोपवीत संस्कार—५-७ वर्षकी अवस्थामें हो जाते हैं । नेपाली रमणियाँ शालग्रामको नहीं छूती हैं—क्योंकि स्त्रियोंका शालग्राम पूजन निषेध है ।

द्वितीय पशुपति

भातगाँवमें द्वितीय पशुपतिका स्थान भी परमरम्य है । इनके दर्शन श्रेयस्कर हैं । ये पशुपति प्राचीन पशुपतिके तद्रूप हैं ।

पुस्तकालय

नेपालके पुस्तकालयोंमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—प्राचीन ग्रन्थोंका इस प्रकार एकत्रीकरण अति दुर्लभ है । पुस्तकालयोंके भवन भी काष्ठकलाके मोहक रूप धारण किये हुए हैं । नेपालके तीनों नगर—काष्ठमण्डप (काठमांडू) पाटन तथा भातगाँव काष्ठकला से परिपूर्ण हैं । अन्यत्र ऐसी काण्ठकला दर्शनीय क्या श्रवणीय भी नहीं है । ये सब भवन वास्तु कलाके नियमोंसे परिपूर्ण होते हुए तन्त्रशास्त्रानुकूल है इन्हें देखनेपर काष्ठकलाका ज्ञान सजीव हो जाता है ।

बौद्धतीर्थस्थान

काठमाण्डूमें स्वयम्भूनाथ बौद्धनाथतीर्थ बौद्धोंके प्रसिद्ध तीर्थ हैं । इनकी सजावट-बनावट लोकोत्तर है । इन दोनों स्थलोंका ज्ञान यात्रियोंको करना चाहिए । इनका वर्णन करना—एक छोटी पुस्तकके रूपमें हो जायगा । अतः केवल दिग्दर्शन करा दिया है ।

शालग्रामस्थल

नेपाल स्थित कृष्ण गण्डकी वा शुक्ल गण्डकीसे उत्पन्न शालग्राम ही पूज्य हैं । इसी गण्डकीका नाम आजकल नारायणी हो गया है । नेपालमें शालग्रामको लोग नारायण भी कहते हैं । इसीसे इसका नाम नारायणी हो गया है । यही नारायणी (कृष्ण वा शुक्ल गण्डकी) जनकपुर (मिथिला) में आकर पुनः गण्डकी नामसे प्रसिद्ध हो गयी है । विश्वकी अन्य नदियोंसे निःसृत शालग्रामके सदृश पाषाण सर्वथा अपूज्य हैं । यथा—स्वातीमें वर्षित मेघजल समुद्रकी सीपियोंमें ही मुक्ता होता है । अन्य नदियोंकी सीपियोंमें पड़नेसे मुक्ता नहीं होता है । अतः गण्डकीके ही शालग्राम ग्राह्य हैं । यह शास्त्रोंका मत है ।

[गण्डकी नदी हिमालयके उच्च शृंगसे निकलकर हिमालयके मध्य स्थित नेपालमें आजकल नारायणीरूपमें बहती हुई—मिथिलामें पुनः गण्डकी स्वरूपमें होती हुई गंगामें—हरिहरक्षेत्रमें—मिली है ।]

चंग नारायण (चंगुनारायण)

भातगाँव (भक्तपुर) के उत्तर दोलागिरिपर्वतके शिखरपर श्री आदि नारायण भगवान् चंगनारायणका मन्दिर है । यह भातगाँवका सबसे प्राचीन मन्दिर है । इसका नाम चंगनारायण संस्कृत भाषासे शुद्ध नाम है कुछ कालके पश्चात् जब संस्कृका ह्रास हुआ और वहाँ नेवारी भाषा पनपी तब इसका नाम चंगुनारायण हुआ । संस्कृतके "नामैकदेशी नामग्रहणम्" के अनुसार—चं=चम्पक । ग=गहनं (वनम्) के अनुसार—चम्पकवनका सूक्ष्मरूप 'चंग' है । वही नाम नेवारीमें वा अपभ्रंशमें "चंगु" हुआ । चंगनारायणका अर्थ है–-

चम्पकवनके नारायण

कुछ लोग आजकल दोलापर्वतका दूसरा नाम चंगनारायण या चंगुनारायण कहते हैं—वे सर्वथा भ्रममें हैं । इन चंगनारायण का दर्शन पुण्यकर है । मैं इस नेपाल महात्म्य के दूसरे संस्करणमें इस पुस्तकमें आये हुए सभी देवोंके तथा सभी नदियोंके एवं स्थलोंके नाम संस्कृतसे शुद्ध रूपमें बतला दूँगा—नेपाल ऐसे पावनस्थलमें पहले संस्कृतेतर नाम नहीं होते थे । अपभ्रंशादि नाम बाद में प्रचलित हुए हैं ।

वाराहक्षेत्र (शूकर क्षेत्र)

वाराह क्षेत्र (शूकर क्षेत्र) नेपालराज्यके मोरंग जिलेमें हैं । यह सप्तकोशी और और कोकहा नदियोंके संगमपर स्थित है । यहाँ वराहभगवान्‌का विशालमन्दिर है । कहते हैं—जब वराह भगवान् शूकरकारूप धारणकर पृथ्वीको पातालसे ऊपर जलमें तथा जलसे बाहर—स्थलरूपमें ले आये तब वे अपना परिश्रम उक्त स्थलपर आकर दूर कर रहे थे । अतः उसी स्थलपर आजकल वह मन्दिर प्रसिद्ध है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने यहींपर अपने मामा (गुरु) श्री नरहरिदाससे रामायणकी कथा श्रवण की थी । कथा प्रसिद्ध है कि, श्री नरहरिदास, गंगोलिया गोस्वामी तुलसीदास दोनों गृहस्थाश्रमी सनाढ्य थे–गंगोलिया उपाधि सनाढ्य ब्राह्मणोंमें ही होती है । भविष्यत्पुराणमें "सनाढ्यसंहितामें" गंगोलिया उपाधिका वर्णन है । यद्यपि आजकल गंगोलिया उपाधिधारी सनाढ्य लुप्तप्राय हैं—पर यह उपाधि सनाढ्योंमें ही थी—अन्यत्र नहीं प्रचलित थी । कहते हैं नरहरि-दासजी एक बार थोड़े समय के लिये अपने दूरस्थ भानजे गोस्वामी तुलसीदासको अपने साथ शूकरक्षेत्र जो उस समय दुर्गम स्थान था ले गये थे और वहाँ उन्हें रामकथाकी शिक्षा दी थी । नरहरि दासजी वाराहप्रभुके उपासक थे । एक बार प्रभुने उनसे वर माँगनेको स्वप्नमें कहा—तब उन्होंने प्रभुसे अपने शिष्य द्वारा रामकथाका (भाषामें) वर्णन लेखन मांगा । प्रभुने स्वीकार कर लिया । ततः उन्होंने अपने शिष्य गोस्वामी तुलसीदासजीको रामकथा भाषामें सुनायी । वही वहाँ सुनी कथा तुलसीदासजीने वहाँसे आकर रची जो लोक प्रसिद्ध है । आज भी वहाँ शूकरक्षेत्रमें मेला लगता है । कार्तिक पूर्णिमाको लोग वाराह क्षेत्र जाते हैं और भगवान्‌के दर्शन करते हैं ।

वामन-तीन अक्षरोंके—१८२ अर्थसंस्कृतसे शुद्धरूपमें, शास्त्रसम्मत अर्थ प्रकट करने वाले स्व० पूज्य पं० उमानाथजी नेपाली विद्वान्‌के मतसे भी पुराणान्तर्गत वाराह क्षेत्र यही है—वे इस बातपर सहमत थे ।

गोस्वामी तुलसीदासजी सनाढ्योंमें प्रचलित गोस्वामी उपाधिधारी थे । सनाढ्योंमें ही गोस्वामी उपाधि होती है । गौड़ विप्रोंमें जो गोस्वामी उपाधि होती है । वह विशेष सम्प्रदायाचार्योंकी होती है जैसे—माध्वगौडीय सम्प्रदायके आचार्य स्व० श्री गोस्वामी दामोदरलालजी महाराज षट् शास्त्री आदि । पञ्च गौड़ोंमें गोस्वामी उपाधि अन्य विप्रोंमें बंगालियोंको छोड़कर नहीं होती है । गोस्वामीजी संन्यासी भी नहीं थे । क्योंकि 'वन' 'सागर' पर्वत आदि दशविध संन्यासियोंकी उपाधि उनके नामके साथ कभी नहीं जुड़ी । वे सदा धवल वस्त्रधारी थे । कुछ लोगोंने उन्हें गेरुआ वस्त्रधारी चित्रमें दिखाया है । किन्तु, उस समय गेरुआवस्त्र केवल दशविध संन्यासी तथा कुछ—रामानुज सम्प्रदायके अन्तर्गत वैरागीगण धारण करते थे—अन्य नहीं । गोस्वामीजी सदा गृहस्थ थे स्त्रीके मरनेपर कुछ लोगोंके अनुसार स्त्रीके सत्परामर्शसे विरक्त अवश्य हो गये थे यद्यपि पञ्च द्राविड़ोंमें भी गोस्वामी उपाधिवाले विप्रगण होते हैं किन्तु, यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि गोस्वामी तुलसीदास पञ्चद्राविड़ नहीं थे । जो लोग मेरे मतसे सहमत नहीं हैं । उनसे मेरी प्रार्थना है कि, वे गोस्वामीजीको जैसा मानते हैं, माने । पं० बनारसीदास चतुर्वेदीके अनुसार 'मधुकर' पत्रमें वर्णित बुन्देलखण्डकी सीमामें बांदा जिला अवश्य परिगणित है । गोस्वामी तुलसीदास बांदा जिलाके ही निवासी थे ।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि गोस्वामी तुलसीदासके समयमें लोग प्रायः ५–१० कोशमें ही शादी-विवाह करते थे तथा गोस्वामीजीकी शादी भी प्राचीन बुन्देलखण्डमें हुई होगी । यही कारण है कि रामचरितमानसमें बुन्देलखण्डी शब्द प्रचुरतासे हैं ।

कुछ लोग नेपालके वाराहक्षेत्रको (शूकर क्षेत्रको) भिन्न क्षेत्र मानते हैं । उनसे मेरा निवेदन है कि, वे लोग न मानें किन्तु जो बात सत्य होगी वह प्रकृत्या कभी न कभी सत्य हो ही जायगी । एटाका शूकरक्षेत्र ही वे लोग मानें मुझे कोई आपत्ति नहीं ।

भविष्यत् पुराणके सनाढ्यसंहितामें सनाढ्योंकी ७५० उपाधियोंका श्लोकबद्ध वर्णन है । इतनी अधिक उपाधि अन्य किसी भी विप्रवर्गमें नहीं होती है ।

नेपाली प्रथानुसार सर्वप्रथम गुह्येश्वरीके दर्शनकर पशुपति भगवान्‌का दर्शन करना चाहिये ।

गोस्वामीजी यदि दशविध साधुमें होते तो वे शंकरजीकी ही स्तुति करते रामकी नहीं । क्योंकि, शास्त्रानुसार दशविध संन्यासी केवल शंकरजीको स्तुतिके अधिकारी हैं तथा उनके नामके आगे संन्यासी लिखना पड़ता 'गोस्वामी' नहीं । गोस्वामीजीने अशास्त्रीय कार्य न किया है न करनेके लिये किसीको प्रोत्साहित ही किया । विद्वानोंको इसपर सत्यनिष्ठापूर्वक विचार करना चाहिये । यदि गोस्वामीजी रामानुजसम्प्रदायान्तर्गत—वैरागी होते तो वे केवल रामकी ही भक्ति करते अन्यकी नहीं, उक्त प्रकारके जन केवल राम सीतादिको छोड़कर अन्य–गणेश–महेशकी उपासना तद्धर्ममतानुसार नहीं कर सकते ।

अतः सिद्ध है कि, गोस्वामीजी विरक्त–गृहस्थ थे तथा नित्य पञ्चदेवोपासक थे एवं पञ्चदेवोपासकोमें जैसे कोई गणेशप्रधान, कोई विष्णुप्रधान, कोई शिवप्रधान, कोई सूर्यप्रधान, कोई देवीप्रधान होते हैं उनमें वे विष्णु (राम) प्रधान पञ्चदेवोपासक थे । रामायणमें शुरूमें पंचदेवोंकी वन्दना है ।

गोस्वामीजी बुन्देलखण्डी ब्राह्मण थे—बुन्देलखण्डमें केवल सनाढ्य, जीझोतिया, भागोर ब्राह्मण उस समय थे और आज भी वे ही लोग वहाँ अधिकतासे पाये जाते हैं ।

इसी मोरंगके वाराह (शूकर) क्षेत्रका वर्णन महाभारतके वनपर्वमें अ० ८३-१८-१९ में है । ब्रह्मपुराणके अ० १२१-६९-८७ में है । इसी शूकर क्षेत्रका वर्णन गरुड़ पुराणमें है । कूर्मपुराणमें ४१-१४ में वर्णन है । अतः वाराह (शूकर) क्षेत्र यही है मोरंग (नेपालराज्य) का है । जहाँ तुलसीदासजीने रामकथा बालकपनमें सुनी थी ।

पुराणवाले क्यों बाराह (शूकर) क्षेत्र गलत लिखते—उन्होने जहाँ शूकर क्षेत्र था वहाँ वर्णन कर दिया—

बाणलिङ्गनिरूपण

बाणलिङ्ग अथवा नर्मदेश्वर यद्यपि पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु, सूक्ष्मतासे देखनेसे इनमें अन्तर है । नर्मदेश्वर केवल नर्मदा नदीसे उत्पन्न शिवलिङ्ग है जो नित्यप्राण-प्रतिष्ठित देवता हैं किन्तु, बाणलिङ्ग केवल नर्मदासे ही नहीं निकलते हैं । अपितु भारतकी सभी पवित्र नदियोंसे निकलते हैं । ये भी नित्य प्राणप्रतिष्ठित देवता हैं । नर्मदासे जो बाणलिङ्ग निकलते हैं । वे बाणासुरके द्वारा समुत्पन्न बाणलिङ्ग या बाणासुरके द्वारा पूजित तथा अविसर्जित ही, नर्मदामें प्रक्षिप्त, नर्मदेश्वर अथवा बाणलिङ्ग माने जाते हैं । कथा प्रसिद्ध है कि, [बाणासुरने एक बार शिवपूजा करके उनको विसर्जित न करके नर्मदामें फेंक दिया । वे पाषाण शिवलिङ्ग या बाणलिङ्ग माने जाते हैं । अर्थात्—प्रक्षिप्त बाणा-

सुरकी परम्परासे समुत्पन्न लिङ्ग, बाणलिङ्ग कहलाते हैं ।] सभी प्रकारके बाणलिङ्गोंके स्वरूप-लक्षण आदि प्रायः एक समान हैं—ऐसा हेमाद्रिग्रन्थ, वीरमित्रोदय प्रभृति ग्रंथोंमें वर्णित है । केवल उत्पत्तिस्थानमें अन्तर है—बाणलिङ्गकी उत्पत्ति, शास्त्रानुसार, अनेक स्थलोंमें होती है किन्तु, वर्त्तमानकालमें दो स्थान अति प्रसिद्ध हैं । ये हैं एक नर्मदा नदीसे (जबलपुरके पास ८ मील भेड़ाघाटमें) उत्पन्न होते हैं । द्वितीय स्थान नेपाल देशमें है । नेपालकी राजधानी काठमाण्डूसे ३० मील दूर—गुसाइँ थान नामक स्थानमें बाण-लिङ्ग उत्पन्न होते हैं । वहाँपर –गुसाइँ थानमें एक कुण्ड बना है जिसका नाम भीष्म-कुण्ड है । उस कुण्डमें पातालगंगाकी एक धारा पातालसे ऊपरकी ओर आती है । उसी धाराके साथ कभी-कभी बाणलिङ्गकी मूर्त्ति भी पातालसे ऊपर आ जाती है । यहाँके बाणलिङ्ग भी अन्य स्थलीय बाणलिंगके समान गंगोत्रीके जलसे तौलनेपर कभी भी समान नहीं होते घटी-बढ़ी दशामें ही रहते हैं । तराजूके दोनों पलड़े एक बराबर नहीं होते हैं । चैत्रमें गुसाईंथान–काठमाण्डू–नेपालमें विशाल मेला लगता है । सहस्रों नर-नारी स्नान करते हैं । यह मेला महाभारतके अन्तसमयसे लगता आ रहा है । यहाँपर लोग स्नान करके लौटते समयमें बाणलिङ्ग भी ले आते हैं तथा अपने गृहमें रखकर पूजन करते हैं—नित्य प्रसाद ग्रहणकर कृतकृत्य होते हैं । इस प्रसंगमें निम्नोक्त इतिहास पढ़ना उचित होगा—जब महाभारतका युद्ध हुआ था उस समय कुरुक्षेत्र नाम उस स्थानका था—जहाँ कौरव-पाण्डव युद्ध हुआ था । कुरुक्षेत्रके चारो ओर दूरतक—नेपाल–भूटानतककी भूमि भी कुरुजांगल नामसे प्रसिद्ध थी । उस कालमें धर्मपूर्वक, सत्यतापूर्ण युद्ध होता था । आजकलके आविष्कारोंसे अधिक क्षमतावाले—अस्त्र-शस्त्र, यान-विमान, स्थलयान, जलयान आदि थे । ऐसे-ऐसे स्यन्दन थे जो जल-स्थल, समतल विषम स्थल, आकाश आदिमें विना गड़बड़ीके आवागमन करते थे शिखण्डीके साथ युद्ध समयमें भीष्म पितामहने अस्त्र-शस्त्र रख दिये । उसी समय अर्जुनने उन्हें रथसहित शरोंसे ताड़ितकर काठमाण्डू–नेपालके समीप गुसाईंथानपर भगा दिया । महाभारतके बाद जब अर्जुन श्रीकृष्णके साथ उनसे गुसाईंथान शिक्षा लेने गये । उस समय भीष्मपितामहने अर्जुनसे जल पीनेके लिये मांगा । कहते है—सर्वान्तःकरणगामिनी देवी गंगाने अपने पुत्रकी यह मार्मिक व्यथा समझ ली तथा वे गंगाजो पातालगङ्गाका रूप धारणकर अर्जुन—वाणके साथ पातालसे एक स्रोतके रूपमें (धाराके रूपमें) गुसाईंथानपर आ गयीं । इसी गंगा धाराका पानकर गंगापुत्र भीष्मपितामह परितृप्त हो गये । उन्होंने वीर अर्जुनको आशीर्वाद भी दिया । उस समय उस स्रोतकी धारा कभी-कभी उनके मुखपर स्वयमेव भी आ जाती थी । यद्यपि अर्जुन चाहते तो पात्र आदिसे उन्हें जल पिला सकते थे किन्तु, यह सोचकर कि, पितामहको जीवनावस्थामें कष्ट नहीं होवे—इसी कारणसे शरसे पातालगंगाकी पवित्र धारा ला दी । प्राचीन कालमें इस धाराको कुछ लोग बाणगंगा भी कहा करते थे । उक्त धारासे निर्गत शिवलिंगको तो आजतक

बाणलिंग कहते हैं। वे लोग व्युत्पत्ति करते हैं--बाणात्=अर्जुनबाणात् प्राप्तं यत् लिगं तत् बाणलिंगम् तथा च बाणात्=अर्जुनबाणात् निःसृता या गंगा सा 'बाणगंगा'। नेपाल हिमालयका अंश है। हिमालय--देवभूमि मानी जाती है। अतः नेपाल तीर्थ-स्वरूप है। यहाँ स्थान-स्थानपर तीर्थ हैं। पवित्र-नद-नदियां हैं देवी-देवता हैं। गन्धर्व-किन्नर हैं। कालिदास प्रभृति कविवर भी इसके वर्णनमें चूके नहीं हैं--वर्णन करते हैं--

"अस्त्युत्तरस्याम्" इत्यादि।

नेपालसे बाहर अप्रसिद्धिका कारण

अब आप लोग यदि कहें कि, गुसाईंथान आजतक भारतमें सर्वजन प्रसिद्ध क्यों न हुआ? उसके मुख्य कारण निम्नरीत्या हैं--

१. नर्मदेश्वरकी भाँति अथवा शालग्रामकी भाँति बाणलिङ्ग केवल एक नदीसे तो प्राप्त नहीं, वे तो अनेक स्थलोंसे प्राप्त हैं। अतः भारतमें वे नर्मदा आदिसे ही प्राप्त कर लिये जाते थे। इसी कारण नेपाल जाकर बाणलिङ्ग कौन लावे-कौन वृथाका परिश्रम करे। "अक्के चेत् मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।"

२. महाभारतके बाद अनेक अस्त्र-शस्त्र, मन्त्र-तन्त्रकी जानकारी लुप्त हो गयी। अतः लोग यात्रा भीरु हो गये। नेपालके काठमाण्डू तो लोग जा सकते थे किन्तु, गुसाईं थान जाना पसन्द न करते थे। यदि पसन्द भी करते तो उन्हें साथी न मिलते। साथी भी मिलते तो भाषा आपसमें समझ न सकते थे क्योंकि हिन्दी—नेपाली भाषाका ऐक्य होनेपर भी क्लैष्ट्य है। धीरे-धीरे नेपालके बाणलिङ्गकी चर्चातक भारतमें समाप्तप्राय हो गयी केवल कुछ जानकारोंमें यह चर्चा रह गयी किन्तु, नेपालकी जनता अपने यहाँ प्रति वर्ष गुसाईंथान स्नानार्थ जाती थी और जाती है। उस समय नेपालकी राजधानी काठमाण्डू जाना भी अति कठिन था पासपोर्ट नहीं प्राप्त होता था। केवल ८ दिनके लिये पासपोर्ट, शिवरात्रिपर, प्राप्त होता था। काठमाण्डूका मार्ग भी बड़ा दुर्गम था। दो पर्वत 'नेगाले' और चन्द्रागिरि लांघने पढ़ते थे। यद्यपि कुशले चौरके मैदानमें यात्री-गण अपनेको भाग्यशाली समझने लगते थे। वहाँ झरनोंका कल-कल, बाँसोंकी हलचल) वादन-प्रवादन श्रवणकर यात्रीगण सहसा हर्षाधिक्यमें विभोर हो जाते थे।

३. गुसाईंथानकी यात्रा अब भी काठमाण्डूसे जानेमें भी दुरूह है। उस समयकी दुरूहताकी तो बात ही क्या। पासपोर्ट समाप्त हो गया, अब समयने पल्टा खाया है आज-कल काठमाण्डू नेपाल जाना उसी प्रकार सरल है। जिस प्रकार काशीसे जालौन जाना सरल है। अर्थात्—यात्रीगण पहले रेलसे रक्सौल स्टेशन जाते हैं। वहाँसे मोटरसे काठमाण्डू पहुँच ज ते हैं।

४. भारतमें बाणलिङ्ग सभी पवित्र नदियोंसे प्राप्त होनेका शास्त्रीय प्रमाण है। सम्भव है, इसी कारणसे, नर्मदा नदीसे, प्रधानतया बाणलिङ्गका उद्गम होनेपर भी, विशेषरूपसे कोई मेला, बाणलिङ्गके निमित्त, किसी विशेष दिनमें भी, नर्मदा तटपर नहीं लगता है किन्तु, नेपालमें चैत्रमें बाणलिङ्ग प्रीत्यर्थ गुसाईंथानमें लगता है।* यह मेला वहाँ हजारों वर्षोंसे लगता है। यह मेला नया नहीं है।

५. यह वार्ता भी प्रसिद्ध है कि भारतकी सभी पवित्र नदियोंमें प्रमुखतया नर्मदा नदीमें तथा नेपालके गुसाईं थानमें, एक साथ ही भगवान् श्रीकृष्णके कार्यकालमें बाण-लिङ्गका प्राकट्य हुआ। अर्थात्—बाणासुर द्वारा प्रक्षिप्त प्रस्तर, नर्मदामें बाणलिङ्ग हुआ तथा अर्जुनके शर द्वारा प्रादुर्भूत, पाताल गङ्गासे, उद्भूत लिङ्ग, गुसाईं थानमें बाणलिङ्ग हुआ। [अतः भक्तोंको भारतकी सभी पवित्र नदियोंके तथा गुसाईं थानके बाणलिङ्गका पूजन, अति श्रेयस्कर है।]

श्री ११०८ अद्वैतानन्दजी सरस्वती

ब्रह्मीभूत पूज्यपाद श्री अद्वैतानन्दजी महाराजका मैं सदा ऋणी हूँ जिन्होंने नेपालके बाणलिंग की परख बतलाः दी। उनकी कृपासे मुझे गोवर्धनेश संहिता जो अप्राप्य है उसका ज्ञान हुआ। जिससे सिद्ध होता है कि, गोवर्द्धनगिरिसे (वृन्दावन) उत्पन्न प्रस्तर नित्य प्राणप्रपिष्ठित विष्णु (कृष्ण) स्वरूप हैं। उन्हीं महाराजकी दयासे स्कन्द-पुराणान्तर्गत-काश्मीरखण्डमें स्थित बाणलिंगमीमांसाका विशद ज्ञान हुआ तथा स्कन्दपुराणान्तर्गत जालन्धरखण्डका भी बोध हुआ। जिससे हिंगलाज मण्डलके निश्चितपरिधिके प्रस्तर देवीस्वरूप, नित्य प्राणप्रतिष्ठित हैं। "नेपालके गुसाईंथानके बाणलिंग" सदा लम्बे रूपमें यज्ञोपवीत धारण किये रहते हैं एवं स्नानसमयमें अधिक चमकवाले दीखते हैं। बाबा अद्वैतानन्दजीकी जय।

नेपाले विपिने देशे भीष्मकुण्डं प्रतिष्ठितम्।
तत्रापि निःसृतं लिङ्गं बाणलिङ्गं प्रपूजितम्॥

[टिप्पणी—जनश्रुति प्रसिद्ध है कि, भगवान् गौतम बुद्ध तथा आद्य शङ्कराचार्य जब भिन्न-भिन्न समयमें नेपाल आये थे तो वे लोग भी इस स्थानमें स्नानार्थ-पूजनार्थ आये थे। उस समयमें पाताल गङ्गा क्रमशः धीमी धारमें तथा उन्नत धारमें हो गयी थीं। अधिकं किम्—आद्यशङ्कराचार्यपर तो आत्मविभोर होकर उनके शिरपर कुछ क्षणतक अभिषेक करती रहीं। धन्य गुसाईंथान ! धन्य बाणलिङ्ग !! धन्य आद्य शङ्कराचार्य !!!]
[सम्भव है, गौतम बुद्धजी चैत्रमें रामनवमीपर वहाँ गये हों और मेषसंक्रान्तितक वहाँ रहे हों। शायद इसी कारण यह मेला चैत्रमे लगना शुरू हुआ हो।]

यज्ञोपवीतसंयुक्तं लम्बमानं गुणान्वितम् ।
नेपालोद्भवतल्लिङ्गं बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम् ॥
स्नानकाले तु यल्लिङ्गं नित्यं नित्यं प्रदीपितम् ।
भीष्मकुण्डोद्भवं ज्ञेयं पूज्यं श्लाध्यं प्रशंसितम् ॥

[इति स्कन्दपुराणान्तर्गतकाश्मीरखण्डबाणलिङ्ग-मीमांसायां नेपालबाणलिङ्गनिरूपणम् ।]

१. भातगाँवमें निम्न स्थान दर्शनीय हैं—

उग्रचण्डादेवी । कालभैरव । कुमारी चौक । तुलजाभवानी । सदाशिव चौक । शाही दरबार । सिद्धपोखरी । सुन्नधाराका तालाब या पोखरा । पशुपतिनाथ (द्वितीय मन्दिर) । दत्तात्रेयका मन्दिर । सूर्यविनायककानन (वन) पूजा हरिमठ । नगरकोट । सल्लागढ़ी कुञ्ज । चंगनारायण मन्दिर—दोलागिरिपर । तोमड़ी टोल । इसके अतिरिक्त बौद्ध बिहार भी दर्शनीय हैं ।

२. पाटनमें दर्शनीय स्थल—

दरबार प्रांगण । कृष्णमन्दिर । विशाल बुद्धमन्दिर । हिरण्यवसु मन्दिर । मत्स्येन्द्र-नाथ और गोरखनाथके मन्दिर ।

३ काठमाण्डूमें—गुह्येश्वरीदेवी । पशुपतिनाथमन्दिर । जयवागीश्वरीमन्दिर वाग्वतीनदी । गोकर्णेश्वरमन्दिर । दरबार प्रांगण हनुमान् ढोंका । वसन्तपुर, दरबार । भीमसेनका धरहरा । मानगृह । कैलासकूट । इन्द्र चौक । शहरमें स्थान-स्थानपर राणाओंकी प्रस्तरमूर्तियाँ । सिंहदरबार शंकर मठ । प्रभृति ।

टिप्पणी—नेपालमहात्म्यमें केवल काठमाण्डू, भातगाँव, पाटन और समीपके ही देवी देवताओं, पर्वत नदी आदिका वर्णन है । किन्तु, हिमवत्खण्ड (स्कन्दपुराणमें) हिमालय सम्बन्धी देवोंका नदियोंका वर्णन है । काश्मीर खण्डमें बाणलिङ्गोंके वर्णनके समय नेपालके बाणलिंगका भी वर्णन है । कृष्णगण्डकी-शुक्लगण्डकीका भी विशद विवेचन उक्त काश्मीरखण्डमें विस्तृत है ।

द्रष्टव्य—कहते हैं जब आद्यशंकराचार्य नेपाल गये थे तब जिस स्थानपर पर्णकुटीमें एक मास रहे । वहींपर तदानीन्तन नरेशने मठ बनवा दिया जिसका नाम शंकर मठ है । उसी समय नरेशकी प्रार्थनापर पशुपतिपूजक दाक्षिणात्य विप्र रखनेकी प्रार्थनापर आद्यशंकराचार्यने शास्त्रविहित अपनी सहमति भी प्रकट कर दी । तबसे आजतक वही प्रथा अक्षुण्ण है ।

राजा दिवोदासके राज्यारूढ़के कुछ समयतक देवता गण वहाँ रहे । पश्चात् उनकी प्रार्थनापर देवगण अदृश्य हो गये । अतः नेपाल-हिमालयका वर्णन कोई भी पूर्णरूप से नहीं कर सकता ।

51